महात्मा गाँधी, डॉ॰ राम मनोहर लोहिया और पं॰ दीनदयाल उपाध्याय के विचारों के समाजवादी प्रकल्पों का तुलनात्मक अनुशीलन

"A comparative study of the socialist orientations of thoughts of M.K. Gandhi Dr. R.M. Lohia and Pt. D.D. Upadhyaya."

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ फिल्॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध – प्रबन्ध
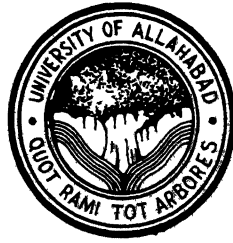
अनुसंधाता
विश्वामित्र पाण्डेय
दर्शनशास्त्र विभाग
इ॰वि॰वि॰, इलाहाबाद

निर्देशक
डॉ॰ हरिशंकर उपाध्याय
रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
२०००

पुरोवाक्

'स्वान्त सुखाय रघुनाथ गाथा' मेरे शोध–ग्रन्थ की सयोजन भूमि कोई बौद्धिक–व्यायाम मात्र नहीं और न ही अर्थोपार्जन की पूर्व–पीठिका है। मेरे शोध का विषय ही मेरे इस कथन के स्पष्टीकरण मे स्वयसिद्ध है। यदि मुझे अपने शोध कार्य की प्रेरणा और उद्देश्य को एक वाक्य मे कहना हो तो मैं इग्लैण्ड के **जॉन वनयन** के कथन को उद्धृत करना समीचीन समझता हूँ जो उन्होने अपने ग्रन्थ अपॉलॉजिया (Apologia) मे आलोचको को उत्तर देते हुए लिखा था – **"I did it for my own self to gratify"**

गोस्वामी तुलसीदास और **जॉन वनयन** के अनुभव से जुडने पर मेरा बहिर्मुखी मन अन्तर्मुखी हो गया। तैरना भी नहीं आता था तो भी कूद पडा ज्ञान–गगा मे और छटपटाहट मे हाथ ऊपर उठाया तो यह प्रबन्ध मेरे हाथ में था। किन्तु हॉ यह किनारा नहीं तैरने की प्रक्रिया का 'प्रारम्भ–बिन्दु' मात्र था।

जिस समय मैंने शोध की दृष्टि से यह विषय चुना तो वास्तव मे मेरे लिए एक चुनोती थी। किन्तु श्रद्धेय गुरुजी प्रो॰ सगमलाल पाण्डेय के उत्साहवर्धन एव सहयोग द्वारा ही मैं अन्तिम रूप से इस विषय को चुन सका। इस विषय के चयन का द्वितीय मूलकारण मेरी 'प्रकृति' थी जो इस विषय के अनुकूल थो। 'कार्य यदि प्रकृति के अनुकूल हो तो काम आसान हो जाता है जिससे कार्य की गुणात्मकता ओर परिणाम (उत्पादकता और उत्पाद) दोनो मे ही वृद्धि होती है।' अपने शोध कार्य के दौरान यह तथ्य व्यावहारिक रूप से ध्यान मे आया। विषय यदि प्रकृति के अनुरूप न रहा होता तो शायद यह कार्य अधूरा ही रह जाता।

समाजवादी आदर्शो एव मूल्यो मे ऐसी आकर्षण शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मैं भी इसके आकर्षण से अछूता नहीं रहा। इसके वर्गविहीन समाज, आर्थिक समानता शोषण मुक्त समाज और सर्वहारा के अधिनायक तन्त्र आदि आदर्शो से तो मुझे ऐसा लगा मानो मानव की आदर्श–समाज की स्थापना की चिरलालसा साकार हो जायेगी और धरती पर पुन रामराज्य की स्थापना हो जाएगी। इन आदर्शो से प्रेरित होकर मैंने समाजवाद की भारतीय परम्परा के अध्ययन का सकल्प किया जो इस **'शोध–प्रबन्ध'** "महात्मा गॉधी, डॉ॰ राम मनोहर लोहिया और प॰ दीनदयाल उपाध्याय के विचारो की समाजवादी प्रकल्पो का तुलनात्मक अनुशीलन" के रूप मे लिपिबद्ध होकर प्रतिफलित हुआ।

समाजवाद' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सेन्ट साइमन के विचारो मे मिलता है। राबर्ट ओवेन फोरे प्रूधो आदि अन्य विचारको ने इस विचारधारा को सॅवारा सजाया और इसके आधार पर समाज–रचना करने का प्रयास किया, किन्तु वे पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सके। कालान्तर मे 'मार्क्स का आविर्भाव हुआ जिनकी रचनाओ विशेषत 'दास कैपिटल मे इसका सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। मार्क्स ने समाजवादी विचारधारा को इतना अधिक प्रभावित किया कि मार्क्सवाद समाजवाद का पर्यायवाची बन गया और अल्पकाल मे ही आधी दुनिया पर समाजवादी शासन की स्थापना हो गयी। लेनिन के नेतृत्व मे अक्टूबर १९१७ ई॰ की रुसी–क्रान्ति से समाजवादी शासन की स्थापना के युग का श्रीगणेश हुआ और देखते–देखते १९५४ ई॰ तक मे हगरी यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया पोलैण्ड रुमानिया, चीन क्यूबा आदि अनेक देशो मे साम्यवादी शासन की स्थापना हो गयी तथा विश्व के अन्य देशो मे भी इस दिशा मे प्रयास चल रहा है। जहॉ अन्य प्रकार के शासन तन्त्र स्थापित हैं वहॉ भी समाजवादी आदर्श ही निर्देशक सिद्धान्तो के रूप मे कार्य कर रहे हैं।

इस विचारधारा के गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप शोधकर्त्ता इस निष्कर्ष पर पहुॅचा है कि जहॉ एक ओर समाजवाद ने समानता स्वतन्त्रता एव भ्रातृत्व आदि आदर्शो का प्रचार–प्रसार किया और पूॅजीपतियो तथा सामन्तो के चगुल मे फॅसी निरीह जनता को शोषण से मुक्ति प्रदान की और उन्हे मानव के रूप मे जीने का अवसर प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर रक्त–रजित क्रान्ति, वर्ग–सघर्ष और पारस्परिक विद्वेष जैसे मानवता–विरोधी अन्तर्विचार भी दिखाई पडे। परिणामस्वरूप सहजरूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या कोई ऐसा समाजवाद सम्भव है जहॉ उपर्युक्त दोषो का अभाव हो जहॉ समानता, भूतदया, दान, अहिंसा आदि सद्‌मूल्यो की स्थापना बिना किसी रक्तपात के सम्भव हो सके, और जहॉ मानव स्वतन्त्रता का दमन किये बिना अपने अधिकारो का उपभोग कर सके।

इन प्रश्नो का उत्तर खोजने के प्रयास मे शोधकर्त्ता महात्मा गॉधी डॉ॰ लोहिया और प॰ दीनदयाल उपाध्याय की ओर उन्मुख हुआ, जो व्यावहारिक एव आध्यात्मिक रत्नो के पुज हैं। इन सभी के चिन्तन मे भारत की उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार तथा मानव–जाति के हित के लिए आध्यात्मिक सन्देश निहित है। ये सभी नये समाज का निर्माण करना चाहते थे। इसलिए ये कहा करते थे कि – जब तक सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन नहीं होगा तब तक सामाजिक तथा आर्थिक न्याय अमानवीय ही रहेगे। पश्चिम के जितने सामाजिक चिन्तक हैं उनकी दृष्टि एकागी है। एकागी दृष्टि मानव तथा समाज का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकती। किन्तु उपर्युक्त भारतीय चिन्तक मनुष्य एव समाज के विभिन्न पक्षो यथा – बौद्धिक, मानसिक भौतिक एव आध्यात्मिक के पूर्ण समन्वय पर आधारित सतुलित जीवन को ही श्रेयस्कर मानते हैं।

मानव–विकास का मूलमन्त्र सहयोग है सघर्ष नहीं। साम्यवादी विचारधारा वर्ग–सघर्ष द्वारा समाजवाद की स्थापना की बात कहती है जबकि भारतीय चिन्तन–पद्धति वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्शो से अनुप्राणित होकर 'आकाश के नीचे एक परिवार' (under heaven one family) की परिकल्पना करती है। गॉधीजी का रामराज्य बहुत कुछ साम्यवादी व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करता है। गाधीवादी समाजवाद समाजधर्म है क्योकि वह क्रान्ति का नहीं विकास एव हृदय–परिवर्तन का, हिंसा का नहीं अहिंसा एव प्रेम और सद्भावना के मार्ग का प्रतिपादन करता है।

प्रख्यात समाजवादी चिन्तक डॉ॰ लोहिया ने जिन विषयो पर अपने समाजवादी आन्दोलन सगठित किये वे है – अँग्रेजी के प्रभुत्व के खिलाफ, जाति प्रथा के खिलाफ दिमागी जडता और गुलामी के खिलाफ नर–नारी समानता के लिए प्रयत्न दामो की लूट के खिलाफ शासक वर्ग की विलासिता के खिलाफ सादगी और कर्त्तव्य की भावना को जागृत करने के लिए प्रयास, किसानो के हितो को ध्यान मे रखते हुए कृषि विकास आन्दोलन आदि पर बल देना लोहिया जी के आन्दोलनो के मुख्य आयाम रहे है।

प॰ दीनदयाल उपाध्याय ने पूँजीवाद और पाश्चात्य समाजवाद दोनो को भारत के लिए अनुपयुक्त माना है। पाश्चात्य विचारक प्राय अतिवादी रहे हैं क्योकि उन्होने जीवन की किसी एक ही आवश्यकता पर अधिक बल दिया। फ्रॉयड ने केवल काम तथा मार्क्स ने 'अर्थ' को ही समस्त मानवीय व्यवहार एव सामाजिक सम्बन्धो का नियामक घोषित किया। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों भोगवादी सस्कृति पर आधारित रहे हैं तथा दोनो के मनुष्य की कल्पना "आर्थिक मनुष्य" की कल्पना है। पूँजीवाद का आधार "आर्थिक मनुष्य (Economic man) माना गया है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद ने "सामूहिक–मनुष्य (Mass man) की कल्पना की। दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्य का अमानवीकरण किया गया, दोनो ने मनुष्य को निर्जीव यन्त्र का पुर्जा बना डाला। मनुष्य के समग्र रूप का किसी भी व्यवस्था ने विचार नहीं किया। किन्तु उपाध्याय जी ने भारतीय अर्थनीति मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को महत्त्व देकर एक ऐसे समग्र जीवन दर्शन देने की चेष्टा की जो हमारी भौतिक मानसिक एव आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओ की तृप्ति कर सके। राजनीतिक विद्वेष एव वैचारिक असहिष्णुता के कारण बहुत कम लोगो का ध्यान इस मनीषी के विचारो की ओर गया है। ये समाज दर्शन के निरपेक्ष द्रष्टा थे। अतएव शोधकर्त्ता ने इन पर समाजवादी चिन्तक के रूप मे शोध करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा है।

आज से तीन दशक पूर्व भारत की समस्याये भिन्न थीं। परिवर्तन ससार का नियम है और पिछले तीस वर्षो मे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी क्षेत्रो मे व्यापक परिवर्तन हुए हैं और नयी

समस्याओ का जन्म हुआ है। प्रश्न यह है कि इन तीनो मनीषियो ने जिन प्रयोगो द्वारा ३० वर्ष पूर्व ामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक समस्याओ का निदान किया था क्या वे आज की समस्याओ के निराकरण मे भी सक्षम है ? प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य इसी प्रश्न के समाधान का विवेचन ह। इसी पृष्ठभूमि मे गॉधी, लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक एव राजनीतिक विचारो को मुख्यत तीन खण्डो मे विभक्त किया गया है।

प्रथम खण्ड गॉधीजी के आध्यात्मिक समाजवाद से सम्बन्धित है जिसके **प्रथम अध्याय** मे गॉधी जी के राजनैतिक विचारो का तथा **द्वितीय अध्याय मे** आर्थिक विचारो का विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय खण्ड डॉ॰ लोहिया का साकल्पिक समाजवाद है। इसमे तीन अध्याय सकलित हैं। **तृतीय अध्याय** मे डॉ॰ लोहिया के व्यक्तित्व एव विचार–स्रोत का विवरण एव विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। **चतुर्थ अध्याय** डॉ॰ लोहिया के आर्थिक विचार से सम्बद्ध वर्ग–उन्मूलन आयनीति, भूमि–प्रबन्धन आर्थिक विकेन्द्रीकरण, अन्न–सेना तथा भू–सेना तथा खर्च पर सीमा आदि विषयो को समझने का प्रयास किया गया है। **पचम् अध्याय** के अन्तर्गत डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक विचारो को रखा गया है जिसमे डॉ॰ लोहिया द्वारा प्रस्तुत इतिहास की समाजवादी व्याख्या धर्म और राजनीति का सम्बन्ध राज्य सम्बन्धी विचार, जन–शक्ति का महत्व सविनय अवज्ञा, मौलिक अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी विचार एव समाजवादी चिन्तन को समझने का प्रयास किया गया है।

तृतीय खण्ड प॰ दीनदयाल उपाध्याय का सास्कृतिक समाजवाद है। इसमे भी तीन अध्याय सकलित है। **षष्ठ अध्याय** मे प॰ दीनदयाल उपाध्याय के व्यक्तित्व एव कर्त्तृत्व पर प्रकाश डाला गया है। किसी भी व्यक्ति की विचार–शैली एव विचार की दिशा को भली–भॉति जानने के लिए उसका व्यक्तित्व एव कर्त्तृत्व सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। अत यह अध्याय समसामयिक समस्याओ मे दीनदयाल उपाध्याय के कार्यो एव व्यवहारो के माध्यम से उनकी दार्शनिक दृष्टि को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। **सप्तम् अध्याय** आर्थिक–चिन्तन, आर्थिक दृष्टि से उपाध्याय को आर्थिक लोकतन्त्र, विकेन्द्रीकरण, पूर्ण रोजगारी, न्यूनतम उपभोग की गारण्टी श्रम को सम्मान आदि बाते सैद्धान्तिक रूप में अभिप्रेत हैं। वे "अर्थायाम्' के प्रवक्ता हैं, उनको कमाने वाला खायेगा सिद्धान्त स्वीकार नहीं, उनके अनुसार अर्थायाम् मे 'जो जन्मा है सो खायेगा। उन्हे गाँधीजी का 'mass production by masses' स्वीकार है। **अष्टम अध्याय** राजनीतिक चिन्तन में स्पष्ट किया गया है कि 'राष्ट्र एव राज्य दो विभिन्न परिवेश मे पुष्ट होने वाले शब्द हैं जिनके भिन्न अर्थ हैं। राष्ट्र एक जीवमान ईकाई है जिसकी आत्मा को दीनदयाल 'चिति' कहते हैं। 'विराट राष्ट्र की प्राण–शक्ति है। उपाध्याय राष्ट्र और राज्य को भी समानार्थी नहीं मानते। राष्ट्र अपरिभाष्य है। आदर्श राज्य के रूप मे

उपाध्याय को धर्म–राज्य अभिप्रेत है। यहॉ वे धर्मराज्य और थियोक्रेटिक राज्य मे अन्तर करते हैं। धर्म से उनका तात्पर्य धारणा से है रिलीजन से नहीं।

अन्त मे उपसहार है जिसमे चिन्तकत्रयी के आर्थिक एव राजनीतिक विचारो का मूल्याकन प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि शोध करने का विचार ज्ञान–बोध की प्रथम कक्षा म प्रवशकाल से ही रहा है तथापि शोध–कार्य प्रारम्भ हो इसकी प्रेरणा के मूल मे डॉ. विद्यासागर उपाध्याय और समाप्ति की प्रेरणा मे दर्शन की विविध विधाओ के आचार्य तपपूँज गुरुदेव प्रो. सगमलाल पाण्डेय की असीम अनुकम्पा अन्तर्निहित है। शोध–प्रबन्ध को पूरा करने मे जिन अन्य लोगो ने सहयोग प्रदान किया, उन विद्वानो के प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इसी क्रम मे दत्तोपन्त ठेगड़ी, नानाजी देशमुख (समाजसेवी), डॉ. मुरली मनोहर जोशी (मानव ससाधन एव विज्ञान प्रौद्योगिकी मन्त्री भारत सरकार) श्री मदन लाल खुराना (भू. पू. मुख्यमन्त्री दिल्ली) श्री जनेश्वर मिश्र (भू. पू. रेल मन्त्री भारत सरकार), डॉ. विद्यानिवास मिश्र (भू. पू. प्रधान सपादक नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली), श्री राजमोहन गॉधी (राजनीतिज्ञ, पौत्र महात्मा गॉधी) आदि के प्रति आभार न व्यक्त करना धृष्टता होगी।

बडे भाई श्री घनश्याम पाण्डेय एव भाभी जी से प्राप्त सहयोग के प्रति मैं सदैव ऋणी रहूँगा। परमादरणीय पूज्य पिताजी (श्री त्रिलोकीनाथ पाण्डेय) एव परमादरणीया माताजी (श्रीमती मालती पाण्डेय) के वात्सल्यमयी स्नेह एव शोधकाल की इतनी प्रदीर्घ अवधि तक धैर्यपूर्वक सहयोग ही करते जाने का महत्व शब्दाभिव्यक्ति के परे है जिससे उऋण होने की कल्पना भी धृष्टता होगी। इस अवसर पर इन श्रीचरणो का नमन करना अपना अनिवार्य धर्म समझता हूँ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के निर्देशक परमश्रद्धेय गुरुवर डॉ. हरिशकर उपाध्याय के आशीर्वाद एव असीम अनुग्रह का ही परिणाम है कि इस शोध–प्रबन्ध ग्रथ ने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है। दर्शन की विविध विधाओ के बेजोड पारखी, शौर्य, धैर्य एव स्नेह के प्रतीक श्रद्धेय गुरुजी के स्तुत्य एव कुशल निर्देशन मे यह गुरुतर कार्य सम्पन्न हो सका है, मैं इनका सदैव ऋणी एव आभारी रहूँगा। परमश्रद्धेया डॉ. मृदुला रवि प्रकाश (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इ.वि.वि.) ने इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण कराने मे जिस उदारता एव सहिष्णुता का परिचय एव उत्साह दिया है, वह अविस्मरणीय है।

गुरुजनो मे प्रो. डी. एन. द्विवेदी, प्रो. जे. एस. श्रीवास्तव, प्रो. रामलाल सिह, डॉ. सी. एल. त्रिपाठी, डॉ. नरेन्द्र सिह, डॉ. जटाशकर एव श्रीमती आशालाल के उत्साह–वर्धक निर्देशो से मुझे जो लाभ मिला है वह महत्वपूर्ण और अनुकरणीय है।

अग्रजो मे डॉ. रजनीश पाण्डेय डॉ. हरिराम मिश्र (सस्कृत विभाग) मित्रो मे श्री हरीश दूबे विभाग सगठन मत्री अ. भा. वि. प. प्रयाग श्री अनुराग पाण्डेय रा. स्व. से. सघ अनुजो मे रामजी पाण्डेय (शोध छात्र – भूगोल) श्री ओम प्रकाश मिश्र (शोध छात्र – सस्कृत विभाग), श्री शैलेन्दु नाथ मिश्र (शोध छात्र – दर्शन विभाग) शान्ति भूषण नाथ त्रिपाठी (एम. ए.–प्राचीन इतिहास) ने समय–समय पर मुझे अपने समुचित सुझावो से लाभान्वित किया और मेरा उत्साहवर्धन किया, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

मैं उन समस्त विज्ञ जनो एव सहयोगियो के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने इस कार्य मे मेरी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता की। अन्त मे अपने शोध–प्रबन्ध के टकक और मेरे आत्मीय श्री राजीव मल्होत्रा के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने अपने व्यस्ततम समय मे भी मेरे लिए अपूरणीय कार्य किया है। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कल्पना पाण्डेय (एम. ए. राजनीतिशास्त्र) के प्रति आभार के दो शब्द न कहना अन्याय होगा, जिन्होने सदैव ही मुझे इस कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने के लिए अहर्निश प्रेरित करती रहीं और अविस्मरणीय सहयोग एव सेवा भी प्रदान की है। अन्त मे इस शोध–प्रबन्ध के मूल्याकन का दायित्व विज्ञ जनो पर सौंपकर यह प्रत्याशा करता हूँ –

"सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग्भवेत्।।"

दीनदयाल जयन्ती
अश्वनी कृष्ण त्रयोदशी
२५ सितम्बर '२०००

विनयावनत्
विश्वामित्र पाण्डेय
विश्वामित्र पाण्डेय
25-9-2000

विषय - सूची

प्रथम खण्ड महात्मा गॉधी

द्वितीय खण्ड - डॉ. राममनोहर लोहिया

प्रथम खण्ड : महात्मा गाँधी

प्रथम अध्याय महात्मा गॉधी का राजनीतिक चिन्तन

द्वितीय अध्याय महात्मा गॉधी का आर्थिक चिन्तन

१:१ महात्मा गॉधी का राजनीतिक चिन्तन

गॉधीजी अपने दीर्घ जीवन मे भारत ही नहीं बल्कि विश्व के समक्ष जिन रूपो मे प्रकट हुए। उनके आधार पर उन्हे एक दार्शनिक, समाज-सेवक समाज-सुधारक, अर्थशास्त्री, राजनेता राजनीतिशास्त्री आदि जिस भी नाम से पुकारा जाए वह उचित ही है। एक राजनीतिक चिन्तक के रूप मे गॉधीजी को व्यवहारिक आदर्शवादी कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्होने अपने राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक विचारो को जिन आदर्शों के अन्तर्गत व्यक्त किया है उन आदर्शो को स्वय आत्मसात् भी किया। ये आदर्श उनके साधन थे। इन आदर्शो के आधार पर मानव के व्यक्तिगत आचरण का निर्माण करना तथा समाज की समस्त गतिविधियो का सचालन तथा नियमन किया जाना गॉधीजी का साध्य था। यह साध्य प्राचीन यूनानी विचारको प्लेटो तथा अरस्तू की धारणाओ के उत्तम जीवन की प्राप्ति से मिलता-जुलता है परन्तु गॉधीजी उन यूनानियो की भॉति केवल छोटे नगर राज्यो के जीवन के बारे मे नहीं, अपितु बीसवीं सदी के जटिल समस्याओ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जटिल विश्व-समाज के सम्बन्ध मे विचार कर रहे थे। इसलिए उनके आदर्शो का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

गॉधीवाद एक समग्र जीवन-दर्शन है। इसी का एक अग जो राजनीतिक समस्याओ से सम्बन्ध रखता है उसमे व्यक्त विचारो को गॉधीजी का राजनीतिक दर्शन कहा जाता है। गॉधीजी ने राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक आर्थिक नैतिक, आध्यात्मिक आदि जीवन के विभिन्न पहलुओ पर जो कुछ लिखा, कहा अथवा अपने व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे जिस प्रकार आचरण किया उन सब को सम्पूर्ण रूप मे गॉधीवाद की सज्ञा दी जाती है।

गॉधीजी ने एक आदर्श राज्य-व्यवस्था के विषय मे समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उस आदर्श राज्य-व्यवस्था को किस नाम से पुकारा जाए, गॉधीजी इस बात के लिए बहुत उत्सुक नहीं थे, क्योकि आधुनिक समय मे इससे भ्राति होने का डर था। इसलिए वे कभी-कभी प्राचीन काल के आदर्श राजा राम एव प्रियदर्शी अशोक के आदर्शो की सराहना करते थे। वस्तुत वे आदर्श राज्य-व्यवस्था हेतु अधोलिखित तीन शर्तो को आवश्यक मानते हैं -

१ राम राज्य।

२ अहिंसा और प्रेम पर आधारित राज्य-व्यवस्था।

३ शोषण रहित समाज।

इस से स्पष्ट है कि गॉधीजी की राज्य सम्बन्धी अवधारणा प्राचीन भारत के आदर्श राज्य–व्यवस्था से प्रभावित है।

१ १ प्राचीन भारतीय राजतन्त्र

प्राचीन भारत मे राज्य का सर्वाधिक प्रचलित रूप राजतन्त्र था। राजतन्त्र के अतिरिक्त गणतन्त्रो के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। **ऐतरेय ब्राह्मण** मे – राज्य के निम्न प्रकारो का उल्लेख हुआ है जिनमे साम्राज्य भोज्य स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य महाराज्य अधिपत्यमन्य सामन्त पर्यायी राज्य शासन के विभिन्न प्रकार है।[1]

प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिन्तन मे राज्य को नितान्त आवश्यक और उपयोगी माना गया है। मनुस्मृति मे राज्य को राजधर्म के रूप मे भी प्रतिपादित किया गया है। मनुष्य के जीवन की आसुरी प्रवृत्तियो से रक्षा हेतु स्रष्टा ने राजा व राज्य का निर्माण किया। ऋग्वेद, मनुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का आधार दैवी सिद्धान्त है। मनु के अनुसार – राजा की रचना मे इन्द्र वायु, यम, सूर्य अग्नि वरूण, चन्द्र तथा कुबेर के अशो का समावेश है।[2] मनु ने धर्मशास्त्र मे राज्य के स्वरूप का सप्तात्मक वर्णन किया है। उनके द्वारा वर्णित राज्य के सात अग – स्वामी, आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और सुहृद हैं।[3] इनके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र शुक्रनीति आदि मे भी राज्य के सप्ताग सिद्धान्त का वर्णन है।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत मे राज्य शास्त्र के प्रमुख विचारको ने राज्य के सप्ताग स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होने इन अगो की उत्तमता एव विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी है। उनकी धारणा थी कि राज्य के इन अगो मे यदि एक अग भी विकारग्रस्त हो गया तो सम्पूर्ण राज्य ही विकृत हो जाएगा।

१.२ राज्य के कार्य

प्राचीन भारत मे राज्य की आवश्यकता जन समुदाय के सामाजिक जीवन के कार्य व्यापार की देखरेख करने वाले अभिकरण के रूप मे थी। इसका उद्देश्य था सामाजिक आदर्श की पूर्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओ को दूर करना।

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण, ८ २६, ३ १३

2 इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ।।, – मनुस्मृति, ७ ४

3 स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्र कोशदण्डो सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्ताङ् ग राज्यमुच्यते।।, – वही, ६ २६४

डॉ. आर. दीक्षित का मत है – जिस किसी भी प्रकार से राज्य का उद्भव हुआ हो, इसका कार्य था सामाजिक जीवन मे मत्स्य याय न चलने देना।[1] अन्तिम परिणति के रूप मे भारतीय अवधारणा के अनुसार – "समाज का गठन भिन्न–भिन्न क्षमताओ वाले समूहो द्वारा हुआ था एव राज्य का लक्ष्य सामाजिक जीवन इस प्रकार नियन्त्रित करना था कि प्रत्येक समूह अपने ढग से अपने विशिष्ट आदर्शों के अनुसार अपना जीवन निर्वाह कर सके तथा अपने जीवन आदर्श के पालन मे रत अन्य अधिक शक्तिशाली या दुर्बल समूहो की ओर से उसे कोई बाधा न झेलनी पडे। अतएव ऐसे सामाजिक सगठन मे स्वभावत परलोक सम्बन्धी वास्तविक धार्मिक मान्यताऍ अलग–अलग समूहो की अलग–अलग हो सकती थी एव सर्वमान्य सगठन का कार्य यही रह जाता था कि प्रत्येक समूह अपना जीवन अपने विश्वासो के अनुरूप व्यतीत कर सके।[2]"

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तको ने धर्म दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान आदि के चिन्तन और व्यवस्था मे विशेष तत्परता का परिचय दिया, साथ ही उन्होने मनुष्य के भौतिक जीवन को नियन्त्रित सुखी, फलीभूत तथा अनुशासित करने वाले राजशास्त्र के विषय मे गम्भीर चिन्तन किया। प्राचीन भारत मे राज्य को चतुर्वर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक और महत्वपूर्ण साधन माना गया। राज्य राजा तथा उसके धर्म को राजधर्म की सज्ञा प्रदान करने का प्रमुख अभिप्राय यही था कि राज्य प्रजा का हित करते हुए पुरुषार्थ–चतुष्टय के सिद्धान्त पर चले। राज्य का प्रथम कर्त्तव्य धर्म, विशेष रूप से साधारण और वर्णाश्रम धर्म को स्थिर रखना था। हिन्दू विचारो के अनुसार राज्य का ध्येय धर्म को स्थिर रखना है। धर्म ही राज्य को स्थिर रखता है।[3] "राज्य के सिद्धान्तो" मे केन्द्रीय स्थान धर्म के लिए आरक्षित था। कोई भी राज्य उस मात्रा मे अच्छा या बुरा समझा जाता था जिससे कि वह धर्म का पालन करता था।[4] धर्मपालन, शान्ति व्यवस्था सुरक्षा और न्याय को राज्य का आधारभूत उद्देश्य समझा जाता था।

---

1 डॉ. आर. दीक्षित – हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्सटीटयूशन की भूमिका से

2 (१) जाति जानपदान्धर्शन् श्रेणी धर्माश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्म प्रतिपादयेत्।।, – मनुस्मृति, ८४१

(२) श्रेणि नैगम पाषण्डि गणानामप्ययूम विधि।
भेदा चैषा नृपो रक्षेत् पूर्व वृत्तिच पालयेत्।। – याज्ञवल्क्य, २१९५

3 डॉ. पी. राममूर्ति – दि प्राब्लम ऑफ दी इण्डियन पॉलिटी पृष्ठ – १४७
उद्धत -- ईश्वरी प्रसाद – प्राचीन भारतीय सस्कृति, कला राजनीति धर्म तथा दर्शन, पृष्ठ – ३६३

4 पी. शमशेर तथा एम. मोहसिन – ए प्लान्ड डिमोक्रेसी
उद्धत -- ईश्वरी प्रसाद – प्राचीन भारतीय सस्कृति कला राजनीति, धर्म तथा दर्शन पृष्ठ – ३६३

प्राचीन भारत मे राज्य एव समाज के सम्बन्धो पर विचार करते हुए डॉ. **राधाकमल मुखर्जी** ने लिखा है –

"भारत उस दुर्लभ एव विशिष्ट दृश्य सत्ता का उदाहरण है जिसमे राज्य एव समाज एक दूसरे से भिन्न एव कुछ हद तक स्वतन्त्र रहते हुए विशिष्ट एव पृथक् सत्तागत ईकाईयो की भॉति, राष्ट्रीय लोकमत एव सामूहिक जीवन तथा क्रिया कलाप के स्वाधीन केन्द्रो के रूप मे सह–अस्तित्व बनाए हुए थे। दोनो दो स्वाधीन सगठन थे जिनकी अपनी सरचना एव कार्य समष्टि सुस्पष्ट एव सुपरिभाषित थी जिनके विवर्धन एव विकास के अपने नियम थे। अहस्तक्षेप की नीति को राज्य की आदर्श नीति माना जाता था जिसका कार्य कलाप साधारणत जीवन एव सम्पत्ति की सुरक्षा, कर वसूली या कर्त्तव्य के समुचित निर्वाह तक सीमित था।"[1] उन्होने आगे कहा – प्राचीन भारत मे राजा राज्य का प्रमुख था समाज का नहीं। सामाजिक पदानुक्रम मे उसका स्थान महत्वपूर्ण था लेकिन सर्वोच्च नहीं। राज्य के प्रतीक के रूप मे जनता के लिए वह दूरवर्ती अमूर्त प्रत्यय की तरह था जिसका उसके दैनिक जीवन से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं था, उसका शासन तो सामाजिक सगठन द्वारा होता था। राज्य एव जनता के प्रतिदिन के जीवन के सामान्य रुचियो के सम्पर्क बिन्दु वस्तुत बहुत कम थे।[2] समाज मे मत्स्य–न्याय की स्थिति न आने पावे इसलिए राजा का होना अति आवश्यक था।

१ ३ नगर एव ग्राम प्रशासन

वैदिक काल मे बहुत कम ही नगर बसे थे। उनकी प्रशासन व्यवस्था के विषय मे कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती सहिता एव ब्राह्मण ग्रथो के समय भी यही स्थिति बनी रही। परन्तु महाकाव्य काल मे अनेक नगर और राजधानियॉ विकसित हो चुकीं थीं। सिकन्दर के आक्रमणो के समय पजाब मे अनेक नगर एव पुर थे। तक्षशिला उस काल मे एशिया के सबसे बडे नगरो मे से एक था। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक नगरो का प्राचीन भारत मे अस्तित्व था। परन्तु गॉधीजी का ध्यान जिस प्रशासन व्यवस्था एव सामाजिक राजनीतिक ईकाई ने आकर्षित किया वह था – ग्राम शासन। अति प्राचीन काल से आधुनिक युग तक "ग्राम" भारतीय सभ्यता के आधार और शासन व्यवस्था की धुरी रही है। "समाज की ईकाई होने के कारण राजनीतिक सगठन की ईकाई भी ग्राम था। यह अपने में ससार के सदृश ही था।"

---

1 राधाकमल मुखर्जी – लोकल गवर्नमेन्ट इन एनशियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ३

2 वही पृष्ठ – ४

भारत मे ग्राम–गणराज्य अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं – "यह दावा किया जाता है कि इस पद्धति का प्रवर्तन गगा और यमुना क दोआबे मे बस्तियॉ बसाते समय राजा पृथु ने किया था।"[1] वैदिक काल के राज्य छोटे–छोटे होते थे इस कारण ग्रामो का महत्व और भी बढ गया था। महाभारत म ग्राम सघो के प्रमाण मिलते है। बाल्मीकीय रामायण ने "जनपद" का वर्णन आता है जो सभवत कई ग्रामो की ईकाईयो का सघ रहा होगा। इसी प्रकार विष्णु स्मृति[2] एव मनुस्मृति[3] मे ग्राम को राज्य की सबसे छोटी ईकाई माना गया है। मनु ने स्पष्टत निर्देश किए थे कि – जो ग्रामीण समाज के अनुबन्ध को भग करे उसे देश निकाले का दण्ड देना राजा के लिए उचित है।[4]

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे ग्राम गणराज्यो का उल्लेख किया है। मेगास्थनीज ने **"इण्डिका"** मे इन ग्राम पचायतो को **पेन्तड** कहा है।

इस प्रकार प्राचीन भारत एक वृहत् ग्रामीण प्रजातन्त्र के रूप मे बना था। समाज स्वशासन के परिभाषित क्षेत्रो के राज्य से पृथक अपने कार्यो का सचालन करता था। ग्रामीण राजनीति राज्य की राजनीति तथा राज्य और उसके प्रभु की बदलती हुई राजनीतिक उतार–चढाव से स्वतन्त्र थी। भारत की सस्कृति की रक्षा उसके ग्रामो अथवा ग्राम गणतन्त्रो द्वारा ही हो सकी है, जिसने अनेक राजनीतिक क्रान्तियो और प्रभुसत्ताओ के परिवर्तन देखे थे।

उपर्युक्त बात को स्पष्ट करते हुए **सर चार्ल्स मेटकाफ** ने लिखा है –

"ग्रामीण समाज छोटे–छोटे गणराज्यो के सदृश है अपनी आवश्यकता की प्राय सभी वस्तुओ के उत्पादन एव विदेशी सम्बन्धो से प्राय स्वतन्त्र। राजवशो के बाद राजवशो का पतन होता रहा, क्रान्तियो के बाद क्रान्तियॉ होती रहीं किन्तु ग्रामीण समाज वैसा ही बना रहा। मेरी धारणा है कि अपने मे छोटे से पृथक राज्य के सदृश ग्रामीण समाज की पचायत ने भारत मे होने वाले समस्त परिवर्तनो एव क्रान्तियो के मध्य भी भारतीय जनता के परीरक्षण मे अन्य किसी भी तत्व की तुलना मे अधिक योगदान दिया। पचायत उनके सुख साधन स्वतन्त्रता एव आत्मनिर्भरता के उपभोग मे बहुत अधिक सहायक रही है।"[5] **रोमिला थापर** ने दक्षिण भारत के ग्राम शासन के विषय मे लिखा है – गाव

1 एस. एन. अग्रवाल – गांधीयन कान्स्टीट्यूशन पृष्ठ – ४५

2 विष्णु स्मृति ३, ७ – तत्र स्व स्वग्रामाधिपान्कुर्यात्

3 मनुस्मृति, ४ ११५, ११६

4 वही

5 महादेव प्रसाद – महात्मा गॉधी का समाज दर्शन, पृष्ठ – १८३

एक प्रशासकीय ईकाई हुआ करता था। उस समय गावो का दी गई स्वायत्तता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ग्राम अधिकारी गावो के मामलो मे प्रशासको के रूप मे नहीं बल्कि परामर्शदाताओ और प्रेक्षको के रूप मे भाग लेते थे। इससे ऊपरी स्तर पर होने वाले राजनीतिक परिवर्तनो के बहुत अधिक हस्तक्षेप के बिना स्थानीय उन्नति एव विकास निरन्तर होते रहते थे। इस काल मे विकसित होने वाली ग्राम स्वायत्तता के पीछे आधारभूत मान्यता यह थी की प्रत्येक गाव का शासन स्वय ग्रामीणो द्वारा ही होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए एक ग्राम सभा का सगठन होता था और इसी सभा मे सत्ता निहित होती थी। बडे गावो मे, जहॉ ग्रामीण सगठन अधिक जटिल होता था विभिन्न प्रकार की सभाएँ होती थी।[1]

प्रो॰ एस॰ एन॰ अग्रवाल ने "गाधीयन कान्स्टीट्यूशन फॉर फ्री इण्डिया" मे इस तथ्य के समर्थन मे अनेक प्रमाण दिए हैं कि – ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के पूर्व तक हिन्दू, मुस्लिम एव पेशवा शासनो मे भारतीय ग्रामीण गणराज्य विकसित होते रहे और यह निष्कर्ष निकला कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी मे अत्यधिक एव अनैतिक लोभ के कारण ये ग्राम पचायते क्रमश विघटित हो गई। गाव की काश्तकारी पद्धति के स्थान पर रैयतवारी पद्धति के जानबूझ कर किए गए प्रवर्तन ने ग्रामीण गणराज्यो के सामूहिक जीवन का ही अन्त कर दिया। ब्रिटिश नौकरशाही के हाथों में समस्त प्रशासनिक एव न्यायिक अधिकारो के केन्द्रीकरण द्वारा ग्रामीण पदाधिकारी अपने युग–युग से चले आने वाले अधिकार एव प्रभाव से वचित हो गए।[2]

इन्हीं प्राचीन ग्राम समाजो के आधार पर गाधी जी ने उपयुक्त राजनीतिक सगठन हेतु अहिंसात्मक समाज, धर्म पर आधारित राजनीति, ग्रामीण गणराज्य, पचायती राज आदि तत्वों का अन्वेषण किया और आदर्श राज्य या रामराज्य के रूप मे प्रतिपादित किया।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक सगठनो को जानने के पश्चात् हमे यह भी जानना होगा कि प्रचलित वर्तमान राज्य व्यवस्था क्या है, तभी हम गॉधी प्रतिपादित राज्य व्यवस्था का सही (उचित) मूल्याकन आज के सदर्भ मे कर सकेगे।

१ ४ प्रचलित राज्य-व्यवस्था ·

राजनीति राष्ट्रो का जीवन नहीं बल्कि आज यह आततायियों का जमावडा हो गई है जिसे हम राजनीति कहते हैं, वह उन्हीं के द्वारा और उन्हीं के लिए चलाई जाती है। इसलिए वहाँ सिद्धान्त को

[1] रोमिला थापर – भारत का इतिहास, पृष्ठ – १८२–१८३

[2] प्रो॰ एस॰ एन॰ अग्रवाल – "गाधीयन कान्स्टीट्यूशन फॉर फ्री इण्डिया" पृष्ठ – ४८

नहीं अवसरवादिता को प्रथम स्थान दिया जाता है। भर्तृहरि ने सभवत इसीलिए राजनीति को वेश्या की उपमा देते हुए "वाराग्नेय नृप अनेक रूपा" कहा है।

राजनायिको के व्यवहार मे विचार और व्यवहार का द्वैत इतना स्पष्ट हो जाता है कि वैसी राजनीति को हम राज्य की नीति न कहकर कूटनीति कहते हैं। मैकिवेली ने तो एक कुशल नरेश का - कार्य यह सीखना बताया है कि वह भला आदमी कैसे न रहे। धूर्तता और छल कपट उस नरेश के श्रेष्ठतम गुण है। नरेश के लिए अच्छे गुण का होना जरूरी नहीं। उसके लिए जरूरी है इन गुणो का झूठा प्रदर्शन आडम्बर और मिथ्या प्रचार। उसकी यहॉ तक सलाह है कि अच्छे गुण नरेश के लिए नुकसानदेय हैं। निष्ठावान् मानवीय, धार्मिक, सच्चा आदमी बनने से बेहतर है कि वह समय-समय पर इन सबका दिखावा करता रहे यह जानते हुए कि यह सब स्वाग है, जिसे किसी भी समय उतार कर फेका जा सकता है।[1]

भारतीय इतिहास इसी को कौटिल्य नीति और यूरोपीय इतिहास मे मेक्याविलियन पॉलिटिक्स के नाम से पुकारा जाता है। जहॉ सत्य-असत्य न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म सबको समान माना जाता है। इसलिए आज जबकि राजनीतिज्ञ पृथ्वी से लेकर चॉद और अन्तरिक्ष से लेकर समुद्र तल तक चिन्ता करते दिखाई पड़ते हैं, वहीं स्वय आज की राजनीति ही हमारी चिन्ता का विषय बन जाती है।

विश्व का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनीति सदैव छल-कपट, हिंसा, क्रूरता, अन्याय शोषण अत्याचार आदि दुर्गुणो पर आधारित रही है। अच्छा और सफल राजनीतिज्ञ उसे ही माना जाता है जो उचित अनुचित साधनो द्वारा अपने देश के हित की रक्षा कर सके।

गॉधीजी ने हिन्दू धर्मशास्त्रो मे निर्दिष्ट पाच प्रमुख नैतिक सिद्धान्तो को राजनीतिक साधनो के रूप मे अपनाया है। उनके विचारो मे राजनेता एक सत्याग्रही है उसे इन पाच नैतिक सिद्धान्तो का आचरण करना चाहिए १ सत्य, २ अहिंसा, ३ अस्तेय, ४ अपरिग्रह, ५ ब्रह्मचर्य।[2] परन्तु आज के राजनेताओ में ठीक इसके विपरीत गुण ही अधिक मौजूद रहते हैं। वे राजनीतिक साधन के रूप में – १. असत्य, २ हिंसा, ३ चोरी, ४ सचय करना, ५ ब्रह्मचर्य भग – इन साधनो को अपना रहे हैं और वही सफल राजनीतिज्ञ समझा जाता है जो उपर्युक्त गुणों से परिपूर्ण हो। सभी उन्नत देशों का इतिहास ऐसे ही सफल राजनीतिज्ञो की प्रशस्ति गाथाओ से भरा पड़ा है। इसी कारण राजनीति को

---

1 गणेश मन्त्री – मार्क्स, गॉधी और समसामयिक सन्दर्भ पृष्ठ – ४६-५०

2 डॉ. गगादत्त तिवारी – आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृष्ठ – ५२१

स्वार्थ और क्रूरता का खेल माना जाता है और जो राजनीतिक इस भयकर खेल मे जितना ही अधिक निपुण है उसे उतना ही महान और सफल माना जाता है।

१ ५ सासदिक प्रजातन्त्र

गॉधीजी ने पाश्चात्य राज्य पद्धतियो की आलोचना की। अन्य राज्य पद्धतियॉ तो दोषपूर्ण पहले से भी मानी जाती थी, परन्तु सासदिक प्रजातन्त्र जो सभी राज्य पद्धतियो मे निर्दोष माना जाता है तथा मानव कल्याण और हित का दावा करता है वह भी दोषपूर्ण ओर हिंसा पर आधारित है। इससे मानव का सच्चा कल्याण नहीं हो सकता ऐसा गॉधीजी का विश्वास है।

गॉधीजी पश्चिमी विचारधारा पर आधारित शासन, प्रजातन्त्र, सविधानवाद, चुनाव प्रणाली और जनप्रतिनिधियो की सस्था–ससद के भी विरोधी थे। वे इन सभी सस्थाओ को भारतीय परिवेश मे देखना चाहते थे क्योकि पाश्चात्य देशो मे प्रजातन्त्र तो नाम मात्र का है बल्कि वहॉ साम्राज्यवाद, शोषणवाद, पूँजीवाद, नेतावाद और राजनीतिक भ्रष्टाचार व्याप्त है। वहॉ राज्य की शक्ति और सप्रभुता का आधार हिंसा है जो अपने अस्तित्व को कायम रखने हेतु इसका प्रयोग करती रहती है।

हिन्द स्वराज्य में गॉधीजी ने सभी ससदो की जननी ब्रिटिश ससद की कटु आलोचना करते हुए उसे बाझ की सज्ञा दीं। आगे पुन गॉधीजी कहते हैं –

"मैने उसे बाझ कहा क्योकि अब तक उस पार्लियामेन्ट ने अपने आप एक भी अच्छा कार्य नहीं किया। अगर उस पर जोर दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है और वह वेश्या है, क्योकि जो मन्त्रिमण्डल उसे रखे उसके पास वह रहती है। आज उसका मालिक एस्क्विथ है, तो कल बालफर होगा और परसो कोई तीसरा।"[1]

गॉधी पुन ब्रिटिश ससद के विषय मे कहते हैं – अगर पार्लियामेन्ट बाझ न हो तो इस तरह होना चाहिए – लोग उसमे अच्छे से अच्छा मेम्बर चुनकर भेजते हैं। मेम्बर तनख्वाह नहीं लेते, इसलिए उन्हे लोगो की भलाई के लिए 'पार्लियामेन्ट' मे जाना चाहिए। लोग खुद सुशिक्षित–सस्कारी माने जाते हैं, इसलिए उनसे भूल नहीं होती ऐसा हमे मानना चाहिए। ऐसी पार्लियामेन्ट को अर्जी की जरुरत नहीं होनी चाहिए, न दबाव की। उस पार्लियामेन्ट का कार्य इतना सरल होना चाहिए कि दिन–ब–दिन उसका तेज बढ़ता जाए और लोगो पर उसका असर होता जाए। लेकिन इससे उल्टे

1 हिंन्द स्वराज्य, पृष्ठ – १५

इतना तो सब कबूल करते हैं कि पार्लियामेन्ट के मेम्बर दिखावटी और स्वार्थी होते हैं। सब अपना मतलब साधने की सोचते हैं। सिर्फ डर के कारण ही पार्लियामेन्ट कुछ काम करती है। जो काम आज किया कल उसे रद्द करना पडता है। आज तक एक भी चीज को पार्लियामेन्ट ने ठिकाने लगाया हो ऐसी कोई मिसाल देखने मे नहीं आती। बडे सवालो की चर्चा, जब पार्लियामेन्ट मे चलती है, तब उसके मेम्बर पैर फैलाकर लेटते हैं या बैठे–बैठे झपकियॉ लेते हैं। उन पार्लियामेन्ट मे मेम्बर इतने जोर से चिल्लाते हैं कि सुनने वाले हैरान–परेशान हो जाते हैं। एक महान लेखक ने उसे **"दुनिया की बातूनी"** जेसा नाम दिया है। मेम्बर जिस पक्ष मे हो उस पक्ष के लिए अपना मत बगैर सोचे विचारे देने हैं देने को बधे हुए हैं। अगर कोई मेम्बर इसमे अपवाद रूप निकल आए तो उसकी कमबख्ती ही समझिए। जितना समय और पैसा पार्लियामेन्ट खर्च करती है उतना समय और पैसा अगर अच्छे लोगो को मिले तो प्रजा का उद्धार हो जाए। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट महज प्रजा का खिलौना है और वह खिलौना प्रजा को भारी खर्च मे डालता है। ये विचार मेरे खुद के है ऐसा आप न माने। बड़े और विचारशील अग्रेज ऐसा विचार रखते हैं। एक मेम्बर ने तो यहॉ तक कहा है कि पार्लियामेन्ट धर्मिष्ठ आदमी के लायक नहीं रही। दूसरे मेम्बर ने कहा कि पार्लियामेन्ट एक बच्चा (बेबी) है। बच्चो को कभी आपने हमेशा बच्चे ही रहते देखा है ? आज सात सौ वर्षो बाद भी अगर पार्लियामेन्ट बच्चा ही हो, तो वह बडी कब होगी ?[1]

ब्रिटिश पद्धति पर आधारित ससद की आलोचना के साथ ही गॉधीजी प्रधानमन्त्री के भी आलोचक है, क्योकि प्रधानमन्त्री का नेतृत्व गॉधीजी के आदर्श मे नेतृत्व के अनुरूप नहीं है। प्रधानमन्त्री मात्र अपनी सत्ता और ससद के कल्याणार्थ ही कार्य करता है। प्रजा के हित मे कार्य नहीं करता। वह तो अपनी सत्ता के मद मे व्यस्त रहता है। " मुझे प्रधानमन्त्रीयो से द्वेष नहीं है। लेकिन तजुरबे से मैंने देखा है कि वे सच्चे देशाभिमानी नहीं, जिसे हम घूस कहते हैं वे वह घूस खुल्लम खुल्ला नहीं लेते देते इसलिए भले ही वे ईमानदार कहे जाए लेकिन उनके पास सिफारिश काम कर सकता है। वे दूसरों से काम निकालने के लिए उपाधि वगैरा की घूस बहुत देते हैं। मैं हिम्मत के साथ कह सकता हूँ कि उनमे शुद्ध भावना और सच्ची ईमानदारी नहीं होती।"[2]

ब्रिटिश प्रजातन्त्र में जनता के कल्याण का भार कुछ चुने हुए प्रतिनिधि ले लेते हैं। इसमे जनता प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी हाथ नहीं बटा पाती है। सम्पूर्ण जनता वास्तव मे अपने कल्याण के

---

[1] हिन्द स्वराज्य पृष्ठ – १५–१६

[2] वही, पृष्ठ – १७

लिए राज्य के प्रतिनिधियो की गुलाम हो जाती है उनका शोषण होता है। अत गॉधीजी की राय मे यह पद्धति हिसा से पूर्ण है। उसमे नाजीवाद और फासिस्टवाद गुप्त रूप मे विद्यमान है। सच तो यह है कि वह नाजीवाद और फासिस्टवाद की उपनिवेशवादी नीति को ढकने का एक बडा कोट है।[1]

इनकी सभी सस्थाए अजनतात्रिक हैं तथा हिंसा से पूर्ण है। अत गॉधी का यह विश्वास है कि प्रजातन्त्र की आड मे राजतन्त्र और तानाशाही को पोषण मिलता है। अत ब्रिटिश प्रजातन्त्र भी उपयोगी राज्य–पद्धति नहीं है।

गॉजी जी ने प्रचलित राज्य पद्धतियो का विवेचन करके उनकी कमियो को बताया है और विशेष तौर पर भारत के सदर्भ मे एक अहिंसात्मक राज्य की स्थापना का चित्र खींचा है।

गाँधीजी पृथ्वी पर अहिंसात्मक राज्य की स्थापना करना चाहते थे परन्तु इस अहिंसात्मक राज्य का वास्तविक स्वरूप क्या होगा ? इस पर उन्होने स्पष्ट बात नहीं कही। इसका कारण यह था कि वे पहले से ही इस तथ्य का वर्णन करना असामयिक और अवैज्ञानिक समझते थे। उन्होने लिखा है – "मैने जानबूझ कर ऐसे शासन–तन्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध मे अपने निश्चित विचार नहीं व्यक्त किए है, जो कि एक अहिंसक समाज–व्यवस्था पर आधारित है, क्योंकि जब हमारा समाज अहिंसा के निश्चित नियमो पर साकार बनाया जाएगा तो यह भी निश्चित है कि जो राज्य का स्वरूप होगा वह आज के स्वरूप से निश्चित रूप से भिन्न होगा, लेकिन मैं ऐसा पहले से बताने मे असमर्थ हूँ कि अहिंसा पर आधारित शासन तन्त्र कैसा होगा।[2] फिर भी राज्य और सरकार के विषय में गॉधीजी ने अलग–अलग अनेक समयो मे जो विचार व्यक्त किए उनके आधार पर आदर्श राज्य की निम्न विशेषताएँ होगीं –

१·६ *गॉधी प्रतिपादित "राज्य-व्यवस्था" की विशेषताएँ*

[i] अराजकतावाद

अराजकतावाद को अग्रेजी मे Anarchism कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के Anarchia शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है – शासन का अभाव। अराजकतावाद एक ऐसी क्रान्तिकारी विचारधारा है, जो राज्य एव सब प्रकार की सरकारो और राज्य के स्थान पर राज्यविहीन एव वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहती हैं।

---

1 गॉधी – इण्डिया ऑफ माइ ड्रीम, पृष्ठ – १८

2 हरिजन, ११, फरवरी, १९३९

मनु ने भी एक ऐसे आदर्श समाज का चित्र अकित किया था जिसमे न राज्य हो और न राजा, जिसमे सब व्यक्ति नागरिक धर्म के अनुसार पारस्परिक सहयोग मे अपना जीवन व्यतीत करे।[1]

अराजकतावाद को दो भागो मे बॉटा गया है –

(क) दार्शनिक अराजकतावाद

राज्य का अन्त करने के लिए बल एव हिंसा का प्रयोग न करके शातिपूर्ण वैधानिक एव साहित्यिक विधियो के प्रयोग का समर्थन दार्शनिक अराजकतावाद ह। इसके प्रमुख समर्थक विलियम गॉडविन टॉमस हॉजस्किन और पियरे जोसेफ प्रूधो हैं।

(ख) क्रान्तिकारी अराजकतावाद

क्रान्ति के द्वारा राज्य के अन्त पर विश्वास करता है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के महत्व को तो स्वीकार करता है, पर समाज के हितो को व्यक्ति के हितो से उच्चतर स्थान प्रदान करता है एव व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को भी अस्वीकार करता है।

गॉधीजी अराजकतावाद की प्रथम श्रेणी **"दार्शनिक अराजकतावाद"** मे आते हैं। उन्होने ऐसे राज्य के सन्दर्भ मे लिखा है – "इस राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा। वह अपना शासन इस प्रकार करेगा कि वह अपने पडोसी के लिए कभी बाधा नहीं बनेगा।"[2] टालस्टाय, माइकेल, बाकूनिन प्रिसपिटर, क्रोपटोकिन और यहॉ तक कि कार्लमार्क्स की परम्परा मे गॉधीजी भी वर्तमान व्यवस्था के कटु आलोचको में से हैं। वे राज्य का किसी भी रूप मे खण्डन करते थे। वे कहते हैं "राज्य आज्ञा करता है और जो कोई आज्ञा दी जाती है वह अपने साथ व्यक्ति के कार्यो का नैतिक मूल्य नहीं रख सकती।[3]" इसके साथ गॉधीजी का यह भी विचार था कि राज्य हिंसा का प्रतीक है। वे कहते हैं – "फिर भी राज्य का अधिकार हिंसा पर स्थित है। जहॉ कहीं हिंसा होती है वहॉं शोषण होगा भले ही राज्य का कोई भी प्रजातान्त्रिक स्वरूप क्यो न हो। राज्य सामूहिक और सगठित रूप से हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के पास आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्माहीन यन्त्र है। यह हिंसा से जिसके द्वारा इसका जन्म हुआ है कभी पृथक् नहीं हो सकता।[4]" गॉंधीजी हिंसा पर

[1] पी.डी. पाठक – राजनीतिक चिन्तन का इतिहास खण्ड–४, पृष्ठ – १६३

[2] जी.एन. धवन – दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गॉंधी, पृष्ठ – २६६–६७

[3] गॉंधी – एथिकल रिलीजन, पृष्ठ – ४०

[4] माडर्न रिव्यु, अक्टूबर १६४३, गॉंधीजी के साथ एन.के. बोस का साक्षात्कार

आधारित ऐसे किसी भी राज्य के औचित्य को ऐतिहासिक, नैतिक तथा आर्थिक किसी भी आधार पर स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उन्होने आगे लिखा है – "मैं राज्य की शक्तियो की वृद्धि को बडी आशका की दृष्टि से देखता हूँ। ऊपर से तो जान पडता है कि राज्य की बढती हुई शक्ति शोषण की रोकथाम करके जनता की भलाई कर रही है पर वास्तव मे इससे मानव जाति को बहुत हानि पहुँचती है क्योकि इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व जो सभी प्रकार की उन्नति का मूल है, नष्ट हो जाता है।[1] गॉधीजी आदर्श मे अराजकतावादी है पर व्यवहार मे व्यक्तिवादी थे। उनके अनुसार राज्य स्वय साध्य बन जाता है और व्यक्ति को अपना साधन बनाता है। जबकि गॉधीजी के विचार मे व्यक्ति की आत्मानुभूति साध्य है और राज्य इस उद्देश्य का साधन है। गॉधीजी ने लिखा है – "मेरी दृष्टि मे राज्य सत्ता कोई साध्य नहीं है बल्कि मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनके लिए अपनी हालत सुधारने का एक साधन है।"[2]

ऐसे लोगो को जो आदर्श अराजकराज्य की सफलता मे विश्वास नहीं करते हैं, गॉधीजी ने उत्तर देते हुए लिखा है "मेरे विचार से ऐसा प्रश्न पूछने से कोई लाभ नहीं हो सकता। यदि हम ऐसे समाज के निर्माण के लिए प्रयत्न करते रहे, तो वह किसी सीमा तक क्रमश बनता रहेगा और उस सीमा तक उससे लोगो को लाभ पहुँचेगा। यूक्लिड ने कहा है कि रेखा वही हो सकती है जिसमे चौडाई न हो, किन्तु ऐसी रेखा न तो कोई आज तक बना पाया और न बना पाएगा। फिर भी आदर्श रेखा को ध्यान मे रखने से ही प्रगति हो सकती है। जो बात रेखा के विषय मे सत्य है, वही प्रत्येक आदर्श के विषय मे भी सत्य है।"[3] इस प्रकार गॉधीजी की कल्पना का आदर्श समाज अहिंसक समाज रामराज्य है जिसमे सर्वोदय की भूमिका है।

[ii] रामराज्य - (आदर्श समाज-व्यवस्था)

गॉधीजी ने जिस आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना की है, और वह जो उनके दार्शनिक अराजकतावादी विचारो पर आधारित है उसे ही उन्होंने रामराज्य भी कहा। यह न तो प्लेटो के रिपब्लिक मे चित्रित आदर्श राज्य के सदृश है, न ही सन्त ऑगस्टाइन की धारणा के दैवी राज के सदृश, जिसकी अगुआई इस ससार में ईसाई चर्च करता हो और न ही यह हीगल की धारणा "पृथ्वी में ईश्वर का प्रमाण है" जो कि एक निरंकुश राज्य में परिणत हो गया है। प्रत्युत गाँधीजी का आदर्श

---

[1] एन.के. बोस – स्टडीज इन गाधिज्म पृष्ठ – २०२–२०४

[2] यग इण्डिया, २ जुलाई, १६३१

[3] हरिजन सेवक, १५ सितम्बर, १६४६

राज्य पृथ्वी मे ईश्वर का अस्तित्व रखने वाली सस्था का रूप है। यह एक राज्यविहीन प्रजातात्रिक व्यवस्था है।

गॉधीजी के अनुसार – "अहिसक राज्य के विकास मे निर्णायक वस्तु राज्य के ढॉचे की मूर्त कल्पना नहीं होती सामान्य जन की आत्मशक्ति अर्थात् अहिंसा ही उसके विकास को निश्चित बनाती है। किसी प्रजा को वैसा ही राज्य मिलता है, जिसे पाने की योग्यता उनमे होती है और राज्य का स्वरूप तो केवल जनता के नैतिक स्तर की मूर्त अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार यदि जनता सच्चे अर्थ मे अहिंसक न हो तो ऊपर से लोकतात्रिक दिखाई देने वाले सविधान के अधीन भी शोषण और हिंसा चालू रह सकती है, जैसा की अधिकतर पश्चिमी देशो मे विद्यमान है। दूसरी ओर ज्यो ही जनता आत्मनियत्रण सिद्ध कर लेती है सत्याग्रह की पद्धति पर अधिकार प्राप्त कर लेती है तथा आपस मे स्वेच्छा से सहयोग प्राप्त करना और शोषक के साथ असहयोग करना सीख लेती है त्यो ही अहिंसा के आचरण की गौर उपज के रूप मे अहिंसक राज्य अपने आप जन्म ले लेता है।"[1] गॉधीजी ऐसे किसी भी राज्य के विरोधी थे जो हिंसा पर आधारित हो। उनका विचार था कि "ऐसा राज्य आत्म विहीन यत्र के तुल्य है, जो एक केन्द्रीकृत सगठन के रूप मे हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है।"[2] वह मनुष्य की वैयक्तिकता का दमन करके उसके विकास के मार्ग को अवरुद्ध करता है। उनके अनुसार **राज्य विहीन प्रजातन्त्र ही आदर्श समाज है** – "ऐसा राज्य जहॉ प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वय का शासक हो। वह स्वय इस प्रकार शासन करे कि कभी भी अपने पड़ोसी के कार्य मे रुकावट न पड़े। एक आदर्श राज्य मे राजनैतिक सत्ता का स्थान नहीं। यदि है, तो वह राज्य नहीं है।"[3]

गॉधीजी की धारणा का रामराज्य विकेन्द्रित सामाजिक–व्यवस्था है।

[iii] राजनीतिक-विकेन्द्रीकरण

गॉधीजी सत्ता शक्ति के विकेन्द्रीकरण मे विश्वास करते थे। सत्ता मे बैठे गिने चुने व्यक्तियों के द्वारा शासन का केन्द्रीकरण उन्हें मान्य नहीं था। उनकी इच्छा थी कि शासन में गाँव का प्रत्येक व्यक्ति हिस्सा ले और सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो। तभी उन्होंने बडे विश्वास के साथ कहा कि – "सच्चे लोकतन्त्र का सचालन केन्द्र मे बैठे हुए २० आदमियों से नहीं हो सकता। उसका सचालन

---

1 हिन्द स्वराज (अग्रेजी), पृष्ठ – ६५

2 एन.के. बोस – स्टडीज इन गाँधीज्म, पृष्ठ – ६–७

3 यग इण्डिया, २७ १९३१

नीचे से प्रत्येक गॉव के लोगो द्वारा करना होगा।"[1] प्रजातन्त्र मे जो स्थान शहर की अट्टालिकाओ मे रहने वालो का होगा वही स्थान गॉव के किसान का भी होना चाहिए क्योकि प्रजातन्त्र मे दोनो व्यक्ति शासन मे समान रूप से भागीदार होगे। इसी भावना को व्यक्त करते हुए उन्होने कहा कि – "सच्चे प्रजातन्त्र मे हमारे यहॉ किसानो का राज्य होना चाहिए।"[2] गॉधीजी के अनुसार अहिंसक राज्य का सगठन विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त राजनैतिक और आर्थिक उपादान – दोनो क्षेत्रो मे लागू होगा। गॉधीजी का विश्वास था – केन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था ही शोषण का मूल कारण है जिसमे जनता को अपनी सम्पूर्ण सभावनाओ को विकसित करने का अवसर नहीं मिलता। अत सत्ता का केन्द्रीकरण हिंसा है।[3]

विकेन्द्रित व्यवस्था ही अहिंसक है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति गॉव और सस्थाओ को पूर्णरूपेण भौतिक, मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक विकास का सुअवसर मिलता है। इस प्रकार की व्यवस्था मे हर व्यक्ति राज्य के कार्य मे अपना हाथ बटाता है, उसके ऊपर कोई कानून या प्रशासन लादा नहीं जाता। इसके लिए प्रत्येक गॉव को राजनैतिक ईकाई, माना जाता है जिसमे नागरिक जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्थाओ का विधान किया जाता है। गॉधीजी कहते हैं – "शक्ति का केन्द्र अभी दिल्ली या कल्कत्ता या बम्बई जैसे बडे शहरो मे है। मैंने इसे सात लाख गॉंवो मे बाट दिया होता।"[4] विकेन्द्रित व्यवस्था मे प्रशासन तन्त्र सरल होते हैं जिससे कार्य जल्दी होता है और व्यक्ति को न्याय मिलने मे समय कम लगता है। कौल ने अपनी पुस्तक "ए गाइड टु माडर्न पॉलिटिक्स" मे लिखा है – "लोकतन्त्र केन्द्रीकरण के प्रतिकूल है, क्योकि यह ऐसी चेतना है जो जहॉ कहीं भी सामूहिक इच्छा को प्रकट करने की आवश्यकता होती है वहीं अपने को अभिव्यक्त करने की तात्कालिक एव स्थानीय स्वतन्त्रता चाहती है। इसे इस प्रकार प्रणाली–बद्ध करना कि इसका सम्पूर्ण प्रवाह केवल एक ही केन्द्रीय धारा मे हो सके, इसकी स्वत स्फूर्तता को नष्ट करना एव इसे अवास्तविक बनाना है।"[5]

इस प्रकार लोकतन्त्र का मूल्य भावना मे होता है और भावना स्वतन्त्रता चाहती है। यदि लोकतन्त्र को ठीक ढग से क्रियान्वित करना है तो सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। यदि इसे

---

1 हरिजन १८ १.१९४८

2 गॉंधी विचार रत्न, पृष्ठ – १९९

3 हरिजन, १८ १ १९४२

4 प्यारे लाल महात्मा गॉंधी – दि लास्ट फेज, खण्ड–२ पृष्ठ – ६१४

5 महादेव प्रसाद – महात्मा गॉंधी का समाजदर्शन पृष्ठ – १८५

विकेन्द्रीत न किया जाए तो लोकतन्त्र का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। विकेन्द्रीकरण के प्रश्न पर ही प्रो॰ जोड ने अपनी रचना "माडर्न पॉलिटिकल थीअरी" मे लिखा है – "यदि सामाजिक कार्य मे मानव विश्वास को पुनर्जीवित करना है तो राज्यो को खण्डो मे विभक्त एव उसके कार्य भार को वितरित करना ही होगा।[1]

यदि इस प्रकार लोकतन्त्र मे सत्ता का पूर्ण रूप से विकेन्द्रीकरण हो जाए तो प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता मे सीधी भागीदारी होगी और वह अपने को शासक समझेगा। प्रजा ही सत्ता के रूप मे रूपान्तरित हो जाएगी। प्रजा ही शासन और वही शासित भी होगी। इसको स्पष्ट करते हुए गॉधीजी कहते हैं – "प्रजा की सत्ता बन गई, इसका यह मतलब नहीं है कि राज्य दिल्ली से चले। अगर वैसी सत्ता बन जाती है तब तो वह प्रजा के मार्फत ही बनेगी और उसमे देहात के लोग रहेगे।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि सत्ता मे प्रत्येक व्यक्ति की बराबर भागीदारी होगी और वह सही रूप में विकेन्द्रित प्रजातन्त्र होगा।

[iv] ग्रामीण गणराज्य

गॉधीजी के ग्रामीण गणराज्य की कल्पना उनके राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का ही अनिवार्य परिणाम है। उन्होने कहा – "प्रत्येक गॉव गणराज्य या पचायत होगा जिसके पास सारी शक्तियॉ होगी। इसलिए प्रत्येक गॉव आत्मनिर्भर होगा अपनी समस्या को खुद सुलझाने योग्य होगा, यहॉ तक कि बाहरी सुरक्षा के लिए अपने ही पैरो पर खडा होना पडेगा चाहे उसे मिट ही क्यो न जाना पड़े। इसलिए अन्ततोगत्वा व्यक्ति ही ईकाई होगा। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि पडोसियो को या बाहरी दुनिया की स्वेच्छा से की गई सहायता भी ग्रहण नहीं की जाएगी। ऐसा समाज निश्चय ही उच्च सास्कृतिक समाज है जिसमे प्रत्येक स्त्री व पुरुष जानता है कि उसे क्या करना चाहिए। उससे भी अधिक यह जानते हैं कि उन्हे वह चीज कभी प्राप्त नहीं करनी चाहिए जिसे दूसरा व्यक्ति उतना ही कार्य करके नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार की व्यवस्था मे जिसमे अगणित गॉव होगे, जीवन सूची–स्तम्भ (पिरामिड) की भाति नहीं होगा जिसमे शिखर का बोझ तल को वहन करना पड़ता है। लेकिन यह एक महासमुद्राकारवृत्त होगा, जिसका केन्द्र होगा, वह व्यक्ति जो गाँव के लिए मर मिटने को सदा प्रस्तुत रहेगा और गाँव प्रस्तुत रहेगा गॉवो के वृत्त के लिए आत्मोसर्ग करने को। इस क्रम

वही पृष्ठ – १८६
गाँधी विचार रत्न, पृष्ठ – २००

से अन्ततोगत्वा समष्टि ऐसे व्यक्तियो से निर्मित जीवन बन जाएगी जो अहकार के वशीभूत हो कभी आक्रामक नहीं होगे बल्कि सदा विनीत रहकर उस महासमुद्राकारवृत्त के बहुलाश के सहभागी बनेगे जिसकी वे अभिन्न ईकाईयॉ हैं। अतएव बाहरी परिधि अन्दर की परिधि को कुचलने के लिए शक्ति सचय नहीं करेगी बल्कि अन्दर के वृत्त को शक्ति प्रदान कर स्वय भी उससे शक्ति सग्रह करेगी।[1]"

गॉधीजी जिस समाज की परिकल्पना करते हैं वह समाज राजकीय नियमो से शासित नहीं होगा बल्कि आत्मानुशासन से सचालित होगा। यहॉ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि – गॉधीजी के अहिंसक राज्य के अन्तर्गत राजकीय नियम का तात्पर्य उन नियमो से नहीं है जो हिंसा पर आधारित हैं। बल्कि गॉधीजी के अहिंसक राज्य के नियम हैं – सत्य अहिंसा प्रेम आदि। आत्मानुशासन की परिधि मे सत्य अहिंसा और प्रेम आदि ही है।

गॉधी के अनुसार – "अहिंसा पर आधारित समाज की रचना केवल गॉवो मे बसे उन समुदायो द्वारा हो सकती है जो गौरवयुक्त, शातिपूर्ण अस्तित्व के लिए स्वेच्छया सहयोग की शर्त को स्वीकार करते हैं।"[2]

गॉधीजी द्वारा वर्णित ग्राम समुदाय का निम्न प्रकार से काय क्षेत्र होगा। जहॉ तक सभव होगा ये समुदाय सहकारिता की भावना से आचरण करेगे। इस प्रकार के गॉव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और पूर्ण प्रजातन्त्र पर आधारित होगे। उन्होने लिखा है – ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम् जरुरतो के लिए अपने पडोसियो पर भी निर्भर नहीं करेगा और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरुरतो के लिए जिनमे दूसरो का सहयोग अनिवार्य होगा वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस प्रकार हर एक गॉव का पहला कार्य होगा कि वह अपनी जरुरत का तमाम अनाज और कपड़ो के लिए पूरा कपास खुद पैदा कर ले। उनके पास इतनी अधिक जमीन हो जो जानवर के चारागाह के रूप मे प्रयोग किया जा सके और खेल–कूद के मैदान के रूप में प्रयोग किया जा सके। प्रत्येक गॉव के पास नाटकशाला, पाठशाला और सभाभवन रहेगा। जल के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा जिससे गॉव के सभी लोगो को शुद्ध पानी मिला करेगा। बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहॉ तक हो सकेगा गॉव के सभी कार्य सहयोग के आधार पर किए जाएगे। जात–पात और क्रमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाए जाते हैं, वैसे इस ग्राम समाज मे बिल्कुल नहीं रहेगे। सत्याग्रह और असहयोग के

---

1 हरिजन २८ जुलाई १९४६ एव गॉधी – पचायत राज, पृष्ठ – ११–१२

2 हरिजन, १३ १ १९४०, पृष्ठ – ४११

शास्त्र के साथ अहिसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी। गॉव की रक्षा के लिए ग्राम सैनिको का एक ऐसा दल रहेगा जिसे लाजिमी तौर पर बारी–बारी से गॉव के चौकी पहरे का कार्य करना होगा। गॉव का शासन चलाने के लिए हर साल गॉव के पॉच आदमियो की एक पचायत चुनी जाएगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गॉव के बालिग स्त्री–पुरुषो को अधिकार होगा कि वे अपने पच चुन ले। इन पचायतो को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेगे। इस ग्राम–शासन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण प्रजातन्त्र कार्य करेगा। व्यक्ति ही अपनी सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनो अहिंसा के नियम के वश होकर चलेगे। अपने गॉव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति के साथ मुकाबला कर सकेगा क्योकि हर एक देहाती के जीवन का सबसे बडा नियम होगा कि अपनी और अपने गॉव की इज्जत की रक्षा हेतु मर मिटे।[1]

गॉधीजी ने कहा है – "यदि प्रत्येक गॉवो का जनतन्त्र भारत मे कभी होता है तो मैं विविध प्रकार के चित्रो का दावा कर सकता हूँ, जिसमे अन्तिम चित्र प्रथम के बराबर होगा या यह कह सकते हैं कि न तो कोई प्रथम होगा न कोई अतिम।"[2] गॉधी की इस युक्ति से स्पष्ट है कि राज्य के अन्तर्गत अनेक प्रकार के स्वाधीन सगठन होगे परन्तु उनमे से कोई बडा या छोटा कहलाने लायक नहीं रहेगा सभी बराबर होगे। व्यक्ति और व्यक्ति का गॉव और गॉव का सभी सस्थाओ का आपस मे समानता का सम्बन्ध रहेगा। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र रहेगे। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अपने पडोसियो से या विश्व से सहायता नहीं ले सकते। इसका इतना ही अर्थ है कि वे सहायता स्वतन्त्रता पूर्वक और स्वेच्छा से लेगे, दबाव या लाचारी से नहीं।[3] **उन्होने ग्रामीण गणराज्य के विषय में कहा - यदि मेरा यह सपना पूरा हो जाए तो भारत मे सात लाख गॉवो मे से प्रत्येक गॉंव में समृद्ध प्रजातन्त्र बन जाएगा। उस प्रजातन्त्र का कोई व्यक्ति अनपढ़ न रहेगा, काम के अभाव मे कोई बेकार न रहेगा, व्यक्ति किसी न किसी कमाऊ धन्धे मे लगा रहेगा।** प्रत्येक व्यक्ति को खाने पीने के लिए पौष्टिक वस्तुए, रहने को स्वच्छ हवादार मकान और तन ढकने को पर्याप्त खादी मिलेगी और प्रत्येक ग्रामवासी को सफाई और आरोग्य के नियम मालूम होगे और वह उनका पालन किया करेगा।

---

1 गॉधी – समग्र – आर.के. प्रभु, पचायत राज, पृष्ठ – १३–१४ एव हरिजन, २८४२

2 हरिजन, २८७४६

3 हरिजन २८७४६

यही गॉधी के आदर्श अहिंसक ग्रामीण गणराज्य की कल्पना है। कुछ लोग इसे अव्यवहारिक मान सकते हैं पर इसे आदर्श मानकर चलने मे कोई हानि नहीं है। आदर्श जितना ही उत्तम होगा हमारे व्यवहार मे उतनी ही उत्कृष्टता विद्यमान रहेगी।

[v] शासन व्यवस्था

गॉधीजी के धारणा की सर्वोत्तम शासन प्रणाली वह है जिसका आधार सत्य अहिंसा न्याय, स्वतन्त्रता समानता आदि की धारणाओ को साकार करता हो। वह एक ऐसी धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था होगी जो राजनीति को धर्म पर आधारित अवश्य रखेगी परन्तु ऐसा धर्म साम्प्रदायिक नहीं बल्कि मानवीय नैतिकता को अपनाने वाला धर्म होगा। राज्य का कोई अपना धर्म नहीं होगा। ऐसी शासन व्यवस्था मे ईश्वर की सत्ता सर्वोच्च मानी जाएगी। अत इन सिद्धान्तो का आचरण करने वाली कोई भी परपरागत शासन प्रणाली सर्वोत्तम सिद्ध हो सकती है। गॉधीजी ने इसलिए अपने आदर्श राजनीतिक व्यवस्था हेतु पहले राजनीति के अध्यात्मीकरण पर जोर दिया।

[vi] राजनीति का अध्यात्मीकरण

राजनीति मे गाँधीजी का आगमन ऐसे समय मे हुआ था जब देश पराधीन था। शासक वर्ग देश का शोषण कर रहा था तथा देश की राजनीतिक स्थिति दयनीय थी। अविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, कलह तथा साम्प्रदायिकता, स्वार्थ और कपट का चारो तरफ बोलबाला था। राजनीति और धर्म का दूर–दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं था। सम्पूर्ण मानवता का भविष्य अधकारमय था। ऐसी स्थिति में गाँधीजी ने राजनीति के आध्यात्मीकरण के लिए प्रयास किया और कहा कि – **"मेरे लिए धर्म से शून्य राजनीति का अस्तित्व नहीं है। राजनीति धर्म की सेविका है धर्म से रहित राजनीति मृत्यु का फन्दा है, क्योकि वह आत्मा को मार ड़ालती है।"**[1]

उन्होने अहिंसा और सत्य को ही धर्म माना और उसे राजनीति मे स्थान दिया। धर्म से रहित राजनीति का उनके लिए कोई मूल्य नहीं था। उनका विचार था "राजनीति को शुद्ध और पवित्र होना चाहिए, क्योकि राजनीति मानवता के साथ जुड़ी हुई है। इसलिए उसका आध्यात्मीकरण आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सका तो धूर्तता और प्रवचना पर आधारित राजनीति वास्तविकता में अधिकाधिक धूर्तता और प्रवचना फैलाएगी। घृणा से घृणा और हिंसा से हिंसा फैलना स्वाभाविक है। इसलिए

हिन्दू धर्म, पृष्ठ – १४

राजनीति के आध्यात्मीकरण के अतिरिक्त हमारे पास दूसरा कोई रास्ता नहीं है।"[1] यदि राजनीति को राजनीति रहने देना है मानव कल्याण का साधन बनाना है तो उसका आध्यात्मीकरण करना आवश्यक है। गॉधीजी का कथन है – "मैं राजनीति और धर्म को एक दूसरे से अलग नहीं समझता। सच्चा धर्म जीवन की हर एक प्रवृत्ति मे व्याप्त होना चाहिए।"[2] गॉधी धर्म को विशिष्ट सम्प्रदाय जाति या राष्ट्र की वस्तु नहीं मानते थे। उनके अनुसार धर्म व्यापक है यह मानव मात्र के कल्याण की आधार भूमि है। उनकी रुझाान राजनीति को धर्म से ओत–प्रोत देखने की थी। इसलिए उन्होने कहा मेरी रुझान राजनीतिक नहीं धार्मिक है।[3] गॉधीजी राजनीति मे रहते हुए भी धार्मिक रहे। उनकी राजनीति धर्म से प्रभावित रही, उनकी राजनीति को धर्म एव अध्यात्म से अलग करना सम्भव नहीं।

आज आधुनिक राजनीति शास्त्री इस तथ्य को स्वीकारने लगे हैं – जय प्रकाश नारायण ने गॉधीजी के इन विचारो का सर्मथन करते हुए कहा – राजनीति का आध्यात्मीकरण आवश्यक है। वास्तविक राजनीति वास्तव मे भ्रातृत्व का विस्तार है, इस दृष्टि से राजनीति नीति का ही विस्तार माना जाएगा। आदर्श से आदर्श राजनैतिक व्यवस्था एव सविधान तभी कारगर हो सकते हैं जब उनको चलाने वाले लोग नैतिक एव आध्यात्मिक गुणो से सम्पन्न हो।[4] राजनीति से नैतिकता को अलग करना एक अदूरदर्शिता होगी। क्योकि राजनीति की समस्या मूलत एक नैतिक समस्या है।

गॉधीजी ने इन्हीं आदर्शो को ध्यान मे रखते हुए एक आदर्श शासन की कल्पना की थी और राजनीति को धर्म पर आधारित करने पर बल दिया।

गॉधीजी अहिंसक शासन व्यवस्था मे विश्वास करते थे लेकिन उनका मानना था कि – शासन चूँकि समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है अत पूर्णत अहिंसक नहीं बन सकता।[5] तथा यह अवश्य स्मरणीय है कि ससार मे कहीं भी ऐसा राज्य नहीं है जो बिना शासन के चलता हो।[6] अतएव वे यह स्वीकार करते हैं कि – "मैं आज भी ऐसे स्वर्ण युग की आशा नहीं करता किन्तु मैं प्रमुखत अहिंसक, समाज की सभावना पर विश्वास तो करता ही हूँ और मैं उसी के लिए कार्य कर रहा हूँ।"[7]

---

1 डॉ. रामजी सिह – गॉधी दर्शन मीमासा पृष्ठ – १६३

2 डॉ. रामजी लाल सहायक – महात्मा कबीर एव महात्मा गाँधी के विचारों में तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ – २४३

3 वही, पृष्ठ – २४०

4 जयप्रकाश नारायण – ए प्ली फॉर रिकन्सट्रक्शन ऑफ इण्डियन पौलिटि, पृष्ठ – ३

5 हरिजन, ६ मार्च १९४०

6 वही, १५ सितम्बर १९४६

7 वही, ६ मार्च १९४०

गॉधीजी के अनुसार जब तक समाज मे परस्पर विरोधी वर्ग है तब तक जनहित विरोधी प्रत्येक स्वार्थ के सशोधन के लिए या असशोधनीय हाने पर उसके दमन के लिए राज्य को अपनी शक्ति का प्रयोग करना ही होगा।[1]

[vii] अपराध तथा दण्ड

गॉधीजी अपराधो को दोषपूर्ण सामाजिक पद्धति का कारण मानते हैं। जब तक मानव अपूर्ण स्थिति मे रहेगा और सामाजिक जीवन अहिंसा के आदर्शों के अनुसार सचालित नहीं होगा तब तक अपराधो की प्रवृत्ति का भी अन्त न हो सकेगा। उनकी धारणा थी कि अहिंसक राज्य मे अपराध भले ही हो, परन्तु किसी के साथ भी अपराधी जैसा व्यवहार नहीं किया जाएगा।[2] चूँकि दोषपूर्ण सामाजिक पद्धति के कारण ही अपराध होते हैं अत हत्यारे को भी रोगी ही समझा जाएगा। जेल ऐसे रोगी अपराधियो के लिए आरोग्य केन्द्र होगा जहॉ उनका मानसिक उपचार होगा। जिसमे अन्य भवन की जरुरत नहीं होगी, जेल पदाधिकारी डाक्टर की भॉति व्यवहार करेगे जिसमे अपराधी उन्हे अपना मित्र मानेगे।[3]

गॉधीजी मानव दुर्बलताओ से परिचित थे, इसलिए वे उसका उपचार चाहते थे। उन्होने व्यावहारिक चिन्तक होने के कारण दण्ड व्यवस्था या नियन्त्रण को पूर्णतया समाप्त करना सम्भव नहीं समझा, किन्तु उनकी धारणा थी कि दण्ड को भी अहिंसक होना चाहिए। अपराधी को बदले की भावना से दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए और न ही दूसरे लोगो को भयभीत करना या डराना धमकाना दण्ड का लक्ष्य होना चाहिए। वरन् इसका लक्ष्य होना चाहिए सुधार। उनकी धारणा थी कि – "राज्य अपराधियो के प्रति कम से कम बल का प्रयोग करेगा। राज्य का उद्देश्य अपराधी से बदला लेना या दण्ड के डर से अपराधो को रोकना नहीं होगा, जैसा कि बार–बार जेल जाने वाले अपराधियो की बडी सख्या से सिद्ध होता है। ये दोनो उद्देश्य अपराधी की सामाजिक प्रवृत्ति को कुठित करते हैं और समाज तथा अपराधी दोनो के लिए हानिकारक हैं। सत्याग्रही राज्य का उद्देश्य अपराधी का सुधार होगा। अहिंसक दण्ड विधि मे अपराधी को आज–कल की तरह डराने–धमकाने, अपमानित करने और यातना देने का स्थान न होगा। प्रकट है कि मृत्यु दण्ड का अन्त हो जाएगा क्योंकि वह

1 यग इण्डिया, १७ सितम्बर १६३१
2 हरिजन ५ ५ १६४६, पृष्ठ – १२४
3 वही, २ ११ ४७

अहिसा के विपरीत है। अहिंसक राज्य मे हत्या का अपराधी सुधार गृह मे भेज दिया जाएगा और वहॉ उसे अपने को सुधारने का अवसर दिया जाएगा।[1]"

गॉधीजी का मत था कि पाप से घृणा करो – पापी से नहीं। अत किसी व्यक्ति द्वारा कोई अपराध करने पर वे सुधार के पक्षपाती थे ताकि भविष्य मे पुन अपराध की पुनरावृत्ति न हो। वे दण्ड के निवर्तनवादी और प्रतिकारवादी सिद्धान्त के विरोधी थे। उनके अनुसार दण्ड का उद्देश्य न तो अपराधी को बदला लेकर यातना देना होना चाहिए और न ही सार्वजनिक ढग से अमानुषिक या कठोर दड देना चाहिए। ये दोनो व्यवस्थाएँ अपराधी या सभावित अपराधियो के मन मे प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। इसके द्वारा अपराध मे हुई क्षति की पूर्ति नहीं हो सकती। सार्वजनिक रूप से कठोर दण्ड बर्बरता के युग की व्यवस्था है न कि सभ्य जीवन की। वे अपराधियो को जेलो मे नैतिक तथा औद्योगिक शिक्षा दिए जाने के पक्के समर्थक थे, ताकि वे अपने अपराध के लिए पश्चाताप करने का अवसर पा सके। जेल से मुक्त होने के बाद मे अपने आजीविका के साधन पा सके। उन्होने जेलो मे कताई, कृषि, बुनाई आदि की शिक्षा पर बल दिया और जेलो मे अपराधियो से बदला लेने की प्रवृत्ति की निन्दा की। उनका मत था कि **जेलखानो का उद्देश्य सुधार-गृह, अस्पताल और स्कूल का होना चाहिए जो दोषमुक्त व्यक्तियो को अहिंसक जीवन मार्ग की शिक्षा दे।**[2]

[viii] पुलिस एव सेना

गॉधीजी अहिंसक राज्य मे पुलिस बल की आवशकता को स्वीकार तो करते हैं लेकिन वे पुलिस के वर्तमान हिंसक ढगो मे सुधार द्वारा पूर्णत परिवर्तन के पक्षधर थे। उन्होने लिखा है – **"मेरी धारणा थी पुलिस आज की पुलिस वाहिनी से बिल्कुल भिन्न प्रकार की होगी। अहिंसा के विश्वासियों को लेकर इसका गठन किया जाएगा। वे जनता के स्वामी नहीं, सेवक होगे। जनता स्वाभिक रूप से उन्हे सब प्रकार की सहायता देगी एव पारस्परिक सहयोग द्वारा सतत् घटते जाने वाले उपद्रवों का सहज ही नियत्रण कर सकेगे। पुलिस वाहिनी के पास कुछ शस्त्राशस्त्र तो होंगे ही किन्तु उनका प्रयोग वे बहुत कम कदाचित् ही करें। वस्तुत पुलिस के लोग सुधारक होगे। उनका पुलिस सम्बन्धी कार्य चोरों – डाकुओं तक ही सीमित रहेगा।"**[3]

---

1 हरिजन २७ अप्रैल १६४० पृष्ठ –१०१

2 हरिजन, ८ ११६३८, पृष्ठ – ४११

3 वही, १ सितम्बर १६४०

गॉधी के अनुसार अहिंसक राज्य मे सेना की आवश्यकता नहीं होगी। १६४६ मे उन्होने कहा – "सच्चे जनतन्त्र को किसी भी प्रयोजन के लिए सेना पर आश्रित नहीं रहना चाहिए। सैनिक सहायता पर निर्भर रहने वाला राज्य नाम मात्र का जनतन्त्र हो जाएगा। सैनिक शक्ति मस्तिष्क के स्वतत्र विकास मे बाधा डालती है। वह मनुष्य के आत्मा का विनाश करती है।[1] अत विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिए भी सेना के प्रयोग की वे अनुमति नहीं देते हैं प्रतिरक्षा की समस्या का हल वे निकेन्द्रित व्यवस्था के द्वारा करते हैं। उनके अनुसार – प्रत्येक नागरिक और गॉव मे इतनी क्षमता होनी चाहिए जो विश्व के विरुद्ध अपने स्वातत्र्य की रक्षा कर सके।[2] किन्तु यह तभी सभव होगा जबकि सत्य एव अहिंसा के अभ्यास द्वारा सत्याग्रह का सिद्धान्त जनता द्वारा आत्मसात् कर लिया गया हो अन्यथा सैनिक सगठन अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति मे गॉधीजी सैनिक सगठन का विरोध नहीं करेगे। उनका कहना है – यदि भारत की राष्ट्रीय सरकार बने तो यद्यपि मैं उनके सैनिक प्रशिक्षण मे कोई प्रत्यक्ष हिस्सा नहीं लूँगा तथापि जो ऐसा प्रशिक्षण लेना चाहते हैं मैं उनका विरोध नहीं करुगॉ। क्योकि मैं जानता हूँ कि उसके (सरकार के) सदस्य अहिंसा पर उस सीमा तक विश्वास नहीं भी कर सकते हैं, जिस सीमा तक मैं करता हूँ। किसी व्यक्ति या समाज को विवश कर अहिंसक बनाना सम्भव नहीं है।

सी॰ एफ॰ एन्ड्रूज ने गॉधीजी के विचारो का मूल्याकन करते हुए ठीक ही कहा है कि – **"अहिंसक राज्य मे वे पूर्णतया अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विकेन्द्रित सुरक्षा के पक्षधर थे। ग्रामीणो और नागरिको को अपनी स्वतन्त्रता के लिए विश्व के विरुद्ध सुरक्षित रखने की क्षमता रखने के पक्षधर थे।"** पुलिस और सेना आधुनिक प्रजातन्त्र मे विधि के एक अग माने जाते हैं। लेकिन सत्याग्रही राज्य इस पर आधारित नहीं है। लेकिन मानव की अपूर्णता हिंसा, कानून विहीनता के दौरान आशिक रूप से सुधारात्मक तरीके के लिए अहिंसक राज्य मे भी सेना और पुलिस की आवश्यकता पडेगी। परन्तु उल्लेखनीय है कि राज्य मे ये दोनो तत्व सदैव विद्यमान नहीं रहेंगे। पूर्णता की प्राप्ति के साथ ही इनका स्वत अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

[ix] न्याय-व्यवस्था

व्यक्ति के अधिकारों, स्वतन्त्रता तथा समानता की रक्षा के लिए स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्याय व्यवस्था आवश्यक है। परन्तु जब तक न्याय सरल, सुगम तथा सस्ता नहीं होता तब तक उसका कोई

1 हरिजन ६ जून १६४६, पृष्ठ – १६६

2 वही ४८४६ पृष्ठ – २५२

महत्व नहीं होता। न्याय के सम्बन्ध मे उनकी धारणा थी कि राज्य न्याय सम्बन्धी कार्य भी करेगा। यथा सभव यह कार्य पचायतो के द्वारा होना चाहिए जिनके सदस्यो की नियुक्ति साधारणत किसी मामले से सम्बन्धित दोनो पक्ष करे। व्यक्ति के अधिकारो स्वतन्त्रता तथा समानता को बनाए रखने के लिए वे स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्याय को बहुत आवश्यक मानते थे। लेकिन जब तक न्याय सरलता और सुगमता कें साथ सस्ता नहीं हो जाता तब तक उसका कोई अर्थ नहीं। भारत मे ब्रिटिश शासको ने जैसी न्याय पद्धति कायम की थी, वह उक्त सुविधाओ से रहित थी। गॉधीजी ने ऐसी न्याय व्यवस्था की कटु आलोचना की है। उन्होने इन ब्रिटिश अदालतो का विरोध करते हुए लिखा – "अग्रेजी अदालते यहॉ न होती तो वे हमारे देश मे राज क्या कर सकते थे ? ये अदालते लोगो के भले के लिए नहीं है। जिन्हे अपनी सत्ता कायम रखनी है वे अदालतो के जरिए लोगो को बस मे रखते हैं। लोग अगर खुद अपने झगडे निपटा ले तो तीसरा आदमी उन पर अपनी सत्ता नहीं जमा सकता।"[1] गॉधीजी ने न्यायालय की आलोचना के साथ–साथ वकीन्लो की भी कटु आलोचना की है, जब कि वे स्वय वकील थे। इस व्यवसाय ने उन्हे यह अनुभव करने का अवसर दिया कि न्यायालयो मे वकीलो के बिना न तो वादी–प्रतिवादी अपना पक्ष सरलता से प्रस्तुत कर सकते हैं और न न्यायाधीश ही उसके बिना कानूनी प्रक्रिया समझकर निर्णय देने का सामर्थ्य रखते हैं, अत न्याय खरीदा जाता है। जो पक्ष वकील को फीस देने म समर्थ नहीं है वह न्याय प्राप्ति करने से वचित रह जाता है। उन्होने कहा – "वकील तो आम तौर पर झगडा आगे बढाने की ही सलाह देता है। लोग दूसरों का दु ख दूर करने के लिए नहीं, बल्कि पैसा पैदा करने के लिए वकील बनते हैं। वह एक कमाई का रास्ता है। इसलिए वकील का स्वार्थ झगडा बढाने मे है।"[2]

न्यायालयो के सन्दर्भ मे गॉधीजी की धारणा यह थी कि वे जन–कल्याण के लिए नहीं होते। वे **इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि लोगों के झगड़े मे तीसरा न्याय कर सकता है।** उनके अनुसार **"तीसरे का निर्णय हमेशा सही नहीं होता। दोनो पक्ष ही जानते हैं कि कौन सही है। हम अपनी सरलता और अज्ञानता के कारण यह कल्पना कर बैठते हैं कि एक अजनबी हमसे पैसा लेकर हमें न्याय देगा।"[3]**

न्याय व्यवस्था मे सुधार लाने के लिए वे कहते हैं कि – "न्याय व्यवस्था को सस्ता होना चाहिए। दीवानी मुकदमो मे दोनो पक्षो को अधिकतर मामलो को न्यायाधिकरण के लिए छोड़ देना

1 गॉधी – हिन्द स्वराज्य पृष्ठ – ४०

2 गाँधी – हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ – ३६

3 वही, पृष्ठ – ४०

चाहिए। भ्रष्टाचार के मामलो को पचायतो पे छोड देना चाहिए नथ। बीच के न्यायालयो के बहुलता को समाप्त कर देना चाहिए। केस लॉ को समाप्त कर देना चाहिए और सामान्य प्रक्रिया को सरल कर देना चाहिए।"[1]

इस प्रकार गॉधीजी राज्य के न्यायिक कार्यों का सूक्ष्मीकरण कर देते हैं। नए राज्य मे अपराध और उपद्रव समाप्त हो जाएगे। लोग सामान्यतया अदालती कार्यों से बचने की कोशिश करेगे। अपने विवादो को आपसी समझदारी और समझौतो से समाधान कर लेगे। यदि थोडे बहुत विवाद कानूनी अदालतो पर आ भी गए तो न्याय सस्ता तीव्र और पर्याप्त होगा।

१ ७ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

भारतीयता गॉधीजी के समस्त विचारो का क्षेत्र है। भारत के स्वतन्त्रता सग्राम मे उनकी राष्ट्र सेवा तथा भक्ति इतनी महान् थी कि देशवासियो ने उन्हे राष्ट्रपिता कहा है। **एक कट्टर राष्ट्रवादी नथा राजनेता होते हुए भी गॉधीजी हीगल की भाति उग्र राष्ट्रवादी नहीं बन जाते**। वे एक सच्चे मानवतावादी तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। वे इसीलिए आदर्श मानव के विकास के लिए स्वावलम्बी ग्रामीण प्रजातन्त्रो की स्थापना चाहते थे तथा उन गॉवो मे परस्पर आर्थिक एव सास्कृतिक सहयोग की भावना के विकास की उनकी इच्छा थी जिसके फलस्वरूप व्यक्ति इस प्रकार के अनुकूल ग्रामीण वातावरण मे रहकर सामाजिकता और नैतिकता की भावना सीख लेगा जिससे उसमे सहज ही सम्पूर्ण मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाएगा। फिर उसको राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाऍ भी नहीं बॉध सकेगी। कोई भी सस्कृति एक दूसरे से बिल्कुल अलग रह कर नहीं कायम रह सकती। इसीलिए गॉधीजी सास्कृतिक विकास के लिए सास्कृतिक समन्वय चाहते थे। उन्होने कहा – **पश्चिम से हमे जो अच्छी चीजे मिले उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए और यह है जन स्वास्थ्य का विज्ञान। मेरी देश भक्ति सकुचित नहीं है और इसमे किसी दूसरे के लिए किसी प्रकार का बैर भाव नहीं है। इसलिए यद्यपि मैं पाश्चात्य भौतिकतावाद से बराबर संशकित रहता हूँ। फिर भी, पश्चिमी सभ्यता में जो अच्छाइयॉ हैं, उनका मैं सदैव स्वागत करता हूँ।**[2] उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि गॉधीजी की देशभक्ति एव राष्ट्रीयता की आधारभूत एकता और समता पर आधारित है। इसलिए यहाँ तक कि राष्ट्रीयता में कट्टरता नहीं थी। असल मे भारतीय मानवता राष्ट्रीयता की आधारभूत एकता

[1] यग इण्डिया, ११ पृष्ठ – ४३६

[2] यग इण्डिया २६ १२ १६२४

और समता पर आधारित है इसलिए यहॉ कि राष्ट्रीयता सदैव अन्तर्राष्ट्रीयतोन्मुख रही है। गॉधीजी ने लिखा है – "पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना का यह अर्थ नहीं है कि हमारा देश सबसे अलग रहकर स्वतन्त्रता का उपभोग करे, बल्कि विश्व के राष्ट्रमण्डल मे उनका एक दूसरे से स्वस्थ एव सम्मानपूर्ण सहयोग रहे। हमारी स्वतन्त्रता किसी दूसरे राष्ट्र के लिए कोई खतरा नहीं बनेगी। जिस प्रकार हम अपना शोषण नहीं होने देगे, ठीक उसी प्रकार हम किसी दूसरे का शोषण भी नहीं करेगे। अत हम अपने स्वराज्य के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की सेवा करेगे।"[1]

गॉधीजी का विचार था कि – राष्ट्रीयता जब कुरूप हो जाती है तब वह स्वार्थ मे अधी होकर दूसरे राष्ट्रो का शोषण करने लगती है। भारत वर्ष मे ब्रिटिश शासन के स्वामीभक्त अग्रेजो ने अपनी दृष्टि से राष्ट्र प्रेम का सबूत दिया लेकिन ऐसी राष्ट्रीयता जो एक दूसरे राष्ट्र को दरिद्र बनाकर उसके रक्त की अतिम बूद तक पान करने को उत्सुक हो, वह राष्ट्रीयता नहीं पाशविकता है। यही कारण था कि ब्रिटिश राज्य के हित मे नीति अनीति को अपनाने वाले वारेन हेस्टिग्स को अपने देश की ससद मे घोर आरोपो का सामना करना पडा था और मानवीयता के नाम पर उसके कृत्यो को निर्ममतापूर्वक अनैतिक घोषित किया गया था। अगर यही चेतना स्थायी रूप से आग्ल शासन की निर्देशिका होती तो एक विकृत राष्ट्रीयता का रूप हमारे समक्ष नहीं आता।[2]

गॉधीजी के लिए राष्ट्रवादिता देश की आजादी का प्रतीक था। परन्तु सम्पूर्ण मानव जाति या विश्वबधुत्व के लिएं वे राष्ट्रीयता को परित्याग करने को तत्पर थे। विश्व प्रेम का चिन्तन ही गॉधीजी की राष्ट्रीयता एव अन्तर्राष्ट्रीयता थी। इसलिए उन्होने लिखा – **"मै भारत को स्वतन्त्र और शक्तिशाली इसलिए देखना चाहता हूँ कि वह विश्व के कल्याण के लिए नि स्वार्थ त्याग करने को उद्यत रहे।** जिस प्रकार स्वतन्त्र व्यक्ति परिवार के हित के लिए, अपने व्यक्तिगत हित का बलिदान करता है, उसी प्रकार परिवॆार जनपद के लिए, जनपद सम्पूर्ण जिले के लिए, जिला सम्पूर्ण प्रान्त के लिए, प्रान्त सम्पूर्ण देश के लिए और देश सम्पूर्ण विश्व के लिए अपना बलिदान करे।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गॉधीजी की राष्ट्रीयता एव अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** एव **"सर्ववसुन्धरा मा भ्रात "** की भावना से अभिभूत थी।

गॉधीजी की उपर्युक्त नीति पर ही उनका समाजवाद आधारित है।

---

[1] वही, २६ ३ १६३६

[2] वही, १६ ४ १६३१ पृष्ठ – ७६

[3] यग इण्डिया, १७ सितम्बर १६२५

१८ *गॉधी प्रतिपादित समाजवाद*

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी मे पाश्चात्य देशो मे अनेक राजनीतिक विचारधाराए आयीं। भारत मे इस समय के चिन्तको के विचार पूर्णतया भारतीय परिस्थितियो के सदर्भ मे विकसित हुए। परन्तु पाश्चात्य देशो मे विकसित समाजवादी विचारधाराओ ने भारत के कुछ समाजवादी चिन्तको को प्रभावित किया। जयप्रकाश नारायण आचार्य नरेन्द्रदेव जवाहरलाल नेहरू अशोक मेहता आदि कई महापुरुषो ने समाजवाद पर भारतीय परिस्थितियो के अनुरूप विचार रखे। भारत के कई राजनेता मार्क्सवादी साम्यवादी विचारो से भी प्रभावित हुए परन्तु अन्य पाश्चात्य विचारधाराओ का प्रभाव भारतीय विचारको पर नहीं पाया जाता है। उदाहरणार्थ – व्यक्तिवाद उपयोगितावाद, प्रत्ययवाद, श्रेणी समाजवाद श्रम–सघवाद, बहुलवाद फॉसीवाद आदि।

गॉधीवाद किसी एक राजनीतिक विचारधारा को नहीं अपनाता। परन्तु उसमे उक्त पाश्चात्य विचारधाराओ मे से किसी एक की काफी आलोचना की गई है तो किसी के गुणो को अपनाया भी गया है। गॉधीजी पर इनमे से सबसे अधिक प्रभाव समाजवादी विचारधाराओ का पड़ा। गॉधीजी ने अपने को कभी किसी राजनीतिकवाद से नहीं जोडा। समाज के विभिन्न रूपो मे से न तो वे राज्य समाजवादी है और न लोकतन्त्र समाजवादी और न मार्क्सवादी या साम्यवादी।

गॉधीजी ने १९०४ मे ही **रस्किन** के विचारो से प्रभावित हो समाजवाद के विषय मे कहा था –

"एक वकील के कार्य का वही मूल्य है जो एक नाई के कार्य का, क्योकि दोनो को अपने कार्यो से अपनी आजीविका उपार्जन करने का समान अधिकार प्राप्त है।"[1]

गॉधीजी समाजवादी तो थे पर उनका समाजवाद स्वदेशी था, वह मार्क्स और एन्जिल्स से लिया हुआ समाजवाद नहीं था। उनका समाजवाद उनकी अहिंसा का परिणाम है। जो अहिंसावादी होगा वह सामाजिक अन्याय मे कभी भी विश्वास नहीं कर सकता।[2] उनका कहना था समाजवाद पूँजीपतियो के पूँजी के दुरुपयोग के साथ ही प्रारम्भ नहीं होता, भारतीय समाजवाद तो ईशोपनिषद्[3] के प्रथम श्लोक मे ही विद्यमान था। उन्होंने आगे कहा – सच्चा समाजवाद हमें अपने पूर्वजों से विरासत में मिला है,

---

[1] माई एक्सपेरिमेन्ट्स, पृष्ठ – ३

[2] हरिजन २० अप्रैल १९४०

[3] ईशावास्यमिद सर्व यत्किन्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृध कस्यस्विद् धनम्।। – ईशोपनिषद् १

जिनकी शिक्षा थी – "**सबै भूमि गोपाल की।** फिर इसमे सीमा रेखा कहॉ ? वह तो मनुष्य की बनाई हुई है, अतएव वह उसे मिटा भी सकता है। गोपाल का शब्दार्थ है (गाय पालने वाला) मगर गोपाल का यहॉ आधुनिक समय मे अर्थ है राज्य अर्थात् जनता। आज भूमि जनता की नहीं है यह सच है किन्तु इसमे शिक्षा का दोष नहीं है। यह तो हमारा दोष है कि हम इसके अनुरूप नहीं चल सके। मुझे इसमे कोइ सन्देह नहीं है कि हम इसका पालन यथासभव अच्छी तरह कर सकते हैं। यह आदर्श सार्वभौम रूप से तभी उपलब्ध किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ के उत्पादन के साधन जनता के नियत्रण मे हो जिस प्रकार ईश्वर द्वारा रचित वायु और जल सबको सुलभ है या होने चाहिए उसी प्रकार उत्पादन के साधन भी सबको सहज रूप से उपलब्ध होने चाहिए उन्हे दूसरो के उत्पीड़न का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। किसी देश, राष्ट्र या व्यक्ति समूहो का इन पर एकाधिकार अन्याय है। इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही उस विषमता का कारण है, जिसे हम आज इस दु खी देश मे ही नहीं अपितु ससार के अन्य भागो मे भी देखते हैं।[1]

पश्चिमी विचारधारा एव मार्क्स के अनुसार समाजवाद का अथ होता है देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व, पर गॉधीजी सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को समाज का अभिशाप मानते थे। सम्पत्ति चाहे व्यक्ति मे केन्द्रित हो चाहे राज्य मे केन्द्रित हो दोनो बुराइयो को उत्पन्न करती हैं। गॉधीजी ने पूँजीवाद, पश्चिमी विचारधारा पर आधारित समाजवाद और सन्यासवाद उपर्युक्त तीनो सिद्धान्तो की बुराइयो का परित्याग कर उनकी अच्छाइयो को ग्रहण किया। **पूँजीवादी व्यवस्था का व्यक्तिगत स्वामित्व और उसका अभिक्रम समाजवादी व्यवस्था का समाज कल्याण और परलोकवादियो की अर्थ विमुखता और त्यागमय जीवन - तीनो का एक साथ मिलन गॉधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे होता है।** इस धारणा मे गीता के अपरिग्रह और समत्व भावना[2], कानून के ट्रस्टीशिप[3] और ईशोपनिषद्[4] के "तेन त्यक्तेन भुजीथा"[4] का अपूर्व समन्वय हो जाता है। यहॉ व्यक्तिगत स्वामित्व समाज के पवित्र धरोहर के रूप मे रहता है। अत सामाजिक सम्पदा भोग के लिए नहीं, बल्कि जन कल्याण के लिए मानी जाती है। इसीलिए यहाँ मालिक और मजदूर के बीच वर्ग–सघर्ष नहीं है बल्कि एक नवीन सम्बन्ध की कल्पना की गई है। जिसमे दोनो के बीच हितैक्य का भाव रहता

1 यग इण्डिया, १५ नवम्बर १६२८

2 एम.के. गॉधी – ऐन आटोवायोग्राफी औ दी स्टोरी ऑफ माई ऐक्सपेरिमेंट्स विद ट्रूथ, – नवजीवन १६६६, पृष्ठ – १६८

3 वही पृष्ठ – १६८

4 हरिजन, २२ फरवरी १६४२

है यह अमीरो और गरीबो के बीच विषमता को मिटाने का अहिंसक समाजवाद है।[1] आगे उन्होने कहा समाजवाद एक सुन्दर शब्द है और जहॉ तक मुझे ज्ञात है समाजवाद मे समाज के सब सदस्य बराबर होते है – न कोई नीचा होता है और न कोइ ऊँचा। किसी व्यक्ति के शरीर मे सिर सबसे ऊपर होने के कारण ऊँचा नहीं होता और न पैर के तलवे जमीन को छूने के कारण नीचे होते हैं। जैस व्यक्ति के शरीर के सब अग बराबर होते हैं, वैसे ही समाज रूपी शरीर के सारे अग बराबर होते हैं, यही समाजवाद है। धर्म की भाषा मे कहे तो समाजवाद मे द्वैत या भेदभाव नहीं होता। सर्वत्र एकता अद्वैत का प्रभुत्व होता है। आज ससार भर के समाज को देखे तो द्वैत और अनेकता के सिवा कुछ नहीं दिखाई देता। यह व्यक्ति ऊँचा है वह नीचा है, वह हिन्दू है वह मुसलमान है तीसरा ईसाइ है चौथा पारसी है, पाचवा सिक्ख है और छठा यहूदी है इनमे बहुत सी उपजातियॉ हैं। मेरी कल्पना की एकता या अद्वैतवाद मे सब एक हो जाते हैं एकता मे समा जाते हैं। " यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है इसलिए इसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध होने चाहिए। अशुद्ध साधनो से सिद्ध होने वाला साध्य भी अशुद्ध हो जाता है, सत्यमय आचरण द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।"[2] वही सच्चा समाजवाद होगा। रिचर्ड बी॰ ग्रेग ने गॉधीवाद और समाजवाद पर अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है – "आज गॉधीवाद और समाजवाद दोनो प्रणालियॉ जिस रूप में पाई जाती हैं उसमे गॉधीवाद के लिए समाज के कार्यक्रम के महत्वपूर्ण भागो को चुनना, अपनाना और प्रयोग करना जितना सरल है, उतना समाजवाद के लिए गॉधीवाद के महत्वपूर्ण भागो को ग्रहण करना सरल नहीं है। **इस प्रकार दोनो प्रणालियो मे गॉधीवाद अधिक लचीला एव व्यापक है और इसलिए सभवत अधिक स्थायी प्रतीत होता है।**"[3]

१ ६ गाँधीजी एव साम्यवाद

२०वीं शताब्दी मे साम्यवाद एक राजनीतिक विचाराधारा होने के साथ–साथ एक सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त, एक क्रान्तिकारी आन्दोलन एव राजनीतिक व्यवस्था भी है। साम्यवाद शब्द का प्रयोग एक सामाजिक व्यवस्था के रूप मे ऐसी व्यवस्था के लिए किया जाता है जिसके अन्तर्गत भौतिक सम्पत्ति का सामूहिक स्वामित्व रहता है। इसके अन्तर्गत यह सिद्धान्त अपनाया जाता है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता है और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार लाभ प्राप्त होता है।

---

1 वही, २० अप्रैल १६४०

2 हरिजन, १३ ७ १६४७

3 पी.डी. पाठक – राजनीतिक चिन्तन का इतिहास पृष्ठ – २३६

चाहते जिसमे व्यक्ति अपनी मेधा का पूरा उपयोग ही न कर सके। गाँधी के अनुसार यदि व्यक्ति की शक्ति और मेधा को बेकाम बनाने वाली समता लाई गई तो वह मृतवत् होगी जिसमे समाज जीवित न रह सकेगा।[1] अत गाँधीजी का सुझाव है कि व्यक्ति उपार्जन अपनी शक्ति और मेधा भर करे, परन्तु उसका उपयोग समाज के हित के लिए हो। उत्पादन का अधिकाश राज्य के कल्याण मे खर्च हो।

मार्क्सवादी विचारक आर्थिक समता लाने के लिए बलपूर्वक पूँजीपतियो की सम्पत्ति का अपहरण करना चाहते हैं। अन्त मे व्यक्तिगत लालसा नहीं समाप्त होती। व्यक्ति का जीवन मूल्य नहीं बदलता, अतएव गाँधीजी आर्थिक समता के लिए पूँजीपतियो का सास्कृतिक परिवर्तन करना चाहते थे जिसमे वे अपने स्वार्थ और सग्रह की वृत्ति से अलग होकर धन रहते हुए भी श्रमिको का सरल जीवन जी सके।[2] हिसा पर आधारित बदलाव मे उनका विश्वास नहीं था। उनका कहना था – "मैंने सदा यह माना है कि बल प्रयोग के द्वारा अल्पतम एव शुद्धतम सामाजिक न्याय की उपलब्धि भी असम्भव है।[3]" मेरी जानकारी के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त कर उन पर सामूहिक स्वामित्व बनाए रखने के लिए बोलशेविकवाद बल प्रयोग को न केवल निवारित बल्कि मुक्त रूप से उसकी अनुमति देता है। यदि ऐसा है तो मुझे यह कहने मे कोई हिचक नहीं है कि बोलशेविक शासन–प्रणाली अपने वर्तमान रूप मे बहुत दिनो तक नहीं चल सकती। क्योकि मेरी यह दृढ मान्यता है कि हिंसा पर आधारित कुछ भी टिकाऊ नहीं रह सकता।[4] आज गाँधीजी की यह भविष्यवाणी सत्य प्रतीत हो रही है। सोवियत सघ/पूर्वी जर्मनी आदि साम्यवादी देशो मे जो परिवर्तन हो रहे हैं वे इसके जीते जागते प्रमाण हैं।

गाँधीजी ट्रस्टीशिप के द्वारा आय का समान वितरण करना चाहते थे। वे वकील, डॉक्टर, हाथ–कारीगर और मेहतर – सबके लिए समान वेतन की माग करते हैं। **इससे स्पष्ट है कि समाजवादी प्रक्रिया और गाँधीवादी प्रक्रिया मे मुख्य रूप से हिंसक और अहिंसक साधन का ही भेद है।** गाँधीजी का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त की तुलना में काफी दूरदर्शितापूर्ण है और व्याहवारिक भी। गाँधी इस सिद्धान्त को केवल पूँजीपतियो के लिए ही लागू नहीं करते, बल्कि यह सभी पर लागू होता है। धन के अर्न्तगत केवल स्थूल धन ही नहीं आते हैं, बुद्धि शक्ति आदि सभी धन के अर्न्तगत

1 वही
2 हरिजन ३ जून १९३९
3 वही २० अप्रैल १९४०
4 वही, १५ नवम्बर १९२८

आते हैं।[1] अत इनके सम्बन्ध मे ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त लागू होना है। इसका आचरण व्यक्ति, समुदाय और राज्य सभी के लिए अभिप्रेत है। गॉधी के उपर्युक्त विचारो से प्रभावित होने के कारण ही भारतीय समाजवाद के अग्रदूत माने जाने वाले लोहिया का विचार पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ के विपरीत था। गॉधी की भाति वे भी दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ को अनुपयुक्त समझते थे। तभी तो उन्होंने कहा था, "**उनसे अधिक खुशी अन्य किसी व्यक्ति को नहीं हो सकेगी। यदि इन दोनो व्यवस्थाओ (पूँजीवादी एव साम्यवादी) मे गॉधीवाद को मिश्रित कर दिया जाए।**"[2]

१ १० गॉधी के राज्य व्यवस्था का महत्व एव प्रभाव

गॉधीजी के राजनीतिक विचारो के दो पक्ष हैं –

१ आध्यात्मिक तथा नैतिकतावादी मानव धर्म पर आधारित राजनीति

२ व्यावहारिक राजनीति।

जहॉ तक गॉधी के आध्यात्मिक और नैतिकतावादी राजनीति दर्शन का प्रश्न है वह यह कि विश्व एक बनेगा या विश्व का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा ? इसलिए परमाणु अस्त्र के आविष्कारक आइन्स्टीन ने जापान के दो शहर हिरोशिमा और नागासकी की विभीषिका के पश्चात् ही अमेरिका और ब्रिटेन से आग्रह किया था कि, उस समय की तीसरी महान् शक्ति रूस को साथ लेकर विश्व सरकार बनाने की दिशा मे प्रयत्न करे। यही नहीं उस समय ओपेन हाइजर, राबर्ट विलसन, एच.जे. कर्टिस आदि युद्ध के प्रमुख समर्थक एव महारथियो ने यह स्पष्ट चेतावनी दी थी कि परमाणविक युद्ध में कोई भी राष्ट्र विजयी नहीं रह सकेगा। स्वय इग्लैण्ड के तत्कालीन चासलर ने भी इसीलिए विश्व सरकार बनाना आवश्यक माना था क्योकि अणु युग मे राष्ट्रो के बीच आणविक युद्ध आत्महत्या के समान है।

आधुनिक समाज और आधुनिक अर्थव्यवस्था राष्ट्र की सीमा से परे जाकर अन्तर्राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता पर टिकी हुई है, जबकि आज की राजनीति आज भी राष्ट्रो की सकीर्ण सप्रभुता मे विश्वास करती है। राष्ट्रों की सत्ता और सत्ता के केन्द्रों मे लगातार होने वाले परिवर्तनों को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु हम साथ–साथ इसको भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि चुपचाप लेकिन तेजी से एक नई दुनिया बन रही है। राष्ट्रवादी युद्धों मे नृशस हत्याये राष्ट्रों में परस्पर तनाव, सत्ता प्राप्ति की होड आदि के बीच भी सयुक्त राष्ट्र सघ एव अन्य विश्व सस्थाओ को कायम रखने

---

1 एन.के. बोस – स्टडीज इन गाँधीज्म, पृष्ठ – ११७

2 आर.एम. लोहिया – मार्क्स गाँधी एण्ड सोशलिज्म, १९६३, पृष्ठ – १२१

की विश्वव्यापी आकाक्षाऍ वस्तुत नये विश्व की प्रसव पीडा है। सैनिकवाद और सकुचित राष्ट्रवाद के दिन अब लद चुके हैं। ये सब जगली और कबाइली कल्पनाऍ प्रतीत होती हैं। आज का मानव सकीर्णता का गुलाम नहीं होना चाहता। इसलिए हर देश मे राज्यवाद सैनिकवाद एव सकीर्ण राष्ट्रवाद के विरुद्ध असतोष उभर रहा है। उदाहरणार्थ जर्मनी का एकीकरण यमन का एकीकरण तथा सयुक्त यूरोप का प्रस्ताव सामने है।

इसी सदर्भ मे गॉधी का विचार अत्यन्त सार्थक दिख रहा है। राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम के समय ही उन्होने हमे सकुचित राष्ट्रवाद के खिलाफ चेतावनी देते हुए कहा था **भारत की मुक्ति का सग्राम वस्तुत दुनिया की पीड़ित और पद-दलित मानवता की मुक्ति का सग्राम है।** हमारा युद्ध वस्तुत पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा दबी मानवता के शोषण एव उत्पीडन के खिलाफ है।[1] यह धारणा उनके अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का ही प्रतीक है।

उनके द्वारा राजनीति मे अहिंसा तथा नैतिकता को स्थान देना भी विश्व भावना का ही द्योतक है। विश्व शाति के लिए राष्ट्रो के आन्तरिक मामलो मे भी शाति चाहिए ही। इसलिए समाज परिवर्तन के क्षेत्र मे उनके सत्याग्रह का उपकरण युद्ध का एक अहिंसक विकल्प बना। उनका एक राजनेता और तत्व वेत्ता दोनो रूपो मे महत्व है। उन्होने सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि मानवीय सद्‌गुणो पर आधारित नैतिकता एव धर्म से युक्त राजनीति को सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दृष्टि से औचित्य प्रदान करने का भरपूर, प्रयत्न किया और भारतीय सस्कृति को बीसवीं सदी के पाश्चात्य भौतिकवाद के बढ़ते प्रभावो से बचाने की पूरी कोशिश की।

व्यावहारिक राजनीति मे राजनेताओ की महत्वाकाक्षाऍ युद्ध प्रेम और पद लोलुपता अन्ध–राष्ट्रवाद आदि का अस्तित्व बना रहता है। गॉधी का राजनीतिक विचार इन्हीं के विरुद्ध एक मानवतावादी समाधान है। जो लोग मन से मानवतावादी सद्‌गुणो तथा मूल्यो पर विश्वास रखते हैं वे गॉधीजी के सच्चे पक्षधर है परन्तु जो स्वार्थ, पद लोलुपता, शोषण, अन्याय–अत्याचार आदि को ही वास्तविक राजनीति मानते हैं वे गॉधीजी के विचारों का उपहास करे तो आश्चर्य नहीं। इसलिए गॉंधीजी के विचार स्वय मे दोषमुक्त हैं और वे ऐसे विचार हैं जो तब तक सत्य बने रहेंगे जब तक मानवता का इस ससार में अस्तित्व है। आज गॉधीजी के राजनीतिक विचारों का महत्व केवल भारत के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए है। गॉधीजी ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन

यग इण्डिया, १२ जनवरी १६२८

पर स्वय अमल किया। उनका व्यवहारवाद इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उन्हे पूर्ण विश्वास था कि भारत अपने स्वतन्त्रता सग्राम मे एक महान शक्तिशाली साम्राज्यवादी के विरुद्ध हिंसात्मक तरीको से कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अत अहिंसात्मक प्रतिरोध ही एक मात्र उपाय है जो देश–विदेश मे भारतीयो की स्वतन्त्रता की माग के समर्थन मे जनमत तैयार करेगा और उस जनमत के सामने एक दिन साम्राज्यवादियो को झुकना पडेगा। गॉधीजी ने उनके लिए आन्दोलन का नेतृत्व इस प्रकार किया कि भारत की विजय हुई। भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पश्चात् अहिंसात्मक स्वतन्त्रता आन्दोलन की लहर विश्व के विभिन्न भागो मे पराधीन राष्ट्रो के मध्य विकसित होती गई और धीरे–धीरे विश्व के अनेक राष्ट्र सम्राज्यवाद से मुक्त होते गए। यह गॉधीजी के अहिंसक तरीको का विश्व को एक महान् देन थी।

यदि सम्पूर्ण विश्व के राजनेता गॉधीजी के विचारो को सही रूप मे समझने का प्रयास करे और मानवता की रक्षा के लिए उन पर अमल करने की थोडी भी चिन्ता करे तो आजकल विश्व की राजनीति जिन अमानवतावादी राजनीतिक कुचक्रो से त्रस्त है उसका समाधान आसानी से निकल आए। यदि विश्व के अग्रणी राष्ट्र विनाशकारी शस्त्रो का निर्माण करने की अपेक्षा ऐसी वस्तुओ का निर्माण करे जिनकी विश्व की जनता को मानवीय सद्गुणो के विकास के लिए आवश्यकता हो और बजाय अविकसित राष्ट्रो को अस्त्र सहायता देकर परस्पर युद्धो मे उलझाने और अपना बाजार बनाने की प्रेरणा देने के, वहॉ की जनता को जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करके सहायता देते तो गॉधीजी का स्वप्न पूरा हो जाता। **विश्व में ज्ञान, धन तथा शक्ति का उपयोग विनाशकारी वस्तुओं के निर्माण में व्यय करके मानवता के विनाश करने की प्रवृत्ति ही राजनीति का प्रमुख अंग बन गई है तो इसमे गॉधीजी की कोई त्रुटि नहीं।**

अगर हम गॉधीवादी राजनीति के कम से कम उन आदर्शो को जो हमारी वर्तमान परिस्थितियो मे व्यवहार्य है निष्ठावान् होकर लागू करने मे प्रयत्नशील रहे तो कोई आश्चर्य नहीं कि हम उनके आदर्शो को भी अपना सकेगे। यद्यपि गॉंधीजी का "राजनीति शास्त्र" को बहुत अधिक योगदान नहीं है क्योकि उन्होने कोई राजनीति शास्त्र पर क्रमबद्ध ग्रन्थ नहीं लिखा है तथापि उनके विचार एक राजनीतिक विचारधारा का निर्माण करते हैं, जो बीसवीं सदी के विनाशकारी राजनीतिक विचारधाराओं तथा व्यवहारो के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण समाधान है। यही गॉंधीजी की भारत तथा विश्व राजनीति को सबसे बड़ी देन है और इसी में उनके राजनीतिक विचारों की सार्थकता है।

१.२ महात्मा गॉधी का आर्थिक चिन्तन

हमारे भौतिक जीवन को नया रूप देने का कार्य जिन विद्वानो ने किया है उन्हे हम अर्थशास्त्री कहते हैं। गॉधीजी ने हमारे भौतिक जीवन को एक नया रूप एक नई दिशा दृष्टि दी है, इसलिए उन्हे एक अर्थशास्त्री कहने मे सकोच नहीं होना चाहिए। परन्तु जब हम परम्परागत अर्थशास्त्रियो की श्रेणी मे या अन्य प्रकार के अर्थशास्त्रियो की श्रेणी मे उन पैमानो का सहारा लेकर जो एक अर्थशास्त्री के लिए आवश्यक है गॉधीजी को बैठाने का प्रयास करते हैं तो गॉधीजी उस श्रेणी मे नहीं बैठ पाते। अर्थशास्त्र मे आध्यात्मिकता, नैतिकता और धर्म का विचार उन्हे अर्थशास्त्रियो की श्रेणी से बाहर रख देता है। पुन जब हम गॉधी को धर्मशास्त्रियो की श्रेणी मे बैठाने का प्रयास करते है तो वहाँ भी गाँधी नहीं बैठ पाते हैं क्योकि वहॉ वे "दरिद्रनारायण" की पूजा करते हैं, भूखे की रोटी मे भगवान को देखते हैं। दुनिया के इतिहास मे जितने भी आध्यात्मवादी हुए हैं उनमे गॉधी विचित्र स्वरूप लेकर आते हैं। बुद्ध, महावीर ईसा, मुहम्मद की पक्ति मे भी गॉधी नहीं बैठ पाते हैं क्योकि इन धर्म प्रर्वतकों ने मनुष्य के केवल एक पहलू को देखकर और उसी पहलू को लेकर मानव समाज को उच्च्य धरातल पर लाने का प्रयास किया परन्तु गॉधी ने तो मनुष्य के लौकिक एव पारलौकिक जीवन को समग्र रूप में देखा है। पुन जब हम गॉधी को सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दानीशिवी एव अहिंसावादी अशोक के बीच बिठाना चाहते हैं तो गॉधी वहॉ भी नहीं बैठ पाते। क्योकि जिस सत्य, करूणा, अहिंसा, दान, प्रेम के मानवीय गुणो के ये प्रतीक हैं वे गुण इन महापुरुषो के जीवन तक ही सीमित थे इन लोगो के मृत्यु के उपरान्त वे तिरोहित हो गए। परन्तु गॉधीजी ने इन गुणो को केवल व्यक्ति के जीवन तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उन्हे सामाजिक गुण बना दिया, इस विचित्रता के कारण गॉधी वहाँ भी नहीं बैठ पाते। गॉधी राजनीतिज्ञो की श्रेणी मे भी नहीं आ पाते क्योकि उनकी राजनीति नैतिकता और धर्म से अलग कोई वस्तु नहीं है। एक बार उन्होने कहा था – **"धर्म रहित राजनीति कोई राजनीति नहीं है। धर्म रहित राजनीति एक मौत का फदा है, क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।"**[1]

राजनीति की प्रचलित सारी मान्यताओ मे एक विचित्र परिवर्तन गॉधी के राजनीतिशास्त्र में पाया जाता है। इस देश में भारतीय स्वतन्त्रता आदोलन के दौरान एक राजनीति का उन्होने भी सचालन किया था, लेकिन ऐसा अहिंसक, धर्मपूरित नैतिकता से ओत–प्रोत राजनैतिक आदोलन विश्व के इतिहास मे कहीं नहीं पाया जाता है।

एच.एन. कुजरन – राजनीति का आध्यात्मिकरण, महात्मा गाँधी, ५०० वर्ष पृष्ठ – २३६

पुन जब हम गॉधीजी को समाजशास्त्री के रूप मे देखना चाहते हैं तो उसमे भी गॉधी समाजशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित मान्यताओ मे नहीं बैठ पाते। बाल–विवाह विधवा–विवाह नशाबन्दी, अस्पृश्यता समाज रचना, सामाजिक मूल्य इन सारी समस्याओ का समाधान ढूँढने वाला गॉधी एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री नहीं बन पाता। ऐसी परिस्थिति मे गॉधी क्या है ? यह निश्चित कर पाना असम्भव सा प्रतीत होता है। जो व्यक्ति गदगी से लेकर परमात्मा तक की विशाल परिस्थिति का अन्वेषण करता है, निदान करता है तथा मानव को समाधान देता है उसे किसी एक विशेषीकरण के सकुचित दायरे मे बाधना कठिन सा प्रतीत होता है।

गॉधी एक पूर्ण मनुष्य थे इसलिए उन्होने समग्र मानव को देखा। उन्हे किसी एक टुकडे मे बॉधा नहीं जा सकता है। गॉधी पूर्ण थे उनकी दृष्टि पूर्ण थी और उनके समाधान भी पूर्ण थे। गॉधी धर्मशास्त्र, अध्यात्मक शास्त्र, अर्थशास्त्र विज्ञान, साहित्य शास्त्र सभी का विवेचन मानवता को केन्द्र मे रखकर करते हैं। इसलिए उन्हे हम पूर्ण अर्थशास्त्री मानते हैं। उन्होने इस भौतिक जगत् के प्राणियो के लिए एक आचार सहिता बनाई ताकि भौतिक जीवन सुचारु रूप से चल सके इसलिए हम उन्हे पूर्ण अर्थशास्त्री कह सकते हैं।[1]

२ १ गॉधीजी पर अर्थशास्त्रियो का प्रभाव *(Influence of economist on Gandhi)*

गॉधीजी जिन अर्थशास्त्रियो से प्रभावित थे या जिनसे उनके विचार मिलते हैं उनमें एडम स्मिथ, माल्थस, सिसमाण्डी, सेण्ट साइमन, वोदो तथा रस्किन आदि है। रस्किन की पुस्तक "अन्टु दि लास्ट" का गॉधीजी के ऊपर काफी प्रभाव पडा उन्होने स्वय उस पुस्तक के विषय मे कहा था – "मेरा यह विश्वास है जो चीज मुझ मे गहराई से भरी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इसी ग्रन्थ रत्न मे देखा और इसके कारण उसने मेरे हृदय पर अपना साम्राज्य जमा लिया और उसमे प्रकट किए हुए विचारों पर मुझ से अमल कराया।"[2] गॉंधीजी को यह पुस्तक इतनी महत्वपूर्ण एव उत्कृष्ट प्रतीत हुई कि उन्होने **"सर्वोदय"** के नाम से इसका गुजराती में अनुवाद भी कर दिया। इस पुस्तक से उन्होने तीन शिक्षायें ग्रहण की जो कि उनके विचारों मे प्राय दिखाई देती हैं। ये विचार निम्न हैं[3] –

१. **सभी व्यक्तियों के हित मे ही अपना हित निहित है।**

---

[1] प्रो. दूधनाथ चतुर्वेदी – महात्मा गाँधीजी का आर्थिक दर्शन, पृष्ठ – ६६–१०१

[2] महात्मा गाँधी – आत्मकथा भाग–४, पृष्ठ – २८२

[3] वही

२ वकील ओर नाई – अर्थात उच्च कोटि के मानसिक या बौद्धिक श्रम और तथाकथित निम्न कोटि के शारीरिक श्रम – दोनो के कार्य का मूल्य अथवा महत्व समान ही होना चाहिए क्योकि सभी को व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करने का समान अधिकार है।

३ कृषक और श्रमिक का परिश्रम पूर्ण सादा जीवन ही वास्तव मे सच्चा जीवन है।

गॉधीजी ने अपने जीवन मे रस्किन तथा अन्य अर्थशास्त्रियो की अमूल्य शिक्षाओ के अनुसार आचरण करना आरम्भ कर दिया और वे अपने व्यवहारिक जीवन मे सदैव इसका पालन करते रहे।

२:२ गॉधी का आर्थिक-दर्शन

[i] आर्थिक समानता (Economical Equity)

गॉधीजी आर्थिक समानता के पक्षधर थे। उनका कथन है – "भारत ही नहीं बल्कि सारी दुनिया की अर्थरचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न एव वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पडे। दूसरे शब्दो मे – हर एक को इतना काम अवश्य मिले कि अपने खाने पहनने की जरुरत पूरी कर सके और यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियन्त्रण मे रहे। वे हरेक को बिना किसी बाधा के उसी प्रकार उपलब्ध होनी चाहिए जिस तरह भगवान की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध है। किसी भी हालत मे वे दूसरो के शोषण के लिए चलाए जाने वाले व्यापार का वाहन न बने। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुखी देश मे बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सो मे भी जो गरीबी देखते हैं उसका कारण इस सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।"[1]

गाँधीजी के अनुसार आर्थिक समानता का अर्थ है जगत् मे सबके पास समान सम्पत्ति का होना, यानि सबके पास इतनी सम्पत्ति का होना जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सके। कुदरत से ही अगर एक आदमी का हाजमा कमजोर है और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके और दूसरे को बीस तोला अन्न खाने की आवश्यकता हो तो दोनों को अपनी पाचन शक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। अहिंसक समाज को दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। पूर्ण आदर्श तक

---

[1] गाँधी – यग इण्डिया, १५ ११ १९२८

हम कभी नहीं पहुँच सकते। मगर उसे नजर मे रखकर हम विधान बनाए और व्यवस्था करे। जिस हद तक हम इस आदर्श तक पहुँच सकेगे उसी हद तक हम सुख और सन्तोष प्राप्त करेगे और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी।[1]

अहिंसा के द्वारा आर्थिक सम्पन्नता कैसे लाई जा सकती है ? इस दिशा मे पहला कदम यह है कि "जिसने इस आदर्श को अपनाया हो वह अपने जीवन मे आवश्यक परिवर्तन करे। हिन्दुस्तान की गरीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके वह अपनी आवश्यकताएँ कम करे। अपनी धन कमाने की शक्ति को नियत्रण मे रखे। जो धन कमाये उसे ईमानदारी से कमाने का निश्चय करे। सट्टे की वृत्ति हो तो उसका त्याग करे। घर भी अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी करने लायक ही रखे और जीवन को हर तरह से सयमी बनाए। अपने जीवन मे सारे सभव सुधार कर लेने के बाद वह अपने मिलने जुलने वालो मे और अपने पडोसियो मे समानता के आदर्श का प्रचार करे।"[2] "हरिजन सेवक" मे उद्धृत उपरोक्त कथन मे गॉधीजी ने आर्थिक चिन्तन के बडे ही महत्वपूर्ण सूत्रो का प्रतिपादन किया हैं. प्रथमत उन्होने आर्थिक समानता के प्रति व्याप्त मानसिक रुढियो का पर्दाफाश किया है। बहुधा लोग आर्थिक समानता मे प्रत्येक व्यक्ति को एक समान समानता की बात करते हैं जैसे एक आदमी को दो रोटी मिले तो दूसरे को भी दो रोटी मिले। **प्रत्युत यहाँ स्पष्ट कर देना अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि अलग-अलग पाचन क्षमता का अर्थ परिग्रह से कभी नहीं होगा।**

द्वितीय इस आर्थिक समानता के प्रत्यय मे उन्होने बताया है कि यह जरुरी नहीं है कि पूरी समष्टि ही इस धर्म का पालन करे, मात्र यदि एक व्यक्ति भी इस धर्म का पालन करना प्रारम्भ कर दे तो सभी लोग धीरे-धीरे जुट जायेगे। तृतीयत – हमे दूसरे के आर्थिक त्याग की प्रतीक्षा नहीं करनी है, वरन् स्वत उस क्षेत्र मे अपना योगदान देना है। चतुर्थत गॉधीजी का यह दर्शन बडा ही आवश्यक प्रतीत होता है जब वे मानव को अपनी आवश्यकता सीमित करने को कहते हैं क्योकि भौतिक जीवन में सुख सुविधा की इतनी वस्तुएँ बढ़ती जा रही हैं जिनकी कोई सीमा नहीं है। अत गाँधीजी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन मे उन्हीं आवश्यकताओं की आवश्यकता माननी चाहिए जिनकी पूर्ति के अभाव मे विकास बाधित हो। आगे उन्होने धनोपार्जन की प्रवृत्ति को सीमित करने का सुझाव दिया हैं। क्योकि आर्थिक सयम ही पूर्ण आर्थिक अहिंसा है।

---

1 गाँधी सरक्षता सिद्धान्त, पृष्ठ – २१

2 गॉधी – सरक्षता सिद्धान्त, पृष्ठ – २२
एव हरिजन सेवक, २४८४०, पृष्ठ – २३१–३२

गॉधीजी के अनुसार **"आर्थिक समानता"** के लिए काम करने का मतलब है पूँजी और मजदूरी के बीच झगडे को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर जिन मुटठी भर पैसे वाले लोगो के हाथ मे राष्ट्र की सम्पत्ति का बडा भाग इकट्ठा हो गया है उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर जो करोडो लोग आधा पेट खाना खाते हैं और नगे रहते हैं उनकी सम्पत्ति मे वृद्धि करना। जब तक मुट्ठी भर धनवानो और करोडो भूखे रहने वालो के बीच बेइन्तहा अन्तर बना रहेगा तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज्य व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान मे देश के बडे से बडे धनवानो के हाथ मे हुकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबो के हाथ मे भी होगा और तब नई दिल्ली के महलो और उनकी बगल मे बसी हुई गरीब मजदूर बस्तियो के टूटे–फूटे झोपडो के बीच जो दर्दनाक फर्क नजर आता है वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण मिलने वाली सत्ता को खुद राजी खुशी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए सबके साथ मिलकर बॉटने को तैयार न होगे, तो यह तय है कि हमारे देश मे हिंसक और खूँखार क्रान्ति हुए बिना न रहेगी।[1] और अन्त मे गॉधीजी ने अपने आर्थिक स्वराज्य की कल्पना निम्न प्रकार से की है –

"मेरे सपनो का स्वराज्य तो गरीबो का स्वराज्य होगा, जीवन की जिन आवश्यकताओ का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही गरीबो को भी सुलभ होनी चाहिए। इसमे फर्क के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे पास उनके जैसा महल होना चाहिए। सुखी जीवन हेतु महलो की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन जीवन की ये सामान्य सुविधाएँ गरीबो को अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपयोग अमीर आदमी करता है।[2]"

गॉधीजी जहाँ अमीर गरीब के बीच प्राथमिक आवश्यकताओ के समान उपभोग की वकालत करते हैं वही उन्होने "धर्म" को भी आड़े नहीं आने दिया है। गाँधीजी का कहना है कि – "मेरे सपनों के स्वराज्य मे जाति या धर्म के भेदो का कोई स्थान नहीं हो सकता। उस पर शिक्षितो या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए, सबके कल्याण के लिए होगा सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लगड़े, अँधे और भूख से मरने वाले लाखों करोड़ों मेहनकश मजदूर भी अवश्य आते हैं।[3]"

---

1. गाँधी – सरक्षता सिद्धान्त, पृष्ठ – १८
2. यग इण्डिया, २६ ३ १९३१
3. वही

गॉधीजी के अनुसार **"स्वराज्य"** जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए, जितना किसी धनवान जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहर के लिए, जितना हिन्दुओ के लिए होगा उतना ही मुसलमानो के लिए जितना जैन, यहूदी और सिक्ख लोगो के लिए होगा उतना ही पारसियो और ईसाईयो के लिए। उसमे जाति–पाति धर्म या दर्जे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।[1] उपरोक्त सन्दर्भ से यह प्रतीत होता है कि **गॉधी की दृष्टि मे सम्प्रदायगत भिन्नता मे आर्थिक भिन्नता के लिए कोई स्थान नहीं है। राजा, रक, किसान, जमींदार, भूमिहीन, खेतिहर, हिन्दू या कोई भी जाति हो आर्थिक क्षेत्र मे सभी समान है। सबके** जीवन की **आवश्यकताऍ है, सबको भूख लगती है, सभी को भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा** आदि चाहिए, **वहॉ किसी मे कोई अन्तर नहीं है।**

गॉधीजी के अनुसार – "स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय मे किसी को कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियन्त्रण से पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता से है। उसके दूसरे उद्देश्य भी हैं – एक छोर पर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य और दूसरे छोर पर उसी कक्षा का दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहॉ धर्म शब्द का सर्वोच्च अर्थ अभीष्ट है। उसमे हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सबका समावेश होता है। लेकिन वह इन सबसे ऊँचा है इसे हम स्वराज्य का समचतुर्भुज कह सकते हैं। यदि उसका एक भी कोण विषम हुआ तो उसका रूप विकृत हो जाएगा।"[2]

[ii] आर्थिक स्वतन्त्रता (Economical Liberty)

गॉधीजी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि – **भारतीय पूँजीपतियों और भारतीय पूँजी को ब्रिटिश पूँजीपतियों और ब्रिटिश पूँजी से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो।**[3] इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार के साधन चुनने की स्वतन्त्रता तो हो ही साथ ही उपरोक्त सन्दर्भ मे विदित होता है कि आर्थिक ससाधनो से विदेशी नियन्त्रण की भी मुक्ति होनी चाहिए। यहॉ विदेशी नियन्त्रण की मुक्ति से तात्पर्य है विदेशी चुगी, विदेशी भुगतान, कर आदि। इसके साथ–साथ स्वदेशी पूँजी, स्वदेशी हथकरघा, स्वदेशी तकनीकी, स्वदेशी धन, स्वदेशी अर्थ प्रविधि आदि सभी क्षेत्र में स्वतन्त्रता ही पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता व पूर्ण

---

[1] यग इण्डिया, ५ ३ १९३१

[2] हरिजन, २ १.१९३७

[3] रामनाथ सुमन – गाँधी वाणी, पृष्ठ – १८५–८६

स्वराज्य की ओर अग्रसर होना है। यदि इसमे कोई कमी रह गई तो गॉधी के स्वराज्य का समचतुर्भुज साकार नहीं हो पाएगा।

यहॉ एक प्रश्न उठता है कि गॉधीजी ने जिस सीमा तक आर्थिक स्वतन्त्रता व समानता की वकालत की है, उससे क्या जाहिर होता है कि वे समाजवादी थे या साम्यवादी ? गॉधीजी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं – "समाजवाद और साम्यवाद आदि पश्चिम के सिद्धान्त जिन विचारो पर आधारित हैं वे हमारे तत्सम्बन्धी विचारो से बुनियादी तौर पर भिन्न है। इसलिए हमारे समाजवाद या साम्यवाद की रचना अहिंसा के आधार पर और मजदूरो तथा पूँजीपतियो या जमींदारों तथा किसानो के मीठे सहयोग के आधार पर होनी चाहिए।"[1]

गॉधीजी के अनुसार यदि अहिंसक साम्यवाद के अर्थ की छानबीन की जाए तो अन्त मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इसका मतलब वर्ग विहीन समाज है। लेकिन जब वह इस आदर्श को हासिल करने के लिए हिंसा के प्रयोग की बात करने लगता है तब मेरा रास्ता उससे अलग हो जाता है। जनता पर जबरदस्ती लादा जाने वाला साम्यवाद भारत को रूचेगा नहीं। भारत की प्रकृति के साथ उसका मेल नहीं बैठ सकता। हॉ यदि साम्यवाद बिना किसी हिंसा के आए तो हम उसका स्वागत करेगे।[2] उनका दृढ विश्वास था कि "हिंसा की नींव पर किसी स्थाई रचना का निर्माण नहीं हो सकता।"[3]

उपरोक्त सन्दर्भो से विदित होता है कि गॉधीजी का साम्यवाद व समाजवाद पाश्चात्य लीक से हटकर है। उनके चिन्तन में पूँजीवादी धारणा के लोग व निर्धन, शोषक या शोषित, जमींदार व किसान मे एक दूसरे पर बल प्रयोग नहीं किया जाएगा अपितु स्वेच्छा से सत्याग्रह की तकनीक पर एक दूसरे का ह्रदय परिवर्तन करके वर्ग भेद मिटाया जाएगा। यहॉ वे पूँजीपतियों की सम्पत्ति का उपयोग भी निर्धनो के लिए करने को उद्यत हैं। गाँधीजी के अनुसार – "मैं जमींदार और दूसरे पूँजीपतियो का अहिंसा के द्वारा ह्रदय परिवर्तन करना चाहता हूँ और इसीलिए वर्ग युद्ध की अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। कम से कम सघर्ष का रास्ता मेरे लिए अहिंसा के प्रयोग का एक जरुरी हिस्सा है। जमीन पर मेहनत करने वाले किसान और मजदूर ज्यों ही अपनी ताकत पहचान लेगे, त्यो ही जमींदारों की बुराई का बुरापन दूर हो जाएगा। अगर वे लोग यह कह दें कि उन्हें सभ्य

---

1 अमृत बाजार पत्रिका – डेली न्यूज पेपर "कलकत्ता", २८.१६३४

2 हरिजन, १३.३.१६३७

3 यग इण्डिया, १५.११.१६३८

जीवन की आवश्यकतानुसार अपने बच्चो को भोजन वस्त्र और शिक्षा आदि के लिए जब तक पूरी मजदूरी नहीं दी जाएगी तब तक वे जमीन को जोतेगे बोयेगे नहीं तो जमींदार बेचारा कर भी क्या सकता है। सच तो यह है कि मेहनत करने वाला जो कुछ पैदा करता है उसका मालिक वही हैं। अगर मेहनत करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जाए तो वे ऐसी ताकत बन जाऐगे जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता और इसलिए मैं वर्ग युद्ध की कोई जरूरत नहीं देखता। यदि मैं उसे अनिवार्य मानता होता तो उसका प्रचार करने मे और लोगो को उसकी तालीम देने मे मुझे कोई सकोच नहीं होता।"[1]

गॉधीजी ने धन और श्रम का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दर्शाया है। धन का स्वामी पूँजीपति है। श्रम का स्वामी श्रमिक है। श्रमिक के श्रम का महत्व पूँजीपति को समझना है और श्रमिक को उत्पादन के प्रमुख उपादान पॅजी के प्रदाता पूँजीपति की उपयोगिता को समझना है क्योकि एक दूसरे के अभाव मे एक दूसरे का अस्तित्व नहीं है। गॉधीजी पूँजीपतियो को निर्देश देते हुए कहते हैं – "यदि पूँजीपति वर्ग काल का सकेत समझकर सपत्ति के बारे मे अपने इस विचार को बदल डालें कि उसपर उनका ईश्वर प्रदत्त अधिकार है तो जो सात लाख घूर आज गॉव कहलाते हैं, उन्हे आनन–फानन मे शन्ति, स्वास्थ्य और सुख का धाम बनाया जा सकता है। मुझे दृढ विश्वास है कि यदि पूँजीपति अपने को गरीबों का सरक्षक माने तो वे सचमुच कुछ खोयेगे नहीं और सब कुछ पायेगे। केवल दो मार्ग हैं, जिनमे से हमे अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह है कि पूँजीपति अपना अतिरिक्त सग्रह स्वेच्छा से छोड दे, जिसके परिणाम स्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाए। दूसरा यह कि अगर पूँजीपति समय रहते न चेते तो कराडो जाग्रत किन्तु अज्ञानी और भूखे लोग देश मे ऐसी गड़बडी मचा देगे जिसे एक बलशाली हुकूमत की फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्ति से बचने मे सफल रहेगा।"[2]

उपरोक्त दोनो सदर्भों मे गॉधीजी ने अनन्त काल से चले आ रहे वर्ग सघर्ष की धारा को ही मोड़ दिया है। उन्होने पूँजीपतियों के महत्व को भी स्वीकारा और श्रमिको के भी। अत उन्होंने दोनो पक्षों को अपनी मिथ्या हठवादिता छोड़कर एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यो और उत्तरदायित्वों को सहयोग के द्वारा जोड़ने का मार्ग सुझाया है। पूँजीपति और श्रमिक एक दूसरे के साध्य और साधन तथा पुन साधन और साध्य दोनों हैं। श्रमिक पूँजीपति का आधार है तो पूँजीपति श्रमिकों के सरक्षक हैं। यहॉ उन्होंने अत्यन्त उल्लेखनीय विचार तो यह दिया कि श्रम तो धन की धरोहर है, श्रम धन से श्रेष्ठ भी है।

हरिजन, ५ १२ १९३६

Young India, ५ १२ १९२९

गॉधी के आर्थिक चिन्तन मे कहीं भी वर्ग सघर्ष का स्थान नहीं है क्योकि उनमे चिन्तन की कसौटी पाश्चात्य परिवेश न होकर भारतीय परिवेश है। जैसा कि गॉधीजी ने कहा है – "वर्ग युद्ध का विचार मुझे नहीं भाता, हमें पश्चिम से आए मोहक नारो के असर से बचना चाहिए। क्या हमारे पास हमारी विशिष्ट परपरा नहीं है ? क्या हम श्रम और पूँजी का कोई अपना हल नहीं निकाल सकते ? वर्णाश्रम की व्यवस्था बड़े और छोटे का भेद दूर करने या पूँजी और श्रम मे मेल साधन का एक उत्तम साधन नहीं तो और क्या है ?"[1]

२ ३ गॉधी - अर्थनीति के आधारभूत नैतिक प्रत्यय

गॉधीजी ने अहिंसक आर्थिक स्वराज्य की प्राप्ति मे अपने दर्शन के मूल प्रत्ययो को आर्थिक कसौटी पर कसा है। जब हम प्रत्येक जीव में अपने को व अपने मे प्रत्येक जीव को देखते हैं तो यही सत्य है। दूसरे का दु ख अपना दु ख मानना, यही अहिंसा की सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति है। किसी भी प्रकार का आर्थिक शोषण न हो। जमींदार, जागीरदार और पूँजीपति, गरीबो, मजदूरो, किसानो का शोषण न करे, यही अहिंसक आर्थिक स्वराज्य का मूल है। गॉधीजी आर्थिक जीवन मे भी कुछ नैतिक नियमो के पालन पर ध्यान देने को कहते हैं जैसे – अस्तेय, अपरिग्रह, स्वदेशी इत्यादि।

[i] अस्तेय

अस्तेय व्रत सत्य और अहिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। सत्याग्रही के लिए इसका पालन आवश्यक है क्योकि चौर्य चोरी का पेशा और सत्य प्रेम एक साथ नहीं चल सकते।[2] अस्तेय का सामान्य अर्थ चोरी न करना है, इसके अतिरिक्त दूसरे की वस्तु की आकाक्षा भी न करना है। कोई वस्तु लावारिस समझकर लेना भी चोरी है। अस्तेय का स्वरूप सामाजिक परिवेश में साधन और व्रत के रूप मे वृहद् हो जाता है। एक वस्तु की जरुरत होते हुए, जिसके अधिकार मे वह है उससे अनचाहे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही ले तो वह चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। वस्तुत अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और पुन हम सब अपनी जरुरतों को आवश्यकता से अधिक बताते हैं और उससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरुरतो को घटा सकते हैं। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी

---

1 अमृत बाजार पत्रिका, ३ ८ १९३४

2 Narayain Sriman – The selected workd of M K. Gandhi, Sec–IV, P – २२६–२२७

आवश्यकताएँ कम करता जाएगा। इस ससार मे अधिकतर दरिद्रता अस्तेय भग से पैदा हुई है।[1] गॉधीजी के अनुसार चोरी केवल स्थूल वस्तुओ की ही नहीं होती है विचार जैसे अमूर्त वस्तु की भी चोरी होती है। यदि कोई दूसरे के उत्तम विचार को लेकर उसे अपना मौलिक विचार मानता है तो वह चोरी है।[2] इस प्रकार इस व्रत मे स्थूल मानसिक और वैचारिक तीनो प्रकार की चोरी से अपने को विलग रखा जाता है। आजकल पूँजीवादी या अन्य व्यवस्थाओ के अधिकतर दोष अस्तेय व्रत के पालन न करने से ही पैदा हुए हैं।

गॉधीजी ने अस्तेय की मीमासा करते हुए इसे विश्वव्याप्त दरिद्रता को दूर करने का उपाय बतलाया है। आर्थिक चिन्तन मे गॉधीजी ने अपरिग्रह को भी आवश्यक बताया है।

[ii] अपरिग्रह

अहिंसा, सत्य, अस्तोय की भाति अपरिग्रह का भी बहुत प्राचीन काल से भारतीय दर्शन मे विशेष महत्व रहा है।, भारतीय दशर्न मे अपरिग्रह को मानव की आत्मशुद्धि एव नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक माना गया है। गॉधीजी ने इस प्राचीन नैतिक नियम की भी नवीन तथा व्यापक व्याख्या की है। उनके मतानुसार – "अपरिग्रह का पालन करने के लिए केवल धन सचय न करना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत भविष्य के लिए किसी भी रूप मे किसी प्रकार का सचय न करना और उसकी इच्छा भी न करना आवश्यक है।[3]" हम काम भर का रोज पैदा करने के नियमो को नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालन नहीं करते अत जगत् मे विषमता और उससे होने वाले दुख भोगते हैं तथा दूसरी ओर उनके अभाव मे करोड़ों मनुष्य भटकते रहते हैं, भूखो मरते हैं, जाडे से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता भर का ही सग्रह करें तो किसी को भी तगी न हो, और सबको सतोष रहे। आज तो दोनों ही तगी अनुभव करते हैं। करोडपति – अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सतोष नहीं रहता, कगाल करोड़पति होना चाहता है, उसे पेट भरने से ही सतोष होता दिखाई नहीं देता। परन्तु कगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अत उसे और अपने सतोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दें तो दरिद्र को काम भर सहज में मिल जाए और दोनों पक्ष सतोष का सबक सीखें। सच्चे सुधारक का,

---

1 गाँधी – मगल प्रभात, १६ ८ १६३०

2 Narayain Sriman – The selected workd of M K Gandhi, Sec–IV, P – २२८

3 डॉ. वेद प्रकाश वर्मा – महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन, पृष्ठ – ५६–५७

सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नहीं बल्कि विचार और इच्छा पूर्वक उसको घटाना है। परिग्रह घटाये जाने से सच्चा सुख और सतोष बढ जाता है सेवा शक्ति बढती है। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को घटा सकता है और ज्यो–ज्यो घटाता जाता है त्यो–त्यो सुखी शान्त और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। इसी क्रम मे उन्होने हिन्द स्वराज्य मे लिखा है – "मनुष्य की वृत्तियॉ चचल है उसका मन बेकार की दौड धूप किया करता है उसका शरीर जैसे–जैसे ज्यादा देते जाए वैसे-वैसे ज्यादा मागता जाता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगने की इच्छा बढती जाती है।"[2] आज हमारे समाज मे जो सघर्ष, अन्याय शोषण तथा अत्याचार विद्यमान है उसका एक मुख्य कारण कुछ वर्गो की अभिलाषाओ आकाक्षाओ एव आवश्यकताओ मे होने वाली निरन्तर वृद्धि है। इस दृष्टि से गॉधीजी का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि "यदि सभी मनुष्य विशेषत धनवान व्यक्ति – केवल सिद्धान्तत नहीं, अपितु वास्तव मे अपरिग्रह का पालन करे तो मानव जाति का महान कल्याण हो सकता है।"[3] सक्षेप मे हम कह सकते हैं यद्यपि आदर्श अपरिग्रह का पूर्णरूपेण पालन कर पाना सभव नहीं है फिर भी समस्त मनुष्यो को इसे अपने जीवन का अनिवार्य व्रत मानकर इसके अनुसार आचरण करने का प्रयास करना चाहिए।

गॉधीजी ने आर्थिक स्वतन्त्रता के तहत ही विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया तथा स्वदेशी के आदर्श को अपनाने की बात की।

[iii] स्वदेशी की अवधारणा (Conception of Swadeshi)

भारत मे स्वराज्य के लिए आवश्यक राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने तथा उसे विदेशी आर्थिक दासता से मुक्त करने के लिए भी गॉधीजी ने भारतीय जनता को विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करके केवल स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया। उनकी इस प्रेरणा के फल स्वरूप जनता ने विदेशी वस्त्रो की होली जलाई और अपने दैनिक जीवन में अन्य विदेशी वस्तुओं का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा की। स्वदेशी व्रत का पालन करने के लिए गाँधीजी ने भारतवासियों को खादी पहनने तथा कुछ आर्थिक हानि उठाकर भी अपने देश में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करने का उपदेश दिया। उनका कथन है कि – खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है। .. स्वदेशी

---

[1] गाँधी – मगल प्रभात, ६ ८ १६३०

[2] गाँधी – हिन्द स्वराज्य पृष्ठ – ४५–४६

[3] डॉ. वेद प्रकाश वर्मा – महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन, पृष्ठ – ६०

व्रत का पालन करने वाला सदा अपने आस–पास निरीक्षण करेगा और जहॉ–जहॉ पडोसियो की सेवा की जा सकती है, अर्थात् जहॉ–जहॉ उनके हाथ का तैयार किया हुआ माल होगा वहॉ–वहॉ वह दूसरा छोडकर उसे लेगा – फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले से महगी और कम दर्जे की ही क्यो न हो।"[1]

गॉधीजी अपने आर्थिक स्वराज्य के प्रत्यय मे स्वदेशी की भावना का निरूपण करते हुए कहते हैं – "भारत स्वदेशी की भावना के द्वारा स्वतन्त्र हुआ है और उसका आर्थिक विकास भी इसी भावना के द्वारा हो सकता है – स्वदेशी की भावना ससार के सभी स्वतन्त्र देशो मे है। स्वदेशी वही है जो शुद्ध स्वदेशी हो। किसी भी भारतीय को अपने देश की बनी वस्तु का व्यवहार करने के लिए उपदेश करना पडे तो यह उसके लिए शर्म की बात है।"[2]

गॉधीजी के अनुसार स्वदेशी स्वावलम्बन तथा स्वराज्य का पयायवाची सिद्धान्त है। स्वदेशी का अभिप्राय विशद् अर्थ में यही है कि विदेशी वस्तुओ का परित्याग कर गृह निर्मित वस्तुओ का प्रयोग, ताकि गृह उद्योग का सरक्षण हो एव विशेष रूप से उन उद्योगो का जिनके अभाव मे भारत भिक्षुक बन जाएगा हमारा अवश्यमेव सरक्षण उद्देश्य है।[3] स्वदेशी व्रत धारी अपनी परिस्थितियो को पूर्ण समझकर स्थानीय उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ के उपभोग चाहे वे घटिया एव उच्च कीमत की ही क्यो न हो उपभोग करेगा। अन्य स्थानो की निर्मित वस्तुओ की तुलना मे अपने आस–पास की बनी वस्तुओ को वरीयता देगा और अपने पडोसी की सहायता करेगा। यही स्वदेशी धर्म है, इसी से हम पूर्ण समर्थ और स्वावलम्बी होगे।[4]

गॉधीजी के स्वदेशी व्रत के विरुद्ध कुछ विद्वान् जैसे रवीन्द्र नाथ टैगोर दीनबन्धु ऐण्ड्रयूज, रोमारोला आदि ने शका उठाई है कि स्वदेशी व्रत के पूर्ण रूप से पालन करने पर अन्य देश के हित की उपेक्षा होती है, अत यहे अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। गॉधीजी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है – "अपने पास रहने वालो की सेवा मे ओत–प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना सभव है कि दूर वाले बाकि रह जाते हैं अथवा उनकी हानि होती है, पर यह केवल आभास ही है। . स्वधर्म के पालन से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुॅच ही नहीं सकती

---

1 गॉधी – धर्मनीति, पृष्ठ – १७३
उद्धृत – वेदप्रकाश वर्मा – महात्मा गॉधी का नैतिक दर्शन, पृष्ठ – १०५

2 Speeches and Writings, P – ३६६

3 यग इण्डिया १७ ६ १६३६

4 वही, १८ ६ १६३१

न पहुँचनी चाहिए अगर पहुँचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं है, बल्कि स्वाभिमान है अत वह त्याज्य है। स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला परदेशी से कभी द्वेष नहीं करेगा।[1]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गॉधीजी ने इस धर्म का पालन मानवता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी न मानकर अपने देश की सेवा के साथ–साथ दूसरे देश की सेवा के सहायक व्रत के रूप मे ही स्वीकार किया है।

[iv] कायिक श्रम (Physical Labour)

गॉधीजी के आर्थिक स्वराज्य का मूल प्रत्यय शारीरिक (कायिक) श्रम भी है। उन्होने सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से शारीरिक श्रम को विशेष महत्व दिया है। कायिक श्रम की अनिवार्यता की बात पहले–पहल टालस्टाय के एक निबन्ध एव रस्किन की पुस्तक (अन्टु दिस लास्ट) (अन्त्योदय) से गॉधीजी के ध्यान मे आई। रोटी के लिए श्रम का विचार असल मे रूसी लेखक बुर्नोह की है। टालस्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। गीता मे भी कहा गया है कि "बिना रोटी के लिए श्रम किए जो लोग अपना पेट भरते हैं वे समाज के चोर हैं।"[2] बाइबिल भी कहती है – "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।[3]

गॉधीजी का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिए कुछ न कुछ शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए। उन्होने बुद्धिजीवियो के लिए भी शारीरिक श्रम बहुत आवश्यक माना है। उनका कथन है कि शरीर को भोजन देने के लिए बौद्धिक श्रम की ही नहीं, अपितु शारीरिक श्रम की भी आवश्यकता है। शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति शारीरिक श्रम द्वारा ही की जानी चाहिए बौद्धिक श्रम द्वारा नहीं क्योकि बौद्धिक श्रम अथवा मानसिक श्रम तो केवल आत्मशुद्धि के लिए है। गॉधीजी का विचार है कि यदि सभी व्यक्ति शारीरिक श्रम द्वारा जीवकोपार्जन करने लगे तो अस्वस्थता, भोजन की कमी, पारस्परिक सघर्ष, शोषण आदि सामाजिक समस्याओ का सरलतापूर्वक समाधान हो सकता है। इसी कारण उन्होने चरखे को शारीरिक श्रम का प्रतीक माना और यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को

---

1 गॉधी – धर्मनीति, पृष्ठ – १७०, १७१, १७६

2 गीता, ३ १२

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स।।

3 डी.एम. दत्त – महात्मा गॉधी का दर्शन, पृष्ठ – ८४

कातना बुनना खेती करना, लकड़ी या लोहे की वस्तुऍं बनाना आदि कार्यो से सम्बन्धित किसी न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए।[1]

गॉधीजी ने बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम मे भेद प्रकट करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है – "शरीर की आवश्यकताऍं शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वय अपने ही सतोष के लिए हैं, उसका पुरस्कार कभी नहीं मागा जाना चाहिए। आदर्श राज्य मे डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेगे अपने लिए नहीं। शरीर श्रम के धर्म का पालन करने से सामाजिक रचना मे एक शान्त क्रान्ति हो जाएगी।"[2]

शरीर श्रम की उपादेयता बताते हुए गॉधीजी कहते हैं – "अपने देश मे जो भयानक बेकारी और गरीबी है उसे देखकर मुझे रोना आता है। लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस स्थिति के लिए हमारी अपनी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर श्रम करने मे जो गौरव है उसे हम नहीं जानते। ईश्वर ने हरेक को काम करने की और अपने रोज की रोटी से ज्यादा कमाने की क्षमता दी है। किसी भी काम को हम नीचा न माने। जरुरत इस बात की है कि ईश्वर ने जो हमें हाथ पाव दिए हैं हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहे।"[3] शरीर श्रम मे विश्वास के कारण ही गॉधीजी भिक्षा की माग और भिक्षा दान दोनो को देश हित के प्रतिकूल कहते थे। भिखमगा बनने की अपेक्षा भूखो मर जाना वे अधिक श्रेयस्कर समझते थे। पर यह बात स्वस्थ मनुष्यो पर ही लागू होती है, अपाहिजो पर नहीं। इसके साथ–साथ गॉधीजी का यह भी विश्वास था कि – "यदि शरीर श्रम के इस निरपवाद कानून को सब माने तो ऊँच नीच का भेद मिट जाए।"[4] यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पसीने की कमाई पर रहे तो दुनिया स्वर्ग मे बदल जाएगी। श्रम एक ऐसी कुजी है, जिससे व्यक्ति के कल्याण के साथ–साथ सामाजिक कल्याण का मगल स्परूप भी प्रकट होगा। श्रम सृष्टि की सबसे बड़ी सत्ता है। श्रम सर्वविजयी है। श्रम ही जीवन है और श्रम ही भगवान है।

[v] पूँजी और श्रम (Capital and Labour)

गॉंधीजी ने पूँजी की तुलना में श्रम की महत्ता बताते हुए कहा – "पूँजी से श्रम कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। बिना श्रम के सोना, चाँदी, ताबा आदि सब व्यर्थ का बोझा बन जाएगा। श्रम के द्वारा ही

---

1 डॉ॰ वेद प्रकाश वर्मा – महात्मा गॉधी का नैतिक दर्शन, पृष्ठ - १०२

2 हरिजन, २९ ६ १९३५

3 वही, ११४ १९२६

4 श्रीवास्तव, डॉ॰ जगदीश सहाय – समाज दर्शन की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी–१९६४ ई॰ पृष्ठ – ३८२

पृथ्वी तल से बहुमूल्य खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं"[1] इस पकार गॉधीजी मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य के विषय मे श्रम सिद्धान्त के समीप आ गए थे उन्होने यह भी विचार किया था कि यदि पूँजीवाद के विरोध मे श्रमिको को एक जुट किया जाए तो फिर पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त किया जा सकता है। फिर भी वे पूँजीवादी व्यवस्था के विरोधी होते हुए भी पूँजीपतियो के विरोधी नहीं थे। उन्हे कोई भी ऐसा कार्य पसन्द नहीं था जो अहिंसा के विपरीत घृणा पर आधारित हो और वर्ग सघर्ष को उत्पन्न करे। उनका दृढ विश्वास था कि "कोई भी समाज हिंसा और घृणा के आधार पर प्रगति नहीं कर सकता। जिस प्रकार मजदूरो को उचित मजदूरी नहीं देना पूँजीपतियो के लिए अनैतिक कार्य है, उसी प्रकार बढा चढाकर मागो के द्वारा मालिको को आतकित करना और उद्योग आदि को चौपट करना भी मजदूरो के लिए अनैतिक ही है। इसीलिए गॉधीजी पूँजी और श्रम, मालिक और मजदूर के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते थे।"[2] इसी के समाधान का प्रतिफल उनका ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त है।

[vi] ट्रस्टीशिप अहिंसक समाजवाद के रूप मे (Trustship as a non-violent Socialism)

अहिंसक राज्य पद्धति अर्थात् "सर्वोदय" की धारणा के साथ समाज की नवीन आर्थिक सरचना के सम्बन्ध मे महात्मा गॉधी के "ट्रस्टीशिप सिद्धान्त" का महत्वपूर्ण स्थान है। "ट्रस्टीशिप" सिद्धान्त विशेष रूप से मालकियत और आर्थिक–वितरण के प्रश्न पर नैतिक और अहिंसक समाधान का एक प्रयास है।

वर्तमान समाज की आर्थिक – व्यवस्था के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से दो विचार प्रचलित हैं – व्यक्तिवादी या पूँजीवादी विचार और समष्टिवादी या समाजवादी विचार। व्यक्तिवादी – पूँजीवादी विचार उत्पादन के व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है जिसमे व्यक्ति को अपनी क्षमता पर उपार्जन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। ऐसी अर्थ रचना का मुख्य आधार मॉग और पूर्ति का नियम है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था का आवश्यक परिणाम प्रतिस्पर्धा, उपनिवेशवाद, अमीर और गरीब के बीच विषमता, शोषण और स्वार्थपरता है, परन्तु इसकी एक विशेषता यह है कि **यह व्यक्ति को अपनी शक्ति पर उत्पादन करने को प्रेरित करता है**। उत्पादन पर किसी प्रकार का आवश्यक प्रतिबध न लगाने से राष्ट्रीय आय की वृद्धि होती है। इस प्रकार की आर्थिक सरचना इग्लैण्ड, अमरीका आदि देशों में है। समिष्टवादी या समाजवादी विचार पूँजीवादी व्यवस्था का घोर विरोधी है।

---

1 गॉधी – हरिजन, ७ ६ १९४७

2 डी.एम. दत्ता – महात्मा गॉधी का दर्शन, पृष्ठ – ८५

यह व्यक्तिगत स्वामित्व को ही शोषण का मूल कारण मानता है। यह उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बदले समूचे समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। अत उत्पादन और वितरण के कार्यो को राज्य के हाथो सौंपता है। ऐसी व्यवस्था मे व्यक्ति की स्वाभाविक उत्पादन की प्रेरणा समाप्त हो जाती है तथा वह अपनी स्वतन्त्रता खोकर यत्रवत्‌ जीवन व्यतीत करने लगता है। आर्थिक विषमता को मिटाने के लिए इसमे हिंसा का भी सहारा लिया जाता है जो समस्या का वास्तविक और उचित समाधान नहीं है, परन्तु इस प्रणाली की एक विशेषता है कि **यह "अर्थ" का वितरण व्यापक रूप से सपूर्ण समाज मे करना चाहता है**। इस विचार के समर्थक रूस और चीन आदि साम्यवादी देश माने जाते हैं। इन दोनो से भिन्न तीसरे प्रकार का भी दृष्टिकोण है जिसमे आर्थिक जीवन को तिरस्कृत कर परलोकमुखी जीवन व्यतीत करने की आकाक्षा है। वास्तव मे यह पलायनवादी विचार है, जिसका आधार सन्यासवाद ही है। इस प्रकार के विचार मे सरल और त्यागमय जीवन को ही उचित समझा जाता है तथा आर्थिक उत्पादन और प्रगति को ही उपेक्षित किया जाता है। इस प्रकार के विचार मे सामाजिक और भौतिक वास्तविकता का ही तिरस्कार होता है, जो मानव समाज के हित के विपरीत है।

"ट्रस्टीशिप" के सिद्धान्त मे गॉधीजी ने उपर्युक्त तीनो सिद्धान्त (पूँजीवाद, समाजवाद और सन्यासवाद) की बुराईयो का परित्याग कर उनकी अच्छाइयो को ग्रहण किया है। पूँजीवादी व्यवस्था का व्यक्तिगत स्वामित्व और उसका अभिक्रम, समाजवादी – व्यवस्था का समाज कल्याण और परलोकवादियो की अर्थविमुखता और त्यागमय जीवन – तीनो का एक साथ मिलन गाँधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे होता है। इस धारणा मे गीता के अपरिग्रह और समत्व भावना,[1] कानून के ट्रस्टीशिप[2] और ईशावाक्य के "तेन त्यक्तेन भुजीथा"[3] का अपूर्व समन्वय हो जाता है। यहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाज के पवित्र धरोहर के रूप मे रहता है। अत सामाजिक सपदा भोग के लिए नहीं, बल्कि जन कल्याण के लिए मानी जाती है। इसलिए यहाँ मालिक और मजदूर के बीच वर्ग-सघर्ष नहीं, बल्कि एक नवीन सबध की कल्पना की गई है जिसमें दोनों के बीच हितैक्य का भाव रहता है। यह अमीरों और गरीबो के बीच विषमता को मिटाने का अहिंसक समाजवाद है।[4] इसके द्वारा पूँजीपति

---

1 एम.के. गाँधी ऐन आटोबायोग्राफी और दी स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रूथ नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६६, पृष्ठ – १९८

2 वही, पृष्ठ – १९८

3 हरिजन, २२ फरवरी १९४२, पृष्ठ – ४९

4 वही २० अप्रैल १९४०, पृष्ठ ९७

को सुधार का एक सुअवसर[1] प्रदान किया जाता है यह विश्वास रखकर कि मानव–स्वाभाव बदल सकता है। इसमे स्वार्थ और सग्रह के लिए उत्पादन का निषेध[2] और सामाजिक आवश्यकतानुकूल समाज हित के लिए उत्पादन का भाव है।[3]

गाँधी के अनुसार ससार की सभी वस्तुओ का वास्तविक मालिक ईश्वर है जिसने इसका सृजन किया है। "सपत्ति सब रघुपति के आहीं" सबै भूमि गोपाल की" – इस बात को प्रकट करता है कि ईश्वर ही सबका मालिक है। उसने विश्व का सृजन किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं किया बल्कि समस्त प्राणियो के लिए किया है। वह सर्वशक्तिमान होते हुए भी सग्रह नहीं करता, रोज का काम रोज करता है। मनुष्य उसी ईश्वर का छोटा सा रूप है, अत उसे भी उत्पादन समाज हित की भावना से करना चाहिए स्वार्थ की भावना से नहीं। ईश्वर की भॉति उसे भी भविष्य के लिए सग्रह नहीं करना चाहिए। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के बाद जो धन बच जाए, उसे अपना नहीं मान कर ट्रस्ट का मानना चाहिए तथा उस सम्पत्ति का उपयोग समाज–हित[4] तथा राज्य–हित[5] मे करना चाहिए। यदि इस प्रकार का विचार समाज मे स्थापित हो जाए, तो गॉधीजी का यह दृढ विश्वास है कि समाज में आर्थिक विषमता मिटकर रहेगी।

गॉधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त मे आर्थिक विषमता मिटाने का प्रयत्न बलपूर्वक हिंसा के आधार पर नहीं, बल्कि विचार परिवर्तन और हृदय–परिवर्तन के आधार पर किया जाता है। गाँधीजी की यह मान्यता है कि यदि राज्य हिंसा के आधार पर पूँजीवाद का दमन करता है, तो समाज मे कभी भी अहिंसा नहीं पनप सकती। गॉधीजी यह मानते हैं कि बिना हृदय–परिवर्तन और विचार परिवर्तन के कानून के द्वारा भी सच्चा समाजवाद नहीं आ सकता। अत सबसे अधिक महत्व ट्रस्टीशिप के बारे मे जनमत तैयार करने का है। यह सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व के मूल पर ही प्रहार है। मुख्य वस्तु मूल्य परिवर्तन है। जब सम्पत्ति–सग्रह का मूल्य समाप्त हो जाएगा तो फिर इसके दोष स्वय समाप्त हो जायेगे। जब तक सत्ता नहीं प्राप्त होती है, तब तक हृदय–परिवर्तन का कार्य अनिवार्य रूप से सत्ता प्राप्त करने पर ऐच्छिक रूप से होना अनिवार्य है।[6]

---

1 वही, २५ मई १९५२, पृष्ठ – ३०

2 वही

3 वही

4 हरिजन, २२ फरवरी १९४२, पृष्ठ – ४६

5 यग इण्डिया, नवम्बर १९२१

6 प्यारे लाल टू वाईस न्यू होराइज, नवजीवन, अहमदाबाद १९५६, पृष्ठ – ६०

गॉधीजी समाज को एक परिवार के रूप मे देखते हैं। परिवार मे हर व्यक्ति की क्षमता एक समान नहीं रहती। अतएव हर व्यक्ति एक समान उत्पादन नहीं कर सकता परन्तु जो कुछ वह उत्पादन करता है, उसका एक ही मालिक उस परिवार का मुखिया है जो उस सम्पत्ति का उपयोग समस्त परिवार के लिए करता है। ठीक उसी प्रकार समाज मे भी शक्ति की विषमता के कारण, उत्पादन की विषमता होगी, इसलिए व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा मेधा के अनुकूल करोडो का उपार्जन करने का अधिकार है।[1] गॉधी समाज मे समता लाना चाहते हैं परन्तु ऐसी समता नहीं लाना चाहते जिसमे व्यक्ति अपनी मेधा का पूरा उपयोग ही न कर सके। गॉधी के अनुसार यदि व्यक्ति की शक्ति और मेधा को बेकाम बनाने वाली समता लाई गई तो वह मृतवत् होगी जिसमे समाज जीवित नहीं रह सकेगा।[2] अत गॉधीजी का यह सुझाव है कि व्यक्ति उपार्जन अपनी शक्ति और मेधा भर करे, परन्तु उसका उपयोग समाज हित के लिए हो। उत्पादन का अधिकाश राज्य के कल्याण मे खर्च हो। इसी तरह वितरण की समता का यह अर्थ नहीं है कि कम आवश्यकता और अधिक आवश्यकता वालो को एक समान ही मिले। पाचन क्रिया के कमजोर वालो को और अधिक पचाने वालो को समानता के नाम पर एक समान भोजन नहीं दिया जाएगा।[3] समता का अर्थ अधिक से अधिक समता है। इसीलिए गॉधीजी निम्नतम परिश्रम और उच्चतम आय को निर्धारित करना चाहते थे तथा समय–समय पर उसे बदल कर धीरे–धीरे विषमता कम करना चाहते थे।[4] गॉधीजी यह तय नहीं करना चाहते थे कि कौन व्यक्ति कितना समाज हित मे देगा, लेकिन उनका विचार था कि आवश्यकता से अधिक रखने का अधिकार उत्पादक को नहीं है।

यहॉ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक रख ही नहीं सकता तो वह करोडो की सपत्ति क्यो उत्पन्न करेगा ? फिर जो सपत्ति उत्पन्न करेगा वह बिना हिंसा और शोषण के सभव ही नहीं है। अत ट्रस्टीशिप के बदले धन कम उत्पादन करने की ही शिक्षा क्यों न दी जाए ? इस प्रश्न के उत्तर में गाँधीजी का कहना है कि वित्त की तृष्णा नहीं करना ही सर्वोत्तम है।[5] इसलिए उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन मे इच्छा का त्याग किया, परन्तु वे जानते थे कि ऐसा सभी

---

1 हरिजन, फरवरी १९४२१ पृष्ठ – ४५

2 वही

3 हरिजन ५ अप्रैल १९४०

4 वही २५ अक्टूबर १९५२

5 वही, ३ अगस्त १९४२, पृष्ठ – ६७

नहीं कर सकते। अत एक स्वामित्व उनके हाथ मे रहे, ताकि उन्हे सतोष हो और अधिकाधिक सपत्ति उत्पादन के लिए उसे प्रेरणा मिलती रहे, लेकिन इसका उपयोग वे समाज के लिए करे इससे उनकी धर्म भावना भी पुष्ट होगी तथा उनके "स्व" को भी सतोष मिलेगा। अत कुछ व्यक्ति जो पहले से धन जमा कर चुके हैं तथा धन सग्रह करने की इच्छा का त्याग नहीं कर सकते है उनके लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त लागू होता है। इसके पीछे व्यावहारिक बुद्धि का बल है।[1]

पुन अनुभव से यह सिद्ध होता है कि बडे–बडे सन्त महात्मा हुए परन्तु पूँजीपति का हृदय परिवर्तन नहीं कर सके। अत यह कोई जरुरी नहीं है कि जमींदार या पूँजीपति स्वेच्छा से अपनी सपत्ति को गरीबो की सेवा मे लगाए। ऐसी स्थिति मे समाज की विषमता सदैव ज्यो की त्यो बनी रहेगी। गॉधीजी इस प्रश्न का भी सुन्दर उत्तर देते हुए कहते हैं कि "जमींदारो और पूँजीपतियो की सत्ता श्रमिको के सहयोग पर आश्रित है।"[2] यदि श्रमिक वर्ग उनका सहयोग करना बन्द कर दे तो वे विपुल धनराशि इकट्ठा नहीं कर सकते हैं। अत यदि वे मजदूरो के प्रति ट्रस्टी का बर्ताव नहीं करते हैं तो श्रमिको मे अहिंसक असहयोग करने की शिक्षा दी जा सकती है और उससे बाध्य होकर उन्हे ट्रस्टी का आचरण करना पडेगा।[3] दूसरी बात यदि पचायती राज की स्थापना हो जाती है और जनमत ट्रस्टीशिप के पक्ष मे होता है तो पूँजीपति जनमत का विरोध कर टिक नहीं सकते।[4] यदि इतने पर भी व्यक्ति में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास नहीं होता है तो राज्य को यह अधिकार होगा कि जनहित के लिए कम से कम बल प्रयोग और हिंसा का सहारा लेकर उनकी सपत्ति का अपहरण कर ले,[5] अथवा उसका कमीशन तय करे।[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधीजी का यह सिद्धान्त कल्पना लोक का प्रत्यय नहीं, बल्कि व्यवहारिक सिद्धान्त है, परन्तु इसकी व्यावहारिकता उत्तम सस्कृति पर आधारित है। यह ठीक है कि इसका आचरण करना कठिन है, परन्तु यदि सिद्धान्त सही है तो इस दिशा मे प्रयत्न ही उचित है। बिना किसी सफलता और विफलता का विचार किए अहिंसा का पुजारी इसका आचरण करेगा। गाँधी भी इस बात से अवगत थे कि पूर्ण ट्रस्टीशिप का पालन रेखागणित के बिन्दु के समान है।[7] जो कभी वास्तविक नहीं हो सकता, परन्तु उनका यह भी विश्वास

---

1 हरिजन, पृष्ठ – ६७
2 वही २२ अगस्त १६४०
3 वही
4 प्यारे लाल टू बाईस न्यू होराइज, पृष्ठ – ६७
5 हरिजन, २५ अक्टूबर १६५२
6 हरिजन ३१ मार्च १६४६
7 माडर्न रिव्यू, १६३५

है कि यदि इस दिशा मे प्रयास किया जाए तो धीरे–धीरे प्रेम की मात्रा समाज मे बढने लगेगी और हमे यह विश्वास होने लगेगा कि इससे बढकर पृथ्वी पर समता लाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।[1] गॉधीजी का यह भी विश्वास था कि चूँकि इस सिद्धान्त के पीछे धर्म और दर्शन का आधार प्राप्त है, अत सभी सिद्धान्त समाप्त हो सकते हैं लेकिन यह सदैव सत्य रहेगा।[2] इसके द्वारा एक सार्वभौम जीवन पद्धति का विकास होगा जिसमे लोग अपने पडोसियो के लिए चिन्ता करेगे।[3]

मार्क्सवादी विचारक आर्थिक समता लाने के लिए बलपूर्वक पूँजीपतियो की सपत्ति का अपहरण करना चाहते हैं। अन्त मे व्यक्तिगत पूँजीवाद समाप्त तो होता है, लेकिन पूँजी के लिए व्यक्तिगत स्पृहा नहीं जाती। व्यक्ति का जीवन मूल्य नहीं बदलता, अतएव गॉधीजी पूँजीपतियो का सास्कृतिक परिवर्तन करना चाहते हैं जिसमे वे अपने स्वार्थ और सग्रह की वृत्ति से अलग होकर धन रहते हुए भी श्रमिको का सरल जीवन व्यतीत कर सके[4] और श्रमिको को ऐसा अनुभव हो कि पूँजीपति भी उसी के समान है। उनमे इस चेतना का विकास हो कि जो सपत्ति उनके पास है, उसमे वे केवल जीने भर के लिए हकदार है, बाकी सपत्ति समुदाय की है। इसमे एक लाभ यह भी है कि हमें न केवल पूँजीपतियो की पूँजी प्राप्त होती है, बल्कि उनकी व्यवस्था और व्यापक बुद्धि का भी लाभ होता है।

मार्क्सवादी विचारक समता लाने के लिए पूँजीपतियो के प्रति प्रतिशोध का भाव रखते हैं। गाँधीजी पूँजीपतियो के प्रति न तो ईर्ष्या रखते हैं और न प्रतिशोध का भाव रखते हैं। वे केवल पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते है।[5] मार्क्सवादियो का यह विश्वास है कि केन्द्रित उत्पादन और वितरण की व्यवस्था से ही आर्थिक विषमता मिटायी जा सकती है। समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था बदलने के लिए जनता मे हिंसा की शिक्षा देते हैं। केन्द्रीकरण के मूल में ही हिंसा बैठी हुई है जिसका विभत्स रूप आज हम दुनिया के औद्योगिक राष्ट्रो में देख रहे हैं। गॉधीजी पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए श्रमिको को अहिंसक असहयोग का प्रशिक्षण देना चाहते हैं जिससे श्रमिक अपनी ही शक्ति का[6] विकास कर परिस्थिति मे अनुकूल परिवर्तन ले आते हैं और हिंसा की जरुरत नहीं पड़ती।

---

1 वही
2 वही
3 हरिजन, २२ फरवरी १९४२
4 हरिजन ३ जून १९३९
5 वही
6 एन.के. बोस स्टडीज इन गॉधीज्म, पृष्ठ – ९२

गॉधीजी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के द्वारा आय का समान वितरण करना चाहते हैं। वे वकील डाक्टर हाथ कारीगर और मेहतर – सबके लिए समान वेतन की माग करते हैं। इससे स्पष्ट है कि समाजवादी प्रकिया और गॉधीवादी प्रक्रिया मे मुख्य रूप से हिंसक और अहिंसक साधन का ही भेद है। गॉधीजी का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त की तुलना मे काफी दूरदर्शितापूर्ण है और व्यवहारिक भी। गॉधी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को केवल पूँजीपतियो के लिए ही लागू नहीं करते बल्कि यह सभी पर लागू होता है। धन के अन्तर्गत केवल स्थूल धन ही नहीं आते हैं बुद्धि[1] शक्ति आदि सभी धन के अन्तर्गत आते हैं। अत इनके सम्बन्ध मे भी ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त लागू होता है। इसका आचरण व्यक्ति समुदाय और राज्य – सभी के लिए अभिप्रेत है।

गॉधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के प्रति कई प्रकार के आक्षेप लगाए जाते हैं कुछ लोग इसे यूटोपिया (Utopia) कहते हैं तो कुछ इसमे गॉधीजी का पूँजीपति के प्रति पक्षपात देखते हैं। यह भी कहा जाता है कि गॉधी यह नहीं समझ सके थे कि पूँजीवादी व्यवस्था ही शोषण पूर्ण और मानवतावाद के विरुद्ध है। यहॉ इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पूर्ण सत्य और सापेक्ष सत्य, पूर्ण अहिंसा और व्यावहारिक अहिंसा, राज्य निरपेक्ष समाज और अहिंसक राज्य के बीच गाँधीजी ने भेद कर पूर्ण आदर्श को केवल सामने रखा है तथा व्यवहार और परिस्थिति के समुचित ज्ञान के आधार पर ही उसे यथासभव रूप मे कार्य मे परिणित करने का प्रयास किया है, उसी प्रकार पूर्ण ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त भी आदर्श है। व्यवहार परिस्थिति के अनुकूल है, अत इस सिद्धान्त को कार्य रूप प्रदान करने की आवश्यकता है।

(क) ट्रस्टीशिप (Trustiship) क्या है ?

गॉधीजी ने अपने "ट्रस्टीशिप" नामक सिद्धान्त मे पूँजीवाद तथा समाजवाद के कुछ सिद्धान्तो के साथ – साथ अन्य नवीन सिद्धान्तों का भी समावेश किया है। गाँधी का "ट्रस्टीशिप सिद्धान्त" एक प्रकार का अहिंसक समाजवाद है, जिसमे समता तथा स्वतन्त्रता दोनो का समावेश हुआ है। "ट्रस्टीशिप" का निर्माण "ट्रस्ट" से हुआ है, जिसका कानूनी अर्थ है – उस कर्तव्य भार का नाम जो संपत्ति के स्वामित्व के साथ जुड़ा रहता है और जिसकी सपत्ति उस विश्वास पर निर्भर रहती है, जो स्वामी मे दूसरे के लाभ हेतु अथवा दूसरे के और स्वामी के लाभ हेतु स्थित होता है या जिसे वह स्वामी स्वीकार कर लेता है। गाँधी को ट्रस्ट की उपर्युक्त विशेषताएँ मान्य थीं। उन्होंने ट्रस्ट शब्द की

---

1 एन.के. बोस स्टडीज इन गाँधीज्म, पृष्ठ – ११७

दो विशेषताएँ भी बताई है – इसकी पहली विशेषता यह है कि सचित द्रव्य आन्तरिक गुण और आवश्यकता की पूर्ति के बाद जो धन बचे उसे धरोहर के रूप मे रखा जाए। दूसरी विशेषता है कि उक्त कर्तव्य भार केवल प्रेममय सेवाभाव से प्रेरित हो न कि किसी अन्य स्वार्थ से परिपूर्ण लौकिक या पारलौकिक कामना हो। अत ट्रस्टीशिप जो कि "ट्रस्ट" शब्द की सज्ञा है का अर्थ हुआ – सामाजिक परिस्थिति या स्वय के पुरुषार्थ से जो कुछ भी मनुष्यो को प्राप्त हो उसे वह धरोहर समझे। प्रत्येक मनुष्य के पास उपभोग के बाद जो सपत्ति है उसको वह मुनाफा दलाली ठेका ब्याज आदि के लिए प्रयोग न करके उसका अपने को मात्र सरक्षक ही समझे। उन्हे इस धन को लोकोपकार राष्ट्र निर्माण तथा सामाजिक कार्यो मे व्यय करना चाहिए।[1] गॉधी ने सपन्ति भूमि, साधन, श्रम, बुद्धि आदि को ट्रस्टीशिप का अग समझा तथा कहा कि इन सबका व्यक्ति केवल सरक्षक मात्र है अत उसे समाज को लौटा देना चाहिए। उन्होने प्रतिभाशाली मनुष्यो को प्रेरणा दी और कहा कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी प्रतिभा का समुचित उपयोग करे किन्तु उन्हे इस बात का ध्यान देना आवश्यक है कि वे ट्रस्टीशिप के नियम का पालन करे। गॉधी ने ट्रस्टीशिप अर्थात् सरक्षक को राज्य के सलाह से अपने उत्तराधिकारी के चयन की छूट तो दी है किन्तु उनका अतिम लक्ष्य है कि ट्रस्टी का जनता के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति उत्तराधिकारी नहीं होता है, उन्होने राज्य को सलाह दी है कि यदि ट्रस्ट की सपत्ति का दुरुपयोग होता है तो वह हिंसा के प्रयोग द्वारा भी उसे अपने अधिकार मे लेकर उसका सुधार कर सकता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति मे भी गॉधी ने राज्य को आत्मविश्वास की ही दृष्टि से देखा तथा कहा कि स्वेच्छा से किया गया अहिंसक कार्य ही सबसे अधिक उपयुक्त है।

गॉधीजी के इस ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे कानून के ट्रस्टीशिप[2], गीता के अपरिग्रह और समत्व भावना[3] तथा ईशावास्योपनिषद् के "तेन त्यक्तेन भुजी था"[4] आदि का समन्वय है। उन्होंने सघर्ष के बिना ही समाज मे एक ऐसी क्रान्ति की जिससे की ट्रस्ट का समुचित उपयोग हो सके।[5] गॉंधी ने अस्तेय और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तो को ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से इस प्रकार जोड़ दिया है कि स्वामित्व और सपत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

---

1 आत्मशुद्धि, पृष्ठ – ३४–३५

2 महात्मा गॉंधी द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंटस विद् ट्रूथ पृष्ठ – १६८

3 वही

4 हरिजन, २२ २ १९४२ पृष्ठ – ४६

5 हरिजन सेवक २४ ८ १९४०, पृष्ठ – २३१–२३२

(ख) ट्रस्टीशिप का महत्व

गॉधीजी ने "ट्रस्टीशिप – सिद्धान्त" द्वारा समाज को एक नवीन दिशा दी है। उन्होने इस सिद्धान्त के द्वारा एक ऐसे समाज की कल्पना की है जो कि शोषण विहीन अहिंसक तथा समता का वरण करेगा। ऐसा समाज गॉधी का सर्वोदय समाज ही होगा। इस प्रकार गॉधी का यह सिद्धान्त सर्वोदय समाज की स्थापना मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस समाज की स्थापना मे ट्रस्टीशिप का योगदान इरा प्रकार होगा –

१ प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से अपनी शक्ति तथा रुचि के अनुसार उन्नतिशील ढग से कार्य करना अधिक से अधिक समाज को देना तथा कम से कम उससे लेना परिणामत इससे स्वत समाज का उत्थान होगा।

२ इस सिद्धान्त से मात्र सपत्ति, भूमि तथा साधन को ही ट्रस्टीशिप का अग नहीं माना है। इसने श्रम तथा बुद्धि को भी इसका अग मानकर इनके समुचित उपयोग की सलाह दी है।

३ इस सिद्धान्त का यदि वरण किया जाए तो पूँजीपति तथा सर्वहारा के बीच क्रान्ति सभव ही नहीं हो सकती, जिसका की मार्क्स वरण करता है।

४ समाज मे समता का भाव आने पर सपत्ति के लिए एक दूसरे का शोषण करना, चोरी व डकैती करना, तस्करी आदि सामाजिक बुराइयो का निराकरण हो जाता है।

(ग) ट्रस्टीशिप के अग (गाँधी और मार्क्स)

ट्रस्टीशिप के तीन महत्वपूर्ण अग है – प्रथम – कोई ट्रस्ट करने वाला व्यक्ति होता है, द्वितीय – कोई वस्तु होती है जिसका कि ट्रस्ट किया जाता है, तथा तृतीय – किसी के लाभ के लिए ट्रस्ट किया जाता है, चाहे वह व्यक्ति हो या समाज। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि कौन–कौन सी वस्तुओं का ट्रस्ट किया जा सकता है ? गाँधीजी ने सपत्ति तथा श्रम का ट्रस्ट मे समावेश किया था। उनका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने उपभोग से बची हुई शेष वस्तुओं का ट्रस्टी बन जाना चाहिए तथा उसे लोकोपकार, राष्ट्र निर्माण और सामाजिक कार्यों में व्यय करना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी प्रत्यक्ष सपत्ति का ट्रस्टी होता है, उसी प्रकार उसे अपनी अप्रत्यक्ष सपत्ति के रूप में विद्यमान आतरिक शक्तियों (श्रम) का भी उसे ट्रस्टी ही होना चाहिए। यदि व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों का उपयोग ट्रस्टी समझकर नहीं करेगा तो वह ट्रस्टी बन ही नहीं सकता है क्योकि वाह्य शक्तियों आन्तरिक शक्तियों का ही परिणाम है।

गॉधी ने श्रम को दो भागो मे बॉटा है – **शारीरिक तथा मानसिक श्रम।** शारीरिक श्रम दो प्रकार का होता है – वैतनिक तथा उदर–पोषी श्रम। मार्क्स ने वैतनिक श्रम तथा गॉधी ने उदर–पोषी श्रम की बात की है। मानसिक श्रम करने वालो को भी गॉधी ने दो भागो मे विभक्त किया है – वैतनिक तथा उदर–पोषी श्रम जिसमे से गॉधी ने दूसरे भाग का ही समर्थन किया है। उन्होने मानसिक तथा शारीरिक दोनो श्रमो को समानता के ही स्तर पर रखा है अर्थात एक वकील के कार्य का उतना ही महत्व है जितना कि एक नाई के कार्य का क्योकि दोनो ही व्यक्ति अपने श्रम द्वारा ही जीवन यापन करते हैं। अतएव दोनो को समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए।[1] गॉधी ने समान पारिश्रमिक की बात की है जबकि मार्क्स ने आवश्यकता की पूर्ति की बात की है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार ही पारिश्रमिक मिलना चाहिए। श्रम के समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गॉधी ने सलाह दी थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सपत्ति तथा श्रम का ट्रस्टी समझकर ही उपयोग करना चाहिए। जब व्यक्ति स्वत ट्रस्टी समझकर उपयोग करता है, तब वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओ का केवल उतना ही भाग उपभोग मे लाता है, जितना कि उसके लिए आवश्यक है, शेष भाग वह लोकोपकार मे लगा देता है। इस प्रकार गॉधीजी अपने सर्वोदय सिद्धान्त की व्याख्या करते थे।

(घ) ट्रस्टीशिप मे सपत्ति के नियोजन की प्रक्रिया

आदर्श आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए गॉधीजी सपत्ति के समुचित नियोजन की प्रक्रिया पर बल देते थे। उन्होने सपत्ति के नियोजन की प्रक्रिया को निम्नलिखित प्रकार से कार्यान्वित करने का परामर्श दिया था –

(१) समुचित वितरण

सपत्ति के वितरण के सदर्भ मे गॉधीजी का सिद्धान्त न्याय वितरण का है।[2] यद्यपि गॉधीजी का आदर्श सम–वितरण का था किन्तु वे इसे पर्याप्त नहीं मानते थे। अतएव उन्होंने सपत्ति के न्याय वितरण का समर्थन किया। उनका मत था कि आर्थिक समता का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को समान ही उपभोग की वस्तु मिले। गॉधी का विचार था कि आर्थिक

---

1 हरिजन २३ ३ १९४७, पृष्ठ – ७८

2 द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गॉधी पृष्ठ – १०२

समता का तात्पर्य है प्रत्येक व्यक्ति को रहने के लिए उचित मकान खाने के लिए पर्याप्त और सतुलित भोजन तथा पहनने के लिए खादी मिले। इनका यह भी तात्पर्य था कि वर्तमान समय मे जो विषमता फैली हुई है, वह निष्कलक अहिसक साधनो द्वारा समाप्त कर दी जाए।[1] इस प्रकार गॉधी ने प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकतानुसार सामाजिक सपत्ति को लेने का अधिकार दिया। यदि स्वार्थ की दृष्टि से देखा जाए तो उपर्युक्त भावनाओ के क्रम मे परिवर्तन हो सकता है, किन्तु ज्यो–ज्यो परार्थ विकसित होता जाता है अर्थात् पाशविक सभ्यता से मनुष्य मानुषिक सभ्यता की ओर अग्रसर होता जाता है त्यो–त्यो उसमे समभागीय वितरण की बात विकसित होने लगती है। गॉधी की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति की जितनी आवश्यकता हो उसे उतना ही दिया जाए। इसे ही **"कौटुम्बिक न्याय"** कहा जाता है। गॉधी ईश्वर मे विश्वास करते थे। अत वे कहते थे कि जिस प्रकार ईश्वर सबको समान नहीं देता है, वह तो मात्र आवश्यकताएँ ही पूरी करता है उसी प्रकार मैं भी सबको एक समान देने की बात का पूर्णतया समर्थन न करके न्याय–वितरण का ही समर्थन करता हूँ। उन्होने सपत्ति और साधन जो कि उत्पादन मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उनके प्रयोग का अधिकार सभी मनुष्यो के लिए समान माना था। उनका मत था कि ऐसा करने से भूमि, सपत्ति आदि के प्रयोग के सदर्भ मे जो प्रतियोगितात्मक द्वेष उत्पन्न होता है, वह समाप्त हो जाएगा तथा प्रेम एव सहयोग का भाव उत्पन्न होगा।

(२) विकेन्द्रीकरण (Decentralisation)

गॉधी ने राज्य की विभिन्न इकाईयो को विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी बनाने का भी प्रयास किया, जिससे स्वस्थ तथा प्राकृतिक वातावरण से उनके जीवन मे सरलता, सामाजिकता, प्रेम, सहयोग आदि सद्‌गुणो का विकास हो सकें। उनका परामर्श था कि प्रत्येक ग्राम या इकाई को अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त सामग्री पैदा करनी चाहिए। जिन वस्तुओ को वे पैदा न कर सके, उन्हे अन्तर ग्राम या अन्तर इकाई के माध्यम से प्राप्त करें। उनका मत था कि भारत को यदि अहिंसक तरीके से विकसित करना है, तो उन्मे बहुत सी वस्तुओं को विकेन्द्रित कर देना चाहिए।[2] वे विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को भारत के लिए उपयुक्त मानते थे। उनकी धारणा थी कि यदि यहाँ पर केन्द्रीयकरण कर दिया जाएगा तो यह अहिंसक समाज का विरोधी सिद्ध होगा तथा इससे हिंसा को प्रश्रय मिलेगा। गाँधीजी विकेन्द्रित

---

1 द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ – २२१

2 सर्वोदय, पृष्ठ – ४०

अर्थव्यवस्था से बहुत अधिक लाभ होने का अनुमान करते थे। उनका मत था कि इससे लोग सतुष्ट रहेगे तथा उनकी बौद्धिक एव नैतिक शक्ति का विकास होगा।[1] गॉधी का विचार था कि विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना हो जाने पर राज्य की सुरक्षा भी आसानी से की जा सकेगी क्योकि जब भी युद्ध आदि होता है तो आक्रमणकारी बडे–बडे नगरो तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानो को सर्वप्रथम समाप्त करना चाहता है, जिससे कि उस राष्ट्र की अर्थव्यवस्था चरमरा जाए। इस कार्य के लिए विध्वसक अस्त्रो का प्रयोग किया जाता है। यदि इन प्रतिष्ठानो का विकेन्द्रीकरण हो जाएगा तो युद्ध के समय इस प्रकार की समस्या उठेगी ही नहीं, क्योकि विभिन्न स्थानो तक फैली देश की सपत्ति को विनष्ट करना विरोधी के लिए बहुत ही कठिन होगा। इसके अतिरिक्त उद्योग एव व्यवसायो के छोटे–छोटे नगरो कस्बो और गॉवो मे फैले होने से ग्रामीण स्तर की बेकारी की समस्या का निराकरण भी हो जाएगा तथा नगरीकरण की प्रवृत्ति पर भी रोक लगेगी। इस प्रकार की व्यवस्था द्वारा वे सर्वोदय की कल्पना को साकार बनाना चाहते थे।

(ङ) ट्रस्टीशिप की उत्पत्ति का आधार

महात्मा गॉधी के ट्रस्टीशिप उसके अग, सपत्ति नियोजन तथा उत्पादन की प्रक्रिया के स्वरूप निर्धारण करने के पश्चात् ट्रस्टीशिप के आधार पर विचार करना आवश्यक है। गॉधीजी ने इन आधारो पर निरूपण निम्न प्रकार से किया है –

ट्रस्टीशिप का पहला आधार **कानूनी** है। गॉधीजी बैरिस्टर थे अतएव उन्हे ट्रस्ट सबधी कानून का ज्ञान था। वे ट्रस्ट के प्रचलित लौकिक तथा पारलौकिक विचारधारा से अवगत थे और उन्होंने ट्रस्टीशिप के परपरागत स्वरूप मे प्रेम, त्याग, उत्साह आदि नवीन भावना का समावेश कर उसे एक नया आयाम दिया।

दूसरा आधार है – **हिन्दू कौटुम्बिक जीवन का अनुभव**। उन्होंने देखा था कि हिन्दू परिवार के लोग आपस में प्रेम तथा सौहार्द्र के साथ रहते हैं तथा अपनी शारीरिक एव बौद्धिक क्षमता के अनुसार कार्य करते हैं। सभी सदस्यों द्वारा उत्पादित सपत्ति परिवार के प्रमुख के हाथ मे रहती है, जिसको वह आवश्यकता के अनुसार खर्च करता है। परिवार के अन्य सदस्य ट्रस्टी के अग रूप में कार्य करते हैं, जिससे परस्पर प्रेम और सौहार्द्र की भावना का विकास होता है।

---

[1] हरिजन सेवक, १८.१.१९४२, पृष्ठ – ६

तीसरा आधार है – **दान प्रथा**। गॉधीजी ने देखा कि भारत मे दानी मनुष्यो मे दूसरे मनुष्यो के लाभ के लिए दान देने की क्षमता तथा इच्छा है। अतएव दानी स्वय को अपनी सपत्ति का ट्रस्टी ही समझता है। जब मनुष्य मे अपनी सपत्ति के कुछ अश को दूसरो के लाभ के लिए देने की क्षमता है तो एक ऐसा समय भी आ सकता है कि वह अपने दानाश को इतना बढा दे कि उसके पास बचा हुआ शेष धन उसके जीवन के लिए ही मात्र पर्याप्त हो। सभवत इस भावना से भी प्रभावित होकर गॉधी ने प्रत्येक मनुष्य को अपनी सपत्ति का ट्रस्टी समझने का परामर्श दिया।

ट्रस्टीशिप का चौथा आधार **ईशावास्योपनिषद् का प्रथम श्लोक** है जिसमे कहा गया है कि इस ससार मे जो कुछ भी है वह ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए ईश्वर के नाम से त्याग करके तुम यथा प्राप्त वस्तुओ का उपभोग करो, किसी के धन को लेने की इच्छा न करो।[1] इस श्लोक से गॉधीजी के मन मे यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि जब समस्त सपत्ति का स्वामी ईश्वर है, तब तो सपत्ति रखने वाला व्यक्ति उसका ट्रस्टी मात्र ही हो सकता है।

इस सिद्धान्त का पॉचवा आधार – **श्रीमद्भगवद्गीता** है। श्रीमद्भगवद्गीता मे प्रतिपादित श्री कृष्ण के उपदेशो से गॉंधीजी के ट्रस्टी के सिद्धान्त को और अधिक बल मिला। इस सबध मे उन्होने कहा था – "मेरे लिए यह पुस्तक आचार की एक प्रौढ–दर्शिका बन गई। गीता के अध्ययन के फलस्वरूप ट्रस्टी शब्द का अर्थ विशेष रूप से मेरी समझ मे आया। कानून के प्रति मेरा आदर बढा। मुझे उसमे भी धर्म के दर्शन हुए। ट्रस्टी के पास करोड़ों के रूपये के रहते हुए भी उसमें की एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्ष को ऐसा बर्ताव करना चाहिए। यह बात मैंने गीता से समझी है।"[2] इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत स्वामित्व भी सामाज की पवित्र धरोहर के रूप मे रहता है। इसलिए सामाजिक सपत्ति उपभोग के लिए नहीं, अपितु जन कल्याण के लिए ही होती है। यही अमीरी और गरीबी के बीच स्थित विषमता को समाप्त करने वाला अहिंसक समाजवाद है[3], जिसके द्वारा पूँजीपति के सुधार के लिए एक अवसर प्रदान किया जाता है।[4]

(च) ट्रस्टीशिप के सैद्धान्तिक उद्देश्य

ट्रस्टीशिप के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है –

---

1 ईशावास्योपनिषद – १

2 आत्मशुद्धि, पृष्ठ – २२८

3 हरिजन, २०४१९४०, पृष्ठ – ६७

4 वही, २५५१९५२, पृष्ठ – ३०१

१ ट्रस्टीशिप एक ऐसा सिद्धान्त है, जो किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत सपत्ति के स्वामित्व को मान्यता नहीं देता। यह केवल उसी सीमा तक स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार करता है, जिस सीमा तक समाज सभी मनुष्यो के कल्याण को देखते हुए स्वामित्व की स्वीकृति देता है।

२ यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को सर्वोदय की सामाजिक व्यवस्था मे बदलने का प्रयास किय। जाता है। यह सिद्धान्त स्वामी वर्ग को शुद्ध करने तथा सुधारने का नया मार्ग प्रशस्त करता है। यह इस बात मे अटल विश्वास करता है कि मानव प्रकृति मे परमार्थ की भावना स्वाभाविक एव शाश्वत है। यह इस बात मे भी विश्वास रखता है कि अत्यधिक स्वार्थी व्यक्तियो के ह्रदय एव भावनाओ को परिवर्तन करने मे यह सिद्धान्त सफल होगा।

३ यह सिद्धान्त राजकीय कानून द्वारा निर्धारित स्वामित्व को भी स्वीकृति नहीं देता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अपनी सपत्ति का उपभोग या प्रयोग कर सके। कोई भी व्यक्ति हो, यदि वह अपनी सपत्ति का उपयोग वासनाओ की तृप्ति के लिए करता है तथा सामाजिक हित का ध्यान नहीं देता है तो समाज उसे ऐसा करने से रोक सकता है।

४ इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी व्यक्ति का उत्पादन केवल व्यक्तिगत लाभ–वासना की तृप्ति के लिए नहीं होगा, अपितु सामाजिक आवश्यकताओ की तृप्ति के लिए भी होगा।

५ इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्यत कार्य करना होता है तथा उसके निर्वाह और कुशल क्षेम के लिए साधन भी निर्धारित किया जाता है, जिससे कि व्यक्तिगत समाज में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ के लिए दु खी न हो। इसके लिए अधिकतम आय की सीमा निर्धारित की जाती है। साधन सपन्न होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति को देश की परिस्थिति के अनुकूल एक सीमित आय का उपभोग एव प्रयोग करना होता है। यह सिद्धान्त न्यूनतम तथा अधिकतम का अन्तर एक सक्रमणकालीन सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार करता है तथा कामना करता है कि धीरे–धीरे यह अन्तर भी समाप्त हो जाएगा।

६ यह सिद्धान्त प्रत्येक नागरिक को मर्यादित जीवन जीने की सलाह देता है। यदि कोई भी व्यक्ति अपने धन का दुरुपयोग करता है तो ऐसा कार्य उसके समाज के प्रति अन्याय होगा। ऐसे कार्य को अनैतिक माना जाएगा, इसलिए समाज को यह अधिकार है कि उसे ऐसा करने से रोके।

७ यह सिद्धान्त अपने, समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होने की बात करता है। शरीर की रक्षा करना व्यक्ति का पुनीत कर्तव्य है। व्यक्ति को अपना उत्पादन समाज को समर्पित करके ही उसका उपभोग करना चाहिए।

(छ) ट्रस्टीशिप की व्यावहारिकता तथा उसको व्यवहार मे लाने के उपाय

गॉधीजी ने ट्रस्टीशिप को केवल एक सिद्धान्त के रूप मे ही नहीं वरन् उसको व्यावहारिकता के धरातल पर भी उतारने का प्रयास किया था। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जिस व्यक्ति के पास धन हो वह उसे अपना समझकर कार्य न करे, अपितु समाज का समझकर रखे तथा लोक कल्याण के लिए व्यय करे। धनी व्यक्ति यदि जन–सामान्य की तरह सादगी से रहते हैं तथा कम खर्च करते है तो वे जनता के ट्रस्टी कहे जा सकते हैं किन्तु इसके लिए उन्हे शेष धन को समाज को समर्पित करना होगा। ट्रस्टीशिप की व्यावहारिकता इस बात मे है कि गॉधीजी ने धनी व्यक्तियो की सपत्ति बलपूर्वक लेने के पक्ष का समर्थन नहीं किया, अपितु उन्होने अमीरो को सलाह दी है कि वे अपनी सपत्ति को ट्रस्ट के रूप मे समझे तथा लोकोपकार मे खर्च करे। इस प्रकार धन का समुचित वितरण होने पर सपन्नता तथा विपन्नता का प्रश्न ही समाप्त हो जाएगा। इस वितरण व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए विचार तथा ह्रदय परिवर्तन की आवश्यकता है।[1] इसके लिए ट्रस्टीशिप के पक्ष मे जनमत तैयार करने की भी जरुरत होती है। इस कार्य की सिद्धि के लिए गॉधीजी ने सपूर्ण समाज को एक परिवार के रूप में देखा और कहा कि परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की कार्य क्षमता एक समान नहीं होती है, और न ही वे एक समान उत्पादन ही कर पाते हैं, किन्तु जो कुछ भी उत्पादन होता है उसका उपभोग परिवार के समस्त सदस्य करते हैं। उसी प्रकार समाज मे भी शक्ति तथा क्षमता की भिन्नता से उत्पादन मे विषमता रहती है, अतएव वहाँ भी ट्रस्टी की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि यदि इस नियम का पालन न किया जाए तो परिवार की तरह समानता का नियम यहाँ चरितार्थ नहीं हो सकेगा।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पर कतिपय व्यावहारिक प्रश्न किये जा सकते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि यदि मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक रख नहीं सकता है तो वह करोडो की सपत्ति ही क्यों उत्पन्न करेगा ? और करोड़ों की सपत्ति का उत्पादन जो करेगा, वह बिना हिंसा और शोषण के सभव नहीं है। इसलिए ट्रस्टीशिप के स्थान पर कम धन के उत्पादन की ही शिक्षा क्यों न दी जाए ? इसके उत्तर में गाँधीजी का मत था कि धन की तृष्णा न करना ही सर्वोत्तम है।[2] परन्तु वह जानते थे कि सभी मनुष्य ऐसा नही कर सकते हैं। अतएव गाँधी ने उन्हें अपनी सपत्ति का ट्रस्टी बनने की

---

1 टु वर्ड्स न्यू होरिजन्स, पृष्ठ – ६०–६१

2 हरिजन, ३८१९४२, पृष्ठ – ६७

सलाह दी थी जिससे कि उन्हे आत्म–सतोष हो तथा अधिक से अधिक धनोपार्जन करने के लिए प्रेरणा मिले। गॉधीजी का ऐसा करने का परामर्श उनकी व्यावहारिक बुद्धि को प्रकट करता है।[1] इस सदर्भ मे दूसरी समस्या यह है कि यह अनुभव सिद्ध है कि पूँजीपति स्वेच्छा से अपनी सपत्ति को गरीब मनुष्यो की सेवा के लिए नहीं देते ऐसी सिथित मे विषमता का निराकरण नहीं हो सकता। इस समस्या के सदर्भ मे गॉधीजी का मत था कि पूँजीपतियो की सत्ता श्रमिक वर्ग के सहयोग पर आश्रित होती है।[2] यदि श्रमिक वर्ग, पूँजीपतियो का सहयोग करना बन्द कर दे तो पूँजीपति धन एकत्र कर ही नहीं सकते हैं इसलिए यदि मजदूरो के प्रति ट्रस्टी का व्यवहार नहीं करते हैं तो मजदूरो मे अहिंसक असहयोग की शिक्षा दी जा सकती है जिससे वे ट्रस्टी सिद्धान्त को अपना लेगे।[3] दूसरी बात यह है कि यदि पचायती राज स्थापित हो जाता है तथा जनमत ट्रस्टीशिप का समर्थन करता है तो पूँजीपति जनमत का विरोध करके टिक नहीं सकता है।[4] इन प्रयत्नो के बावजूद भी यदि पूँजीपतियो मे ट्रस्टीशिप की भावना का जन्म नहीं होता है तो राज्य को यह अधिकार है कि जन हित के लिए सामान्य तरीके का बल प्रयोग तथा हिंसा का सहारा लेकर उसकी सपत्ति का अपहरण करे।[5] यह भी कहा जा सकता है कि ट्रस्टीशिप तो केवल विधि शास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार मे उसका अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता है किन्तु यदि उस पर सतत् विचार किया जाए तथा उसे आचरण मे उतारने की कोशिश की जाए, तो मनुष्य जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखाई देता है, उससे अधिक दिखाई देगा। इतना होने पर भी यदि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कार्यान्वित नहीं हो पाता है तो गॉधी सत्याग्रह का सहारा लेने की सलाह देते थे।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि ट्रस्टीशिप – सिद्धान्त मात्र कल्पना की वस्तु नहीं है, अपितु इसे व्यवहार मे भी चरितार्थ किया जा सकता है। इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता उत्तम सस्कृति पर आधारित है। यह बात सत्य है कि सिद्धान्त पर आचरण करना कठिन है किन्तु यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो इस दिशा मे प्रयत्न करना ही उपयुक्त है। गॉधी का विश्वास था कि सत्य–अहिंसा का पुजारी इस पर अवश्य ही चलेगा। उन्होने यह भी कहा था कि पूर्ण ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का पालन

---

1 वही

2 वही २२ ८ १९४० पृष्ठ – २६०–२६१

3 हरिजन २२ ८ १९४०, पृष्ठ – २६०–२६१

4 टु वर्ड्स न्यू होरीजन्स, पृष्ठ – ६७

5 हरिजन २५ १० १९५२, पृष्ठ – ३०१

करना रेखागणित के बिन्दु की तरह से है'[1], जो कभी भी वास्तविक नहीं हो सकता है किन्तु उनका विश्वास था कि यदि इस दिशा मे प्रयत्न किया जाए तो धीरे–धीरे प्रेम की मात्रा का समाज मे विकास होगा और यह विश्वास उत्पन्न हो जाएगा कि इससे बढकर पृथ्वी पर समता लाने वाला कोई भी दूसरा उपाय नहीं हो सकता है।[2] गॉधी का यह भी विश्वास था कि यह सिद्धान्त धर्म और दर्शन पर आधारित है[3] इसलिए सभी सिद्धान्त समाप्त हो सकते हैं किन्तु ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त सदैव जीवित रहेगा।[4] इस सिद्धान्त के द्वारा एक सार्वभौमिक जीवन पद्धति का विकास होगा जिसमे सभी मनुष्य अपने पडोसियो के लिए चिन्ता करेगे।[5] डॉ॰ राम मनोहर लोहिया ने भारतीय ससद मे ट्रस्टीशिप सम्बन्धित बिल प्रस्तुत करके इसकी व्यावहारिकता का परिचय भी दिया था। वर्तमान समय मे मिल मालिक तथा मजदूरो के बीच सघर्ष देखने को प्राय मिलता है। यदि गॉधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का पालन किया जाए तो इस समस्या का निराकरण अवश्यभावी होगा। फ्रास मे कुछ मालिक अपने कारखाने को मजदूरो को सौंपकर ट्रस्टी बन गए हैं। भारत जैसे देशो मे भी ऐसे ही वातावरण को उत्पन्न करके अहिंसक समाजवाद की स्थापना की महती आवश्यकता है। यदि ऐसा सभव हो गया तो वर्ग–सघर्ष प्राय समाप्त हो जाएगा।

ट्रस्ट के सबध मे यह समस्या भी प्रासगिक है कि ट्रस्ट की स्थापना हो जाने पर ट्रस्ट का उत्तराधिकारी कौन होगा ? ट्रस्टी को ट्रस्ट का कार्यभार सभालने के लिए कौन सी वस्तु दी जाएगी ? ट्रस्ट की सपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए क्या साधन होंगे ? आदि। इन समस्याओं का समाधान भी गॉधीजी ने करने का प्रयास किया –

१ राज्य के अतिरिक्त जनता के लिए और कोई उत्तराधिकारी नहीं होगा।[6] यह ट्रस्टी राज्य का जन–प्रतिनिधि होगा, इसलिए राज्य ही, जब तक उसकी स्थिति न मिट जाए ट्रस्ट की सपत्ति को सभालने का कार्य करेगा।

२ ट्रस्टी का कर्तव्य होगा कि वह ट्रस्ट की सपत्ति की अहिंसात्मक तरीके से रक्षा करे। उसे ट्रस्ट का समर्पण किसी भी आक्रमणकारी के हाथ में नहीं करना चाहिए, इसके लिए उसे प्राणोत्सर्ग करने तक के लिए तैयार रहना चाहिए।

---

1 माडर्न रिव्यु, १६३५, पृष्ठ – ४१२
2 हरिजन, पृष्ठ – २१२
3 वही, १६ १२ १६३६, पृष्ठ – ३७६
4 वही
5 वही, २२ २ १६४२, पृष्ठ – ४६
6 द पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गॉधी, पृष्ठ – ६५

३ ट्रस्ट का कार्यभार सभालने के लिए राज्य की तरफ से ट्रस्टी को कमीशन दिया जाएगा।

४ यदि ट्रस्टी ट्रस्ट के काम मे गलत तरीको का प्रयोग करता हो तो राज्य को अधिकार है कि वह ट्रस्ट की सपत्ति को अपने हाथ मे ले ले तथा स्वय उसकी व्याख्या करे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गॉधी ने ट्रस्ट–पद्धति के आदर्श को अहिंसात्मक ढग से व्यवहार मे लाने का प्रयास किया। उन्हे इस बात पर पूर्ण विश्वास था कि उनका यह सिद्धान्त भारत मे ही नहीं वरन् एक दिन विश्व के अन्य राष्ट्रो मे भी सफल होगा। आज विश्व की विश्रृखल और चरमराती आर्थित एव नैतिक समस्या का गॉधी के इस सिद्धान्त पर समाधान कर शन्ति और सौहार्द्र की पुनर्स्थापना की जा सकती है। यदि गॉधी के इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाए तो सर्वोदय का आदर्श साकार हो जाएगा।

२ ४ गॉधीजी की औद्योगिक नीति *(Industrial Policy of Gandhi)*

[i] यत्रीकरण (Mechanism)

गॉधीजी के आर्थिक चिन्तन मे यत्रीकरण की विचारधारा का प्रमुख स्थान है। इस सदर्भ मे अनेक प्रश्न उठते हैं जैसे क्या गॉधीजी यत्रीकरण के पक्ष मे थे ? यदि नहीं थे तो क्या वे प्रगतिवादी वैज्ञानिक विकासवादी सिद्धान्तो के विरोधी थे ? आदि। इन प्रश्नों के उत्तर तथा गाँधीजी के यत्रीकरण एव कृषि तथा उद्योगों आदि के सबध में सक्षिप्त विवेचन निम्न है –

गॉधीजी ने भारत में यत्रीकरण तथा कृषि क्षेत्रो मे बढते हुए इसके प्रभाव के प्रति अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा – "मैं यन्त्रो का विरोधी नहीं, मैं तो उसके पागलपन का विरोधी हूँ। मानव के लिए भला उस यत्र का क्या उपयोग है, जिससे हजारों हजार व्यक्ति बेकार होकर भूख से सड़कों पर मारे–मारे फिरे।'मैं तो मानव के किसी एक अश के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए सोचता हूँ कि सबको अधिक से अधिक काम कैसे मिले ? इसीलिए मैं कुछ चुने हुए व्यक्तियों के पास नहीं बल्कि सबों के पास संपत्ति देखना चाहता हूँ। आज यत्र के कारण एक व्यक्ति लाखों व्यक्तियों का मालिक बन जाता है। इसके पीछे मनुष्य के परिश्रम बचाने की मानवीय भावना नहीं, बल्कि मुनाफे का शुद्ध लोभ है। इसलिए मैं इस व्यवस्था के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति से सघर्ष कर रहा हूँ। मैं सभी यन्त्रों के विरुद्ध नहीं हूँ लेकिन इसके उपयोग को सीमित अवश्य करना चाहता हूँ क्योकि मेरे विचार

से यत्र मनुष्य के लिए है मनुष्य यत्र के लिए नहीं।[1] यहॉ गॉधीजी यत्रीकरण के विरोधी नहीं है अपितु इस व्यवस्था के बढते प्रभाव से जो बहुत बडा दोष उत्पन्न हो रहा है जैसे – कुछ लोगो के हाथ मे धन का अत्यधिक सचय हो जा रहा है एव आम आदमी जिनके पास इन यत्रो को क्रय करने का स्रोत नहीं है, वे बेराजगार और गरीब हो जा रहे हैं उसके विरोधी थे।

उन्होने यत्रो के प्रयोग के सदर्भ मे अपना मत व्यक्त करते हुए कहा – "यत्रो का भी अपना स्थान है और यत्रो ने अपना स्थान प्राप्त भी कर लिया है। लेकिन मनुष्य के लिए मेहनत करना अनिवार्य होना चाहिए उसी प्रकार की मेहनत का स्थान उन्ह ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। घर मे चलाने लायक यत्रो मे सुधार किया जाए तो मैं उसका स्वागत करुँगा। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि जब तक लाखो किसानो को उनके घर मे कोई दूसरा धन्धा करने के लिए न दिया जाए तब तक हाथ – मेहनत से चरखा चलाने के बदले किसी दूसरी शक्ति से कपडे का कारखाना चलाना गुनाह है।"[2] यहॉ यत्रो के सबध मे गॉधीजी ऐसे यत्रो के पक्षधर हैं, जिससे लाखो किसानो के कुटीर उद्योगो, गृह उद्योगो को बढावा मिले तथा यत्रो के प्रयोग मे मानव श्रम का प्रत्यय भी जुडा हो। इसलिए वे चरखा कातने के समर्थक थे। यत्रो की उपयोगिता की आवश्यक शर्तो का उल्लेख करते हुए गाँधीजी ने कहा – "यत्रो से काम लेना उसी अवस्था मे अच्छा होता है जबकि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हो या नपे तुले हो। पर यह बात हिन्दुस्तान मे तो है नहीं। यहाँ काम के लिए जितने आदमी चाहिए उनसे कहीं अधिक बेकार पडे हुए हैं। इसलिए उद्योगों के यत्रीकरण से यहॉ की बेकारी घटेगी नहीं बल्कि बढेगी ही।"[3]

उपरोक्त सदर्भ के आधार पर गॉधी का विचार यत्रीकरण से उत्पन्न बेरोजगारी, आलस्य, अकर्मण्यता के घातक परिणामो के प्रति जुटा है। क्योकि जब गॉधीजी ने यत्रीकरण का विरोध किया था उस समय यत्रो का प्रयोग बहुत थोड़े से लोग करना जानते थे, वे या तो विशिष्ट तकनीकी ज्ञान से युक्त थे या अग्रेजी शिक्षा से प्रभावित थे, जो भारत के हजारों गॉवों मे रहने वाले लाखों लोगों को जीविका विहीन कर रहे थे। अत वे उन परिस्थितियों में इसके विरोधी थे। लेकिन जब रोजगार के साधन बढे, आम आदमियो को यत्रों का तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाए तब उनके विचारों के निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे यत्रीकरण के विरोधी नहीं थे।

---

1 यग इण्डिया, १३ ११.१९२४

2 हिन्दी नवजीवन, ५ ११ १९२५

3 हरिजन २३ ११.१९३४

यन्त्रीकरण का पक्ष लेते हुए कुछ लोग दलील देते हैं जो मिलो मे कपडा तैयार होता है वह अधिक अच्छा और काफी सस्ता पडता है। परन्तु गॉधी इसके प्रति उत्तर मे कहते हैं "यदि हजारो मजदूरो का धन्धा छीनकर मिलो ने उन्हे बेकार बना दिया है तो उसका सस्ते से सस्ता कपडा भी गॉवो की बनी हुई महगी खादी से भी ज्यादा महगा है। आगे उन्होने कहा – कोयले की खान मे काम करने वाले मजदूर जहॉ रहते हैं वहीं वे कोयले का उपयोग कर सकते हैं। इसलिए उन्हे कोयला महगा नहीं पडता। इस तरह जो ग्रामवासी अपनी जरुरत भर के लिए खुद खादी बना लेता है उसे वह महगी नहीं पड़ती। मिलो का बना कपडा यदि गॉवो के लोगो को बेकार बना रहा है, तो चावल कूटने और आटा पीसने की मिले हजारो स्त्रियो की न केवल रोजी ही छीन रही हैं, बल्कि बदले मे तमाम जनता के स्वास्थ्य को हानि भी पहुँचाती रही हैं।[1]

यहाँ भी गॉधीजी ने उपरोक्त सदर्भ मे तथ्यो के भारतीयकरण की पद्धति पर जोर देते हुए कहा है – "जब स्त्रियॉ आटा घर मे पीसती थीं तो वे स्वस्थ रहती थीं तथा खाने वाले भी स्वस्थ रहते थे। आज मशीन पर आधारित जन जीवन उन बुराईयो से परिचित है जिनकी ओर गॉधीजी ने कभी इशारा किया था। यही कारण है गाँधीजी ने बार–बार अपने देश मे चलने वाले छोटे–छोटे उपकरणो पर जोर दिया और कहा – "मैंने सहज ही नजर आने वाली कुछ मोटी–मोटी बातो की तरफ ध्यान खींचा है, उनका उद्देश्य यह है कि अगर ग्रामवासियो को कुछ काम देना है तो वह यन्त्रो के द्वारा सभव नहीं है। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग धन्धो को वे अब तक किसी कदर करते चले आ रहे हैं उन्हीं को भली भाति जीवित किया जाए।"[2]

[ii] ग्रामोद्योग अथवा कुटीर उद्योग (Gramodhyog or Short Scale Industries)

ग्रामोद्योग सबधी विचार गॉधी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। गाँधीजी ने भारतीय परिस्थिति को सामने रखकर ग्रामोद्योग का विचार रखा है। सन् १६२० के लगभग भारत में जितने कपड़े का उपभोग किया जाता था, उसका आधा विदेश से आता था। परन्तु पूरी आवश्यकता भर कपड़ा भारत मे नहीं आता था। भारत में पर्याप्त मात्रा में कपास का उत्पादन होता था परन्तु उसका पक्का माल विदेश में जाकर तैयार होता था। इससे भारत का शोषण बढ़ गया था। गाँधीजी ने भारतीय अर्थव्यवस्था का गहन अध्ययन किया और उसके बाद खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के

---

1 हरिजन सेवक २३ ११.१६३४

2 वही

सामने रखा। गॉधीजी ने खादी ग्रामोद्योग के सबध मे कहा है – "खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गॉव को अपने भोजन एव कपडे मे स्वावलम्बी बनाना है।"[1] ग्रामोद्योग की योजना के पीछे गॉधीजी की कल्पना थी कि "हमे रोजमर्रा की आवश्यकताएँ गॉव की बनी हुई चीजो से ही पूरी करनी चाहिए। जब हम गॉवो के लिए सहानुभूति से सोचेगे और गॉव की बनी चीजे हमे पसन्द आने लगेगी तो पश्चिम की नकल के रूप मे यत्रो की बनी चीजे हमे नहीं जचेगी और हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेगे जो गरीबी, भूखमरी और आलस्य या बेकारी से युक्त नये हिन्दुस्तान के आदर्श के साथ मेल खाती होगी। इस तस्वीर मे उन मशीनो के लिए कोई जगह नहीं होगी जो मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगो के हाथो मे भारी ताकत इकटठी कर देती हैं ग्रामोद्योग का अगर लोप हुआ तो भारत के गावो का सर्वनाश हो जाएगा। ग्रामोद्योग द्वारा ही सही अर्थ मे बेकारी, असमानता, शोषण, भूखमरी और असतोष का अन्त होगा।"[2] आज भारत मे बेरोजगारी का आलम यह है कि इसकी स्थिति का सही–सही अनुमान लगाना असभव हो गया है। "ऐसा अनुमान है कि प्रथम योजना के प्रारम्भ (अप्रैल १६५१) मे ३३ लाख लोग बेरोजगार थे लेकिन यह सख्या बराबर बढ रही है। ३१ दिसम्बर १६८६ के अन्त मे देश के रोजगार कार्यालय मे ३ करोड बीस लाख सात हजार व्यक्तियों के नाम बेरोजगारो के रूप मे पजीकृत थे लेकिन योजना आयोग के अनुसार आठवीं योजना के अन्त मे बेरोजगारो की सख्या ६ करोड तथा १६६५–२००० के अन्त मे ६ करोड ४० लाख हो जाएगी।[3]"

आज बेरोजगारी मे वृद्धि के अनेक कारण मौजूद हैं। अगर एक तरफ जनसख्या, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली, त्रुटिपूर्ण अर्थ नियोजन आदि कारण है तो दूसरी तरफ प्रमुख कारण हैं हस्तकला और लघु उद्योगो की अवनति एव यत्रीकरण और अभिनवीकरण, उपर्युक्त समस्याओ का समाधान गाँधीजी के आर्थिक चिन्तन मे मौजूद है। आज भारत के करोडो लोगों को काम देने के लिए एक मात्र साधन खादी और ग्रामोद्योग है। यहाँ पर एक भ्रामक प्रश्न उठता है कि क्या गाँधीजी विज्ञान से दूर हट रहे थे ? क्या वे मशीन के प्रयोग का विरोध करते थे ? उत्तर में कहा जा सकता है कि गाँधीजी न तो विज्ञान का विरोध करते थे और न मशीन के प्रयोग का। वे तो पूर्ण वैज्ञानिक थे। उनका सारा जीवन ही सत्य की खोज में बीता है। गाँधीजी रोजगार के रूप में उन्हीं उद्योगों को अपनाने के लिए कहते

---

1. यग इण्डिया, १७ ७ १६२४
2. गाँधी – पचायत राज, पृष्ठ – ३१
3. डॉ. चतुर्भुज ममोरिया एव डॉ. एस.सी. जैन – भारतीय अर्थशास्त्र साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, १६६७, पृष्ठ – १६२

थे जिनसे व्यक्ति उतना उत्पादन कर ले जिससे उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति आसानी से हो सके, मिल और मशीन के उपयोग के बारे मे गॉधीजी ने कहा है, "सूत मिल के साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नहीं है। जिस तरह रसोई घर भी चलता है और होटल भी चलता है उसी तरह ये दोनो साथ चल सकते हैं।" गॉधीजी चाहते थे – "किसी को भी भोजन और वस्त्र का अभाव न हो। हर एक को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त काम मिलना चाहिए और यह आदर्श सबके लिए तभी प्राप्त हो सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जरुरी उत्पादन के साधन जनता के नियत्रण मे हो। ये सबको मुक्त रूप से उपलब्ध होने चाहिए जैसे हवा और पानी। दूसरो के शोषण के लिए इन्हे व्यापार का साधन नहीं बनाया जाना चाहिए।"[2]

आधुनिक युग मे मनुष्य की आवश्यकताएँ अधिक हो गई हैं, अत आज हमे ऐसे उद्योग चलाने पडेगे जिससे हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके और इसका एक मात्र उपाय ग्रामोद्योग एव कुटीर उद्योग ही है। मुख्य रूप से भारत जैसे अधिक आबादी वाले देश मे सबको काम ग्रामोद्योग की उपेक्षा करके नहीं दिया जा सकता।

आज वह समय आ गया है जब भावी विश्व की व्यवस्था का निर्माण करने के लिए चतुर्दिक योजनाओ को उपस्थित करने की धूम मची हुई है। विश्व किसी न किसी प्रकार के नये आयोजन की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है। ऐसे समय मे गॉधीजी के आर्थिक विकेन्द्रीकरण की विचारधारा विश्व के सामने प्रस्तुत हुई है। एक समय था जब उनके विचार का उपहास किया जाता था। चर्खा और ग्रामोद्योग की उनकी योजना ऐसी पुरानी और दकियानूस बात समझी जाती थी जो आज की स्थिति मे असस्कृत और मध्ययुगीन ज्ञात होती थी। पर आज वह स्थिति नहीं है। योजनाओ के इस युग में विकेन्द्रीकरण की बिचारधारा प्रबल हो चुकी है आज महान औद्योगिक देशों के विचारक और अर्थशास्त्री भी उनकी तरफ दृष्टिपात करने के लिए बाध्य होने लगे हैं।

ग्रेट ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. "कोल" ने लिखा है – "ग्रामोद्योग के रूप में वस्त्र व्यवसाय को उन्नत करने का जो प्रयत्न गाँधी कर रहे थे उसे बेकार समझना अथवा अतीत के लिए उत्सुक प्रयास मानना मूर्खता होगी। वह सजीव और व्यवहारिक उपाय है। ग्रामीण जनता की गरीबी को दूर करने तथा उसके जीवन स्तर को उन्नत बनाने का एव आधुनिक जगत् की समस्याओं को

1 यग इण्डिया, २१७२०

2 वही, १०११९६२८

हल करने के लिए विकेन्द्रित अर्थनीति अपनाने के सिवा कदाचित दूसरी कोई गति नहीं है।[1]" अब समय आ गया है कि विकासशील देश अपने विकासीय लक्ष्यो प्राथमिकताओ आदि को पुन परिभाषित करे। इस सदर्भ मे कुछ विकल्प बिल्कुल स्पष्ट हैं –

१ "वे खाद्य पदार्थो मे आत्मनिर्भर हो और अपना कृषि उत्पादन बढाये।"

२ उद्योगो के क्षेत्र मे हस्तकला तथा लघु उद्योग एव माध्यमिक स्तर के उद्योगो पर बल दिया जाना चाहिए। इससे बहुत से अनुलाभ प्राप्त होगे।

(क) इससे विकासशील देशो को राजनीति से प्रेरित विदेशी सहायता तथा ऋण जाल से छुटकारा मिलेगा।

(ख) इससे विशाल स्तर पर रोजगार उत्पन्न होगे जिससे अत मे काम करने का अधिकार या सबके लिए काम के सजोये गए लक्ष्य की पूर्ति का अवसर प्राप्त होगा।

(ग) जन समुदाय के लिए उत्पादन (विशाल उत्पादन की जगह) पर अपना बल देने से ससाधन रिक्तीकरण को कम करने तथा इसके फलस्वरूप परिस्थितिकी सड़न तथा दरिद्रता को दूर करने मे सहायता मिलेगी।

(घ) अपनी स्थानीयता तथा लघु स्तर की विशिष्टताओ के कारण बड़े पूँजीपतियो तथा आधुनिक वित्तीय तथा बैकिग सस्थानो के शोषण से बचा जा सकेगा।[2]

गॉजी को सन् १६०६ में ही इन सामान्य आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ का अभास हो गया था, उन्होने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है – "बडे स्तर पर यत्रीकरण तथा औद्योगीकरण पर आधारित आधुनिक सभ्यता "शैतानी सभ्यता" है।"[3]

इसी कारण उन्होने कृषि, लघु उद्योग ग्रामीण उद्योग, हस्तकला आदि पर बल दिया ताकि मानवता को आधुनिक औद्योगिक समाज के भयकर दुष्परिणामो जैसे पर्यावरण प्रदूषण, पारिस्थितिकी विनाश, ससाधन रिक्तता, विशाल जनसख्या, अस्त्र–शस्त्र तथा आक्रमणो का विस्तार (कच्चे माल तथा बाजारों पर अधिकार जमाने के लिए) राष्ट्रों के बीच तथा राष्ट्र मे असमानताओं से बचाया जा सके। आज गाँधी के दर्शन को गभीरता से अपनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। पचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण विकास, लघु उद्योग तथा वृहद स्तर पर ग्रामीण रोजगार के पक्ष में प्राथमिकताओं के पुन

---

1 के.पी. त्रिपाठी – बापू और मानवता, पृष्ठ – ३१४

2 प्रो. एस.सी. गगल – तृतीय विश्व तथा गाँधी का विकल्प, (लेख), रोजगार समाचार, २६ जनवरी – १ फरवरी १६६१

3 गाँधी – हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ – ३२

निर्धारण पर बल दिया जा रहा है। विगत दो दशको से भारत मे लघु उद्योग का विकास तीव्र गति से हुआ है जिसके फलस्वरूप रोजगार बढाने तथा विदेशी मुद्रा अर्जन करने मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है। वर्ष १६७३–७४ मे लघु उद्योगो की सख्या ४ १६ लाख थी जो बढकर १६८६–८७ मे १४ ५७ लाख हो गई। वर्ष १६८७–८८ मे यह सख्या १५ ७६ लाख एव १६८८–८६ मे १७ ०१ लाख तक पहुँच गई। बेरोजगारी को दूर करने मे लघु एव कुटीर उद्योग महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। जहाँ १६८५–८६ मे लघु उद्योगो के द्वारा ६६ लाख लोगो को रोजगार प्राप्त हुआ था, वहीं १६८६–८७ मे १०० लाख १६८७–८८ मे १०६ लाख तथा १६८८–८६ मे ११२ लाख तक यह सख्या पहुँच गई है। लघु क्षेत्र द्वारा १६८५–८६ मे २५ अरब ५३ करोड़ रूपये विदेशी मुद्रा के रूप मे अर्जित किए गए, जिसमे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। जैसे १६८६–८७ मे ३६ अरब १७ करोड, १६८७–८८ मे ४३ अरब ३५ करोड रूपये अर्जित किए गए।[1]

भारत मे ५,००० से अधिक वस्तुओ का उत्पादन लघु क्षेत्र मे किया जाता है। परपरागत कृषि पर आधारित उद्योग जैसे डेरी उद्योग, कुक्कुट पालन, फल–सब्जी उत्पादन, शहद, गुड़, दस्तकारी के साथ–साथ बिजली के उपकरण, कैलकुलेटर आदि आदि इलेक्ट्रानिक वस्तुओं का भी उत्पादन लघु क्षेत्र मे सफलता पूर्वक किया जा रहा है। इस क्षेत्र मे वस्तुओ के उत्पादन में सख्या की दृष्टि से ही नहीं अपितु मूल्य की दृष्टि से भी काफी वृद्धि हुई है। १६७३–७४ मे लघु क्षेत्र द्वारा वस्तुओ का उत्पादन मात्र ७२ अरब का था जो १६८८–८६ मे बढकर १० खरब ६८ अरब एवं ७५ करोड़ रूपये तक पहुँच गया।[2]

२ ५ *गॉधीजी के आर्थिक विचारो की सार्थकता (Significance of Economical Ideas of Gandhi)*

उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का निर्णय आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर किया जाता है। आज के युग की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का हल व्यक्ति की जीवन दृष्टि से अधिक प्रभावित होगा। समाज और देश में गरीबी और बेकारी का अन्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक स्तर पर होना चाहिए। आज के युग की इस आवश्यकता से किसी को मतभेद नहीं होगा। स्वय गाँधीजी भी इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि व्यक्ति को सुविधादायक जीवन स्तर मिले। मनुष्य की दूसरी

योज़ना, १५ १० १६६१ – लेख – लघु उद्योग एव उनकी रुग्णता – प्रो.के.एल. सेकड़ा

योजना, १५,१० १६६१, पृष्ठ – १५–१७

आवश्यकता जिसका मार्ग आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति से निकलना चाहिए स्वतन्त्रता की है। यह आवश्यकता नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक सभी स्तर की है। स्वतन्त्रता के साथ–साथ ऐहिक स्तर पर न्याय की बात भी आती है और न्याय असमानता नहीं चाहता। साथ ही साथ मनुष्य को उच्चतर प्रवृत्तियो मे ध्यान लगाने के लिए अवकाश भी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को आर्थिक सुरक्षा, स्वतन्त्रता न्याय समानता और अवकाश की आवश्यकता है।

सभवत वर्तमान युग यह सब नहीं दे सकता। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे भी ये सब उपलब्ध नहीं होते। साम्यवादी अर्थव्यवस्था – समाजवादी अर्थव्यवस्था मे इन सब सुविधाओ के उपलब्ध होने की कितनी अपेक्षा रखी जाए समझ मे नहीं आता। पूर्व सोवियत सघ चीन यूगोस्लाविया, पूर्व पूर्वी जर्मनी जैसे देशो मे स्वतन्त्रता, न्याय आर्थिक सुरक्षा और समानता की किस सीमा तक प्रतिष्ठा थी, इसे विश्व जान चुका है। यह जीवन मूल्य साम्यवादी देशो मे उपलब्ध और प्रतिष्ठित नहीं है। समाजवाद मे भी जिस हद तक राजसत्ता और अर्थसत्ता का केन्द्रीकरण और अर्थव्यवस्था मे विषमता है, स्वतन्त्रता, न्याय और समानता का खतरा बना रहता है इसके अतिरिक्त अवकाश के लिए दो बातो की जरूरत है।[1]

१ मनुष्य की आवश्यकताएँ स्वस्थ, सादा और सयत जीवन के अनुरूप हो एव

२ उत्पादन विधि मे विकसित तकनीक का प्रयोग हो जिससे उत्पादन कुशलतापूर्वक बढ़े।

आधुनिक तकनीक ने तो उत्पादन कुशलता को बढाया पर मनुष्य के जीवन में भौतिकता की प्रगति ने मनुष्य के ऊपर से स्वस्थ नियत्रण को समाप्त कर दिया। इसलिए जो लोग अपने जीवन मे आध्यात्मिक मूल्यो को प्रतिष्ठित करना चाहते थे उनके सामने आज सबसे बडी समस्या भौतिक तृप्ति और आध्यात्मिक वृत्ति मे सतुलन और समन्वय करने की है। आज यह सतुलन सतुलित नहीं है और इस समय सबसे अधिक आवश्यकता इनका सतुलन ही है।

साम्यवादी, समाजवादी एव पूँजीवादी भौतिक दृष्टि प्रधान आर्थिक व्यवस्थाएँ यह समन्वय और सतुलन नहीं स्थापित कर सकतीं ऐसी मेरी धारणा और विश्वास है।

इसके लिए तो गाँधी प्रतिपादित अर्थव्यवस्था की ही आवश्यकता होगी। मेरा अपना मानना है कि वर्तमान युग के लिए गाँधीजी के आर्थिक विचारों का सर्वाधिक महत्व है। लेकिन उपयुक्तता का यह भी अर्थ नहीं है कि हम उनके आर्थिक विचारों को बिना तर्क एव विचार किए उसी रूप में

[1] स० ताराचन्द्र वर्मा – युग पुरुष पृष्ठ – १६२–६३

स्वीकार कर ले और उनका अधानुकरण करे या अनुभव एव परिस्थिति के आधार पर उसमे सशोधन न करे। गॉधीजी स्वय नहीं चाहते थे कि उनके विचारो का कोई इस प्रकार दास बने। उन्होने कहा भी है – "किसी विशेष प्रश्न पर अपने पूर्ववर्ती वक्तव्यो के अनुरूप होना मेरा उद्देश्य नहीं है बल्कि किसी विशेष क्षण पर सत्य अपने को जिस रूप मे मेरे सामने व्यक्त करता है, उसके अनुरूप होना मेरा उद्देश्य है।"[1] लेकिन जीवन की कौन सी दृष्टि उत्तम है और कौन सी उत्तम नहीं है इसका निर्णय भी केवल हम तर्क के आधार पर नहीं कर सकते फिर भी मैं जो समझता हूँ वह यह है कि मनुष्य सुख चाहता है, शाति चाहता है और जहॉ अभाव है वहॉ न सुख होगा और न शान्ति होगी। गॉधीजी की दृष्टि मे समस्त आर्थिक व्याधियो की जड है आधुनिक सभ्यता की सदा बढती जाने वाली "और आगे और आगे" की प्रवृत्ति। वे रुकने के लिए सचेत करते हैं और जैसा की लुई फिशर ने कहा है, "रुको और बचो" उनके अर्थ दर्शन का प्रमुख लक्षण है। इसलिए उनका आदर्श है "सरल जीवन और उच्च विचार" और इसीलिए वे आवश्यकताओ की अनावश्यक वृद्धि के विरुद्ध हैं। उनका कथन है, "जिस दिन मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओ मे वृद्धि करना चाहता है, उसी क्षण वह "सरल जीवन एव उच्च विचार" के आदर्श से च्युत हो जाता है। मनुष्य का सुख वस्तुत सतोष मे निहित है।"[2]

इस प्रकार गॉधी का सम्पूर्ण आर्थिक चिन्तन व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा, स्वतन्त्रता, न्याय, समानता एव अवकाश पर बल देती है। गॉधीजी मनुष्य की प्रमुख समस्या बेकारी, बेरोजगारी से अवगत थे और वे ये भी जानते थे कि हमारे देश की जनसख्या बहुत अधिक है। ऐसे मे सभी को रोजगार दे पाना सम्भव न हो पायेगा और ऐसे मे बड़े–बड़े उद्योग धन्धे और भी बेकारी बढायेगे। इसीलिए उन्होने बड़े कल–कारखानो का विरोध किया एव लघु उद्योग एव कुटीर उद्योग का समर्थन किया लघु एव कुटीर उद्योग जहाँ एक तरफ अधिकतम लोगों की आजीविका का साधन बन रहे हैं वहीं दूसरी तरफ इसके अन्य भी अच्छे परिणाम सामने आ रहे हैं।

एक समय था जब गाँधीजी ने चर्खे और स्वदेशी की बात कही थी। तब बहुत से लोगों को उनके विचार आधुनिकता और औद्योगिकरण के विरोधी लगते थे। लेकिन आधुनिक यन्त्र विधि एव तीव्र औद्योगिकरण ने पाश्चात्य देशों में व्यापक उथल–पुथल मचा दी है। वहॉ एक गहरा मनोवैज्ञानिक और

हरिजन ३० ६ १९३६
वही, १.२ १९४२

नैतिक सकट उत्पन्न हो गया है। आखिर अब सम्पूर्ण विश्व मजबूर होकर गॉधी की बातो पर नए सिरे से विचार करने सोचने, समझने और करने की पृष्ठभूमि तैयार करने लगा है।

नोबेल पुरुस्कार प्राप्त अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने कहा है कि "गॉधीवाद केवल नैतिक आग्रह ही नहीं है बल्कि एक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र है जिसमे एक ओर तो आज की आर्थिक जीवन की अनगिनत समस्याओ तथा सामाजिक जीवन मे व्याप्त अनेक जटिलताओ का सम्यक् समाधान सन्निहित है तो दूसरी ओर है – सुखद मानवीय भविष्य के लिए स्यत स्फूर्त क्रान्ति की दिशा दृष्टि।"

आज ग्रामीण एव लघु उद्योगो के महत्व को समझा जाने लगा है। इन उद्योगो मे पूॅजी उत्पादन अनुपात व ऊँची रोजगार प्रगाढता होती है। यही कारण है कि प्रथम पचवर्षीय योजना से ही इन उद्योग धन्धो को महत्व दिया जा रहा है। १६७७ एव १६८० की औद्योगिक नीतियो की घोषणाओ मे लघु एव कुटीर उद्योगो को प्रमुख स्थान दिया गया। लघु उद्योगो को नई गति देने के लिए ही भारत सरकार ने जनवरी १६६० मे लघु उद्योग, कृषि और ग्रामीण उद्योग विभाग की स्थापना की। इसी प्रकार लघु उद्योग की वित्तीय सहायता के लिए सरकार ने १६८६ मे "लघु उद्योग विकास फण्ड", १६८७ मे "नेशनल इक्विटी फण्ड", १६८८ मे "एक खिडकी योजना चालू की गई तथा २५ अक्टूबर १६८६ को सरकार ने "भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक" की स्थापना की है।

द्वितीय खण्ड . डॉ० राम मनोहर लोहिया

तृतीय अध्याय   डॉ० लोहिया व्यक्तित्व एव विचार-स्रोत

चतुर्थ अध्याय   डॉ० लोहिया के आर्थिक विचार

पचम् अध्याय   डॉ० लोहिया के राजनीतिक विचार

२ ३ डॉ॰ लोहिया व्यक्तित्व एव विचार-स्रोत

प्रस्तुत अध्याय डॉ राम मनोहर लोहिया के आर्थिक एव राजनीतिक विचारो के विश्लेषण हेतु उनके व्यक्तित्व एव विचार स्रोत को जानने का एक प्रयास है। किसी भी राजनीतिक व्यक्ति के विचार एव गतिविधियो के समग्र अध्ययन के लिये उन समस्त परिस्थितियो एव कारको का अन्वेषण एव विश्लेषण अपेक्षित है जिनका सम्यक प्रभाव व्यक्तित्व के निर्माण एव विचारो के सृजन मे हुआ है। यदि किसी व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक चिन्तन अध्ययन विश्लेषण का विषय वस्तु हो तो उस दशा म समग्र परिस्थितियो एव विचार स्रोतो क अध्ययन की पूर्वापेक्षा अपरिहार्य है। डॉ राम मनोहर लोहिया प्रस्तुत सन्दर्भ मे उपर्युक्त दो आयामो को अपने जीवन एव चिन्तन प्रणाली मे समीपस्थ होकर अध्ययन की पूर्वापेक्षा की अपरिहार्यता को सिद्ध करता है। तथास्तु प्रस्तुत सन्दर्भ इस पूर्वापेक्षा की अपरिहार्यता डॉ राम मनोहर लोहिया के व्यक्तित्व निर्माण क प्रभावी कारको का एक समवेद अनावरण है। इस अनावरण का निष्णात् आयोजन उनके विचार स्रोतो के उद्गम अभिस्थल की खोज है। पुनश्च् यह अनवेषणात्मक प्रयास डॉ लोहिया की विचार श्रृखला का क्रमिक एव समस्यापक्षीय विश्लेषण मे अन्यत्र सहायक होगा।

व्यक्तित्व निर्माण के प्रभावी कारको के रेखाकन का स्रोत लोहिया की स्वरचित रचनाएँ लोहिया के समीपस्थ व्यक्तियो द्वारा दी गयी जानकारी लोहिया के समकालीन सदृश्य दृष्टिकोणो विचारपन्थी एव राजनीतिक अभिकर्त्ता की कृतियॉ एव निबन्ध है। उक्त सन्दर्भित प्राथमिक स्रोतो के अतिरिक्त भारतीय विश्वविद्यालयो मे लोहिया पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उपलब्ध पत्र–पत्रिकाओ में लोहिया के व्यक्तित्व से सम्बद्ध प्रकाशित लेख एव लोहियावाद विषयान्तर्गत प्रकाशित अन्य पुस्तके व्यक्तित्व रेखाकन प्रयास का द्वितीय स्रोत है।

डॉ लोहिया के व्यक्तित्व पक्ष को अभिन्न रूप से प्रकाश मे लाने वाला घटनाक्रम एव परिस्थितियो का सूचीबद्ध स्वरूप निम्नाकित बिन्दुओ के अन्तर्गत किया जा सकता है। तथापि इस प्रयास के पूर्व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अ तर्गत व्यक्तित्व का सापेक्षीय छद्म निर्धारक, वश एव वातावरण माने जाते है। मनोविज्ञान के इस दृष्टिकोण का प्रस्तुत प्रयास खण्डन नहीं करता, किंचित यह प्रयास इसी दृष्टिकोण का समर्थन निम्नलिखित बिन्दुओ के अन्तर्गत करता है –

३.१ बाल्यकाल

डॉ राम मनोहर लोहिया का जन्म २३ मार्च सन् १६१० ई॰ अकबरपुर, जिला मुख्यालय–अम्बेडकरनगर (उत्तर प्रदेश) मे हुआ। उनकी मॉ चन्द्री, बिहार प्रान्त के मिथिलाचल

अन्तर्गत चैनपटिया नाम के स्थान झुनझुनवाला परिवार की थीं। उनके पिता स्व हीरा लाल लोहिया एक उद्भट देश भक्त और गान्धीवादी थे। लोहे का व्यापार उनके परिवार का पुश्तैनी पेशा था। इसलिए कई पुश्त से उनके परिवार को लोहिया" परिवार कहकर सम्बोधित किया जाने लगा।[1] राम मनोहर जब ढाई वर्ष के थे तभी उनकी माता का देहान्त हो गया था। इसके कारण हीरा लाल जी पर पिता और मॉ दोनो के निर्वाह करने का भार आ पडा। हीरा लाल जी कर्त्तव्यपरायण एव दृढ विश्वासी व्यक्ति थे तथापि वह अन्ध विश्वासो और निरर्थक रूढियो के प्रति निर्मम दृष्टिकोण रखते थे। सन १९१६ ई० मे जब राम मनोहर लोहिया ६ साल के थे तभी उनके पिता उन्हे पहली बार गॉधीजी के पास ले गए थे।[2]

उपर्युक्त समस्त पारिवारिक परिस्थितियो का प्रभाव डॉ० राम मनोहर लोहिया के व्यक्तित्व निर्माण प्रक्रिया मे नींव की ईट की तरह प्रमाणित हुई। उदाहरणार्थ बचपन मे मातृ बिछोह की छद्म करुणा वयस्कोपरात मातृभूमि की व्यापक व्योम के अन्तराल मे उद्वेलन एव करुण क्रन्दन करने लगी। सम्पूर्ण मातृभूमि मे वह अपनी मातृ उद्गार अनुभूति का साक्षात्कार करने लगे। मातृभूमि की पीडा की अनुभूति उद्वेलित होकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम मे भाग लिया। पिता की देशभक्ति उनकी मातृभूमि राष्ट्रीयता का निर्धारक प्रारम्भिक कारक का दूसरा उदाहरणीय प्रसग है। अन्ध विश्वास एव रूढिवादी व्यवहार के प्रति विरोधी दृष्टिकोण का सृजन एव पथ प्रदर्शन उन्हे पिता के रूढि विरोधी चिन्तन एव प्रयास से मिला। कर्त्तव्य परायणता एव अनुशासनबद्धता का बीजक भी उन्हे पिता से प्राप्त हुआ। स्नेह एव प्रेम का उद्गार का अकुर बाल्यावस्था मे ही स्वतन्त्रता पूवर्क लडको के साथ खेल–कूद मे मिला। निश्चित रूप से यह कहना अनुपयुक्त नहीं है की बाल्यकाल मे ही महामानव गाँधी के दर्शन ने उनके हृदय और मानस पर एक मूक अमिट छाप छोडी। उन्हीं के शब्दो मे – मेरा विश्वास है कि मेरी पीढी के अनगिनत लोगो को एसे ही अनुभव हुए होगे जो उस कृपालु और हाथ के स्पर्श से अत्यधिक प्रभावित हुए होगे।[3]

[1] देखिए शरद ओंकार लोहिया लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद १९६८ पृष्ठ – ३४

[2] गॉधीजी को दक्षिण अफ्रीका से भारत आए हुए तब केवल पॉच वर्ष ही हुए थे। गाँधीजी के साथ इस पहली मुलाकात को लोहिया जी ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है। "गाँधीजी के सन् १९१९–२० ई. के असहयोग आन्दोलन के आह्वान पर मेरी उम्र के विद्यार्थियों ने विद्यालय का परित्याग किया था। मेरे पिताजी मुझे गाँधीजी के पास ले गए एव जहाँ तक मुझे याद है मैने उनके चरण स्पर्श किए और उन्होने मेरी पीठ थपथपाकर आर्शीवाद दिया।" – देखिए राम मनोहर लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, नव हिन्द, हैदराबाद १९६३

[3] डॉ राम मनोहर लोहिया- मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, १९६३, पृष्ठ – १४०

३ २ प्रारम्भिक शिक्षा

लोहिया की प्रारम्भि शिक्षा अकबरपुर मे हुई। उन्होने मैट्रिक की परीक्षा सन् १९२५ ई॰ म बम्बई के मारवाडी विद्यालय से उत्तीर्ण की। सन् १९२७ ई॰ मे काशी विश्वविद्यालय से इण्टर की परीक्षा तथा विद्यासागर कॉलेज कलकत्ता से बी॰ ए॰ की परीक्षा उत्तीर्ण की। उपर्युक्त शिक्षा प्राप्त करने के स्थान का अप्रत्यक्ष रूप से उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव अवश्य पडा होगा। ग्रामीण वातावरण मे प्रारम्भिक शिक्षा और पुन मैट्रिक की शिक्षा बम्बई जैसे महानगर मे ग्रहण करना भारतीय जीवन की दो चरम सीमा का द्योतक है। ग्रामीण प्रभाव से एकाएक महानगरीय प्रभाव किसी भी व्यक्ति के जीवन पर अनायास दो विभिन्न दृष्टिकोणो के समायोजन के लिए झझावात परिस्थितियॉ पैदा करता है। डॉ॰ लोहिया के दृष्टिकोण लगाव एव व्यवहार मे यह प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। सभवत यह एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि है जिसने उनके विचारो को ग्रामीण एव नगरीय समस्याओ के जाल एव प्रवाह मे जूझने के लिए छोड दिया है। पुन काशी[1] जैसी धर्म स्थली जहाँ हिन्दुत्व का व्यापक दर्शन शिव के मन्दिर से प्रवाहित होकर ससार को बिना किसी भेदभाव के सुख शान्ति का मन्त्रोचारण पृथ्वी एव गगन के बीच निरन्तर गुजायमान होता रहता है, लोहिया के नगरीय शैक्षणिक प्रभाव पर आध्यात्मवाद की अमिट छाप छोड़ देता है। शिव की काशी नगरी शिव के त्याग की अतिगामी कहानी की धरोहर को भारतीय सस्कृति के लिए एक अमूल्य आघ्यात्मिक विरासत प्रदान करता है। वह शिव जो समस्त मूलतम् आवश्यकताओ को भी त्याग सकता है, त्याग एव बलिदान की निरन्तर प्रेरक प्रवाह है। डॉ॰ लोहिया के प्रारम्भिक जीवन पर अध्यात्मवाद का यह मन्त्र उनके विचार शक्ति मे केन्द्रस्थ हो गया। इस प्रकार उनके शैक्षिणिक जीवन का यह काल भौतिकवाद एव अध्यात्मवाद की सार्थकता को समझकर उसकी प्रासगिकता को ढूढ़ँने के लिए जीवन पर्यन्त सघर्षशील, किन्तु सवेदनापूर्ण जीवन यापन करने के लिए बाध्य करता है।

उनके शिक्षाकाल का उपर्युक्त भारतीय चरण की समाप्ति के पश्चात् उनकी उच्च शिक्षा का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है। यह दूसरा चरण विदेश भूमि पर विदेशी वातावरण में पूरा होता है। जुलाई १९२९ ई॰ में वह प्रथम बार इग्लैण्ड उच्च शिक्षा हेतु गये किन्तु वहाँ वह अपने अनुकूल वातावरण न पाकर ब्रितानी शिक्षा व्यवस्था को छोड़कर उन्होंने जर्मनी में उच्च शिक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। इसका प्रथम कारण यह था कि भारतीय सस्कृति से अभिभूत राम मनोहर लोहिया ने

---

1 शरद ओंकार, लोहियाः पृष्ठ – ४३

पाश्चात्य ब्रितानी शिक्षा सस्कृति को अनुपयुक्त समझा। दूसरा कारण सभवत यह था कि भारत पर ब्रिटिश शासन की साम्राज्यवादी शोषण नीति ने उनके मन मे वहाँ की उच्च शिक्षा ग्रहण करने के प्रति अनास्था की भावना पैदा की हो। तृतीय इग्लैण्ड मे उन्हे ऐसा अभास हुआ कि वहाँ भारतीयो के साथ अग्रेजो का बुरा व्यवहार हो रहा है। चतुर्थ, लन्दन पुस्तकालय मे लोहिया द्वारा कुछ किताबो की खोज किये जाने की घटना है। उनके इस प्रयास के समय एक पुस्तकालय कर्मचारी ने कहा कि "अगर नई चीजो को जानना चाहते हो तो बर्लिन जाओ। अन्ततोगत्वा इस एक वाक्य ने लोहिया को बर्लिन मे अध्ययन के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप उन्होने जर्मनी मे बर्लिन स्थित हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय मे प्रवेश लिया। बर्लिन विश्वविद्यालय मे शोध उपाधि हेतु पजीकृत लोहिया ने 'नमक और सत्याग्रह विषय पर शोध प्रारम्भ किया। सन् १९३२ ई. मे विश्वविद्यालय ने उनके शोध कार्य के लिए पी. एच. डी. डिग्री प्रदान की। उनके शोधकाल के इस काल ने उनके राष्ट्रवादी धारणा की परिपक्वता प्रदान करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। सर्वप्रथम तत्कालीन जर्मनी मे राष्ट्रवाद के प्रखर उत्कर्ष रूप ने लोहिया के मस्तिष्क की राष्ट्रवादी विचारो को सशक्त रूप से अकुरित होने मे सहायता प्रदान की। इसके परिणामस्वरूप उनका हृदय अगाध राष्ट्र प्रेम से विभोर हो गया तथा अपनी मातृभूमि भारत को अग्रेजो से स्वतन्त्र कराने के लिए अग्रसर होने लगा। उनके शोध प्रबन्ध का शीर्षक उनके राष्ट्रवादी सकल्पो को दुहराने के लिए बार–बार उन्हे कुरेदता रहा। शोध कार्य ने उन्हे राष्ट्रीय सग्राम का वस्तु परक अनुभव एव विश्लेषण का महत्वपूर्ण अवसर प्रदान किया।

३ ३ शिक्षाकाल मे विभिन्न व्यक्तियो से लोहिया का सम्पर्क एवं राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ का उनपर प्रभाव

माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करते समय एक अगस्त सन् १९२० ई. में लोकमान्य बालगगाधर तिलक की मृत्यु का लोहिया पर हृदय विदारक प्रभाव पड़ा। उन्होने लोकमान्य की मृत्यु को महामृत्यु की सज्ञा दी[1] तथा मारवाड़ी विद्यालय के अपने छात्र साथियों को हड़ताल का आवाह्न कर उनका नेतृत्व

डॉ. लोहिया के शोध प्रबन्ध के परीक्षक थे – प्रो. कुर्ट सुमाखर, प्रो. लुडवीग वेरनाडी, प्रो. हरमन ऑकिन एव प्रो. दसनार। मौखिक परीक्षा में प्रो. कुर्ट सुमाखर ने लोहिया से कहा "हिटलर अब जर्मनी मे शासन में आने वाला है और यहाँ तुम्हारे लिए उचित होगा कि तुम जर्मनी छोड़ दो।" कृष्णनन्दन ठाकुर, डॉ. राम मनोहर लोहिया के आर्थिक राजनीतिक एव सामाजिक विचार। पृष्ठ – १०

1 कृष्णनन्दन ठाकुर – डॉ. राम मनोहर लोहिया के आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक विचार पृष्ठ – ३
ओंकार शरद – लोहिया पृष्ठ – ४१

किया। इसी समय गॉधीजी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर लोहिया ने अध्ययन छोडकर राष्ट्रीय आन्दोलन की यात्रा मे अपने को सम्मिलित कर लिया। अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करने का यह उनका प्रथम अवसर था।

सन् १९२८ मे राम मनोहर लोहिया कलकत्ता युवक सम्मेलन मे प जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस के नजदीक आए। उनके विचारों एव दृष्टिकोण को जानने का लोहिया के लिए यह प्रथम प्रत्यक्ष अवसर था। इसी समय लोहिया ने साइमन कमीशन[1] के विरोध मे कलकत्ते में विद्यार्थियो को एकजुट करने के लिए तैयार किया तथा बहिष्कार अभियान का नेतृत्व किया। लोहिया के व्यक्तित्व पर सुभाष बोस के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उनके एक सन्निकट सहयोगी का कथन है कि "सुभाष बोस के व्यक्तित्व मे भी उग्रता थी आकर्षण था लेकिन इसके अलावा भी उनकी गॉधीजी के साथ कभी नहीं बनी, लोहिया को उन्होने शायद इसलिए भी अधिक आकर्षित नहीं किया।"[2]

सुभाष चन्द्र बोस के सम्पर्क मे आने का दूसरा अवसर सन् १९३३–३४ था। इन दिनो बगाल मे एक तरह का राजनीतिक शून्य भी था। कोई सर्वमान्य नेता इस समय नहीं था। उग्र राष्ट्रवादियो के नेता के रूप मे सुभाष चन्द्र बोस सामने आ रहे थे। लेकिन लोहिया की समझ में सुभाष बोस की दृष्टि मे वह व्यापकता नहीं थी।[3] जिसकी आवश्कता उस समय बगाल को थी। अतएव लोहिया ने सुभाष बोस मे उक्त अभाव को देखकर उसकी पूर्ति के लिए कलकत्ता और बगाल को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। इसका आशय यह है कि लोहिया ने सुभाष बोस की चरमपन्थी, उग्रवादी कार्यशैली का प्रासगिक – प्रभावकारिता पर सन्देह प्रकट किया। लोहिया के व्यक्तित्व निर्माण के इस अन्तकरण की प्रक्रिया मे गॉधी एव नेहरू के प्रभाव की वर्चस्वता भी एक मुख्य कारण रही है।

जब राम मनोहर लौहिया अठारह–बीस साल के रहे होगे उस समय जवाहर लाल नेहरू का यह वक्तव्य कि स्वर्ग का साम्राज्य गरीबो का है। (The Kingdom of Heaven is for the poor) लोहिया को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्हीं के शब्दों में "उस वक्त तो सब श्रोताओं के साथ मैं भी चमत्कृत हो गया।" विश्व क्रान्ति और विश्व बधुत्व का जो सपना उन दिनों देखा जा रहा था, और

---

1. यह घटना सन् १९२८ ई. में 'साइमन वापस जाओ' भारतीयों द्वारा बहिष्कार अभियान की एक श्रृखला थी।
2. ओम प्रकाश दीपक, 'लोहिया असमाप्त जीवनी' समता अध्ययन न्यास, जय प्रकाश नगर, गोरे गाँव (पूर्व) बम्बई, १९७८, पृष्ठ – ७
3. ओम प्रकाश दीपक वही, (१९७८) पृष्ठ – १८

भारतीय नेताओ मे जिसका स्वर जवाहर लाल नेहरू मे सबसे अधिक मुखर था, उसमे लोहिया जैसे नौजवानो के लिए एक सहज आकर्षण था। नेहरू ने पूर्ण स्वतन्त्रता की आवाज उठाई थी और लोहिया के जर्मनी जाने से पहले सन् १६२६ ई॰ मे नेहरू की अध्यक्षता मे ही काग्रेस ने पूर्ण स्वतत्रता को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था। इस घटना ने लोहिया के व्यक्तित्व पर स्वतन्त्रता सग्रामी बनने का अडिग प्रभाव छोड़ा। नेहरू का सहृदय एव सवेदनशील व्यक्तित्व का प्रभाव भी लोहिया के व्यक्तित्व पर पड़ा है।[1] लोहिया के शब्दो मे "आचरण और भाव मे श्री नेहरू जीवन के प्रति हमेशा सहृदय रहे हैं, सहृदयता हमेशा परिस्कृति की द्योतक होती है।"[2]

गॉधी का लोहिया के व्यक्तित्व पर व्यापक प्रभाव पडा है। लोहिया के व्यक्तित्व पर गॉंधीवादी प्रभाव को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत गॉधी से लोहिया के सम्पर्क एव उनके विचार पुजो के सन्निकट आने का अवसर है तथा द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम मे गॉधी की भूमिका का लोहिया के व्यक्तित्व पर प्रभाव माना जा सकता है। पुन प्रथम श्रेणी के गॉधीवादी प्रभावको को कई उप–श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शिक्षा काल मे गॉधी के विचारो से सम्पर्क और शिक्षणेत्तरकाल मे पुन गॉधी और गॉधीवादी विचार स्रोतों से सम्पर्क एद निकटता। इसी प्रकार शिक्षणेत्तर जीवन काल मे गॉदीवादी सिद्धान्त की वास्तविक अनुभूति एव उनका कार्यान्वयन में विभाजन गॉधीवादी प्रभावकों की द्वितीय श्रेणी का उप–विभाजन माना जा सकता है। तत्पश्चात् बर्लिन मे शोध उपाधि हेतु चुने गये विषय वस्तु पर अध्ययन करने हेतु गॉंधीवादी विचारों के मूल स्रोतो के सन्निकट आने का सुअवसर प्राप्त हुआ।[3]

निष्कर्ष रूप में यदि लोहिया के व्यक्तित्व पर गॉंधी, नेहरू और सुभाष के प्रभाव की मात्रा का अनुपात निकालने का प्रयास किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि "गॉंधी और लोहिया दोनों ही हमेशा 'एक समय में एक कदम' को मानते रहे। लेकिन गॉंधी का कदम न्यूनतम से आरम्भ होकर धीरे–धीरे बढता था, जिस कारण अक्सर वक्त उनसे आगे बढ़ जाता था। इसके विपरीत लोहिया का

---

[1] राम मनोहर लोहिया – गिल्टी मेन ऑफ इण्डियाज पार्टीशन, हैदराबाद, १६७०, पृष्ठ – ६१

[2] राम मनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७०, पृष्ठ – ८२
पडित नेहरू के सबध में लोहिया की आलोचक दृष्टि के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ, विशेषकर पृष्ठ – ८२, ८३ देखें।

[3] राष्ट्रीय आन्दोलन में गॉंधी के विचार एव कर्म का लोहिया पर प्रभाव के विश्लेषण के लिए इसी अध्याय के अन्तर्गत राष्ट्रीय आन्दोलन का लोहिया पर प्रभाव उपशीर्षक के अन्तर्गत देखें।

कदम 'अधिकतम' को लेकर चलता था जिसके कारण बहुधा ऐसा लगता था कि वे असम्भव या असाध्य कार्य अपने हाथ में ले रहे हैं।"[1] लाहिया ने उपर्युक्त महापुरूषो के जीवन का अपने जीवन पर प्रभाप की भावाभिव्यक्ति निम्नलिखित शब्दो मे की है –

"मेरी पीढी के लोगों के लिए गॉधीजी कल्पना थे, जवाहर लाल जी कामना और नेताजी सुभाष कर्म। कल्पना सर्वदा दृष्टा रहेगी तथापि विस्तार मे उसके कुछ अपने दोष थे, पर उसकी कीर्ति, मैं आशा करता हूँ कि समय के साथ चमकेगी।[2]

डॉ॰ लोहिया के समकालीन सहचारियो मे जिनके साथ विचारो के आदान–प्रदान एव सघर्ष पूर्ण सामाजिक समस्याओ पर उन सभी के साथ जूझने का अवसर मिला, उन लोगो ने एक दूसरे को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया है। इन सहचारियो मे मुख्य रूप से आचार्य नरेन्द्र देव जय प्रकाश नारायण, यूसुफ मेहर अली, कमला देवी चटोपाध्याय, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता[3] आदि नाम उद्घृत किये जा सकते हैं। आचार्य नरेन्द्र देव की पहली बार मई सन् १६३४ मे लोहिया जी से मुलाकात हुई। उस भेट मे लोहिया के सबध मे आचार्य नरेन्द्र देव ने निम्नलिखित उद्‌गार व्यक्त किये हैं – "मुझे यह कहने मे प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डॉ॰ लोहिया और हम इस पक्ष मे थे कि उद्‌देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए अन्त में हम लोगो की विजय हुई।"[4]

द्रेश के बाहर जिन प्रमुख व्यक्तियों के सम्पर्क मे आकर लोहिया प्रभावित हुए उनमें ग्रेटा गार्बो जोसेफीन बेकर बर्नाडशा आइन्सटीन आदि है। ग्रेटा गार्बो[5] और जोसेफीन बेकर का अर्पूव सौन्दर्य तथा उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व ने लोहिया के मन को जीत लिया। इसका यह आशय है कि कठोर दृढ़

---

1 ओम प्रकाश दीपक वही १६७८, पृष्ठ – ३६

2 राम मनोहर लोहिया भारत विभाजन के अपराधी – पृष्ठ – ८१

3 उद्घृत उपर्युक्त व्यक्तियों के सक्षिप्त इतिहास जानने के लिए देखिए जी एस भार्गव, लीडरस् ऑफ दी लेफ्ट, देखिए एल पी सिन्हा – दि लेफ्ट विंग इन इण्डिया (१६१६–४७) दामूचक मुजफ्फरपुर, १६६५ अध्याय ६ पृष्ठ – ३०४–३८४, देखिए ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम, समाजवादी चिन्तन का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ, १६७८, अध्याय दस पृष्ठ – ४२३–५८८

4 आचार्य नरेन्द्र देव – राष्ट्रीयता और समाजवाद, बसन्त पंचमी २००६, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस, पृष्ठ – ६८८

5 ग्रेटा गार्बो और जोसेफीन बेकर (नीग्रो नायिका) अभिनेत्री थी। बेकर के सबध में लोहिया की आशक्ति की अभिव्यक्ति उन्हीं के शब्दों में "उसकी आँधी में मैं भी बह गया था।" उद्घृत, ओम प्रकाश दीपक, १६७८, पृष्ठ – ६

निश्चयी राम मनोहर लोहिया सौन्दर्य के प्रति उतने ही भावुक थे जितना कि कोई कवि अथवा साहित्यकार हो सकता है। आइन्सटीन से लोहिया की मुलाकात और आइन्सटीन का सापेक्षवाद का प्रभाव भी लोहिया के व्यक्तित्व पर पडा है। आइन्सटीन होमबोल्ट विश्वविद्यालय मे भौतिक विज्ञान पढ़ाते थे। लोहिया कौतुहलवश एक दिन आइन्सटीन की कक्षा मे गये थे। छात्र–छात्राएँ विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक को घेर कर बैठे थे। कोई प्रश्न पूछता था। फिर दूसरे छात्र उसका उत्तर देने की चेष्टा करते थे। आइन्सटीन के चेहरे पर एक धैर्य और स्नेह भरी मुस्कान थी। बीच–बीच मे कोई सकेत सूत्र देकर वे छात्रो की सहायता करते या किसी त्रुटि की ओर उनका ध्यान खींचते। इस प्रकार छात्र स्वय अपनी बुद्धि से अज्ञान से ज्ञान की ओर टटोलते हुए बढते और वैज्ञानिक अध्यापक स्नेह से देखता हुआ उन्हे बढावा देता तथा जरूरत पड़ने पर थोडा सहारा भी। उस कक्षा को देखकर लोहिया को लगा कि प्राचीन भारतीय ऋषियो मे आश्रम मे भी शायद ऐसी कक्षाएँ लगती रही होगी।[1]

जर्मनी मे खोज कार्य करते हुए लोहिया ने अपनी ऑखो के सामने नाजीवाद का उदय देखा।[2] उसके हाथो साम्यवाद और समाजवाद को पराजित होते देखा। इसके परिणाम स्वरूप वह इस नतीजे पर पहुँचे कि **नाजीवाद और साम्यवाद बुरे सिद्धान्त हैं लेकिन उनमें सकल्प शक्ति है। समाजवाद अच्छा सिद्धान्त है, लेकिन उसमे सकल्प शक्ति नहीं है। सकल्प शक्ति वाला समाजवाद, यह उनका वैचारिक लक्ष्य बना।**[3] सन् १९३६ ई॰ मे स्टालिन ने एक ओर 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर', 'जन मोर्चा' की नीति चलाई तथा दूसरी ओर उसने रूस के अन्दर अपने उन पुराने साथियों का सफाया करना प्रारम्भ किया जिनके बारे में जरा भी सन्देह था कि वे शायद इसका साथ न दें। सोवियत सघ के गॉवो में सामूहिक खेती और राजकीय खेती के कार्यक्रम लागू करने मे भी बड़े पैमाने पर किसानों का दमन आरम्भ हुआ। राम मनोहर लोहिया के मन पर इन घटनाओं ने प्रतिकूल प्रभाव डाला। साम्यवाद के समर्थक न होने पर भी लोहिया अभी तक मानते थे कि रूस एक नई और सामाजिक सभ्यता की स्थापना की दशा में एक प्रयोग है। उक्त घटना के पश्चात् उन्हें यह विश्वास हो गया कि उनकी सोवियत सघ के सबध मे उपर्युक्त धारणा सही नहीं है। अतएव उनकी दृष्टि में अब रूस की क्रान्ति अब केवल रूस की है, और वह भी समर्थन योग्य नहीं।[4]

---

1 ओम प्रकाश दीपक, लोहिया असामाप्त जीवनी पृष्ठ – १०

2 ओम प्रकाश दीपक, लोहिया: असामाप्त जीवनी पृष्ठ – ६
ओंकार शरद लोहिया पृष्ठ – ६१

3 ओम प्रकाश दीपक, लोहिया असामाप्त जीवनी: पृष्ठ – ७

4 इन्दुमति केलकर, लोहिया सिद्धान्त और कर्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९६३ पृष्ठ – ३५–३६

इन्हीं दिनो यूरोप मे एक और भी घटना हुई – स्पेन का गृह युद्ध। स्पेनी गणराज्य की सरकार के विरूद्ध फासिस्टो ने जनरल फ्रैको के नेतृत्व मे विद्रोह कर दिया था। गणराज्य की सरकार मे समाजवादी भी थे, साम्यवादी भी तथा अन्य लोग भी। फ्रैको की सेना को हिटलर के जर्मनी और मुसोलनी के इटली से पूरी मदद मिल रही थी, लेकिन फ्रास और इग्लैण्ड जैसे लोकतात्रिक कहे जाने वाले देशो ने 'हस्तक्षेप न करने' की घोषणा की। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की क्रातिकारी अन्तर्राष्ट्रीयता स्पेन के गृह युद्ध मे मारी गई तथा अन्त मे फासिज्य की विजय हुई। इस घटना ने राम मनोहर लोहिया के मस्तिष्क को अन्तर्राष्ट्रीय जगत के भविष्य के सबध मे सोचने के लिए अनुप्रेरित किया।[1]

अफ्रीका का उस समय एक मात्र स्वतत्र देश अबीसिनिया पर मुसोलनी के आक्रमण ने भी डॉ. लोहिया के विचार जगत को प्रभावित किया। राष्ट्र सघ (लीग ऑफ नेशन्स) और यूरोप अमेरिका के सभी देश इस आक्रमण को चुपचाप देखते रहे। इटली की आधुनिक सेना और वायु सेना के सामने सम्राट हेले सिलासी निसहाय बन गये। फिर भी मुसोलनी को आसानी से विजय प्राप्त नहीं हुई अन्त मे हेले सिलासी भाग कर इग्लैण्ड चले गये।

उपर्युक्त सभी घटनाओ से राम मनोहर लोहिया को विश्वास हो गया कि मनुष्य जाति की नई सभ्यता की स्थापना के लिए होने वाली विश्व क्रान्ति की प्रेरणा और शक्ति यूरोप से नहीं प्राप्त हो सकती न साम्यवाद से और न तथाकथित लोकतन्त्र से। इसके पश्चात् लोहिया का ध्यान एशिया और अफ्रीका की पराधीन जनता पर अधिक केन्द्रित होने लगा। उनमें यह धारणा बलवती होने लगी कि इन महाद्वीपो की गुलाम और पीडित जनता यदि 'सयुक्त मोर्चा' बनाकर अपनी स्वतन्त्रता के साथ कुछ आधार भूत सिद्धान्तो को लेकर लड़े तो नई विश्व सभ्यता की आधार भूमि तैयार हो सकती है। तत्कालीन फ्रास तथा अमेरिका आदि की सामाजिक एव राजनीतिक पहल ने भी उनके मानस–पटल पर प्रभाव डाला। फ्रास के सन्दर्भ मे लोहिया ने कहा था कि जो बातें फ्रासीसी क्रान्ति की बुनियाद थी, वही अब अमल में नहीं लाई जाती और उनकी अवहेलना की जाती है।[2]

---

[1] १३ अप्रैल १९३६ ई. को डॉ. लोहिया ने उपर्युक्त घटना के सबध में एसोशिएटेड प्रेस के संवाददाता से एक घटना में कहा कि हस्तक्षेपन करने के लिए बनाई गई कमेटी ने स्पेन की जनतांत्रिक सरकार द्वारा हथियार खरीदने पर तो प्रतिबन्ध लगा दिए, लेकिन फासिस्ट देशों की पलटनें, हवाई जहाज और टैंक स्पेन में फ्रैंको की मदद करते रहे हैं वास्तव में यह नीति हस्तक्षेप न करने की नहीं रही, वरन् फासिस्टों के पक्ष में हस्तक्षेप करने की बन गई। देखिए इन्दुमति केलकर, लोहिया सिद्धान्त और कर्म, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद १९६३ पृष्ठ – ३०–३६

[2] राम मनोहर लोहिया, दि स्ट्रगल फॉर सिविल लिवर्टीज, ऑल इण्डिया काग्रेस कमेटी फॉरेन डिपार्टमेंट, १९३६, पृष्ठ – १–७

सयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक आन्दोलन से भी राम मनोहर लोहिया को प्रेरणा मिली है।[1] अमेरिका के सन्दर्भ मे उनका मत था कि वह देश धनिको का स्वर्ग बनता जा रहा है तथा वहाँ लोकतान्त्रिक अधिकारो पर बड़े जोर से हमला हो रहा है।[2] इसी सन्दर्भ मे जापान की तत्कालीन घटना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लोहिया ने जापान के तोजो की आलोचना करते हुए लिखा है कि "मैं तोजो को उतना ही बुरा मानता हूँ जितना हिटलर या चर्चिल को क्योकि वह बुरा हत्याकाण्ड (युद्ध के समय का) अगर इनमे से किसी एक की विजय से ही समाप्त होगा तो आज से ज्यादा अच्छी दुनिया बनाने की उम्मीदे मिट्टी मे मिल जायेगी।"[3]

३ ४ सस्कृति, आदर्श एव दर्शन का राम मनोहर लोहिया पर प्रभाव

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया के विचार स्रोतो के प्रेरक धर्म, सस्कृति, आदर्श एव दर्शन भी रहे हैं। धर्म के जिस पक्ष ने उनके विचार उद्गम् को प्रभावित किया वह है धर्म का मानवतावादी दृष्टिकोण। वह धर्म के साम्प्रदायिक भावावेशो को वास्तविक धर्म की सज्ञा नहीं देते थे। उनकी दृष्टि में धर्म की रुढिवादी सकीर्ण व्याख्या मानव हित के बदले मानव अहित अनायास कर डालती है। इसका यह आशय है कि लोहिया ने धर्म की रुढ़िवादी कट्टरता के विपक्ष में अपनी मान्यता कायम की।[4] धर्म का विवेचन लोहिया ने भारतीय दर्शन के आधार पर किया। उपनिषद, गीता, राम, कृष्ण और शिव का दार्शनिक, आध्यात्मिक स्वरूप उनके मन को छू गया इसके कारण धर्म का उन्होंने आध्यात्मिक दार्शनिकीकरण कर दिया है। यही कारण है कि उनके विचारों मे धर्म का जुड़ाव अध्यात्म से और अध्यात्म का दर्शन से देखने को मिलता है। प्रस्तुत सदर्भ मे राम, कृष्ण और शिव के[5] प्रति लोहिया के दृष्टिकोण का उल्लेख उनके मन पर आध्यात्मिक दार्शनिक धर्म का प्रभाव देखने को मिलता है। राम, कृष्ण और शिव का आध्यात्मिक दार्शनिक चरित्र का विश्लेषण लोहिया ने इस प्रकार किया है –

---

1 वृहद जानकारी के लिए देखिए डॉ. लोहिया के लेख "सिविल लिवर्टीज इन अमेरिका", वही पृष्ठ – ८–१९

2 इन्दुमति केलकर, १९६३, पृष्ठ – ८–१९

3 लोहिया ने उपर्युक्त दृष्टिकोण जापान की विजय का विश्लेषण करते हुए प्रगट किया था, देखिए, लोहिया का निबन्ध "विश्वासघाती जापान या आत्म सन्तुष्ट ब्रिटेन", हरिजन, १९ अप्रैल, १९४२

4 डॉ॰ राम मनोहर लोहिया, हिन्दू बनाम हिन्दू, पृष्ठ – ६
डॉ॰ राम मनोहर लोहिया, धर्म पर एक दृष्टि पृष्ठ – ४–५

5 डॉ॰ राम मनोहर लोहिया, मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, पृष्ठ – १–२

"राम, कृष्ण और शिव भारत मे पूर्णता के तीन महान स्वप्न हैं। सबका रास्ता अलग-अलग है। राम की पूर्णता मर्यादित व्यक्तित्व में है, कृष्ण की उन्मुक्त या सम्पूर्ण व्यक्तित्व में, और शिव की असीमित व्यक्तित्व में, लेकिन हर एक पूर्ण है। किसी एक का एक या दूसरे से अधिक या कम पूर्ण होने का कोई सवाल नहीं उठता। पूर्णता मे विभेद कैसे हो सकता है? पूर्णता मे केवल गुण और किस्म का विभेद होता है।"[1] राम कृष्ण और शिव के बारे मे आध्यात्मिक दर्शन ने लोहिया को कई प्रकार से प्रभावित किया उदाहरणार्थ जीवन अथवा समाज के आदर्श के निर्धारण मे उनसे उन्हें प्रेरणा मिली। इसी प्रकार समाज मे व्याप्त विसगतियो, त्रुटियो एव अन्यायो को दूर करने के लिए उपयुक्त साधन के चयन निर्धारण मे सहायता मिली।[2] इसका यह अर्थ नहीं है कि लोहिया ने बिना सोचे समझे उपर्युक्त तीन देव महापुरूषो समस्त स्वरूपों एव व्यवहारो की स्तुति की हो। इस सन्दर्भ मे उनका यह कथन उदाहरणीय है। "राम का गिरा हुआ रूप सकीर्ण व्यक्तित्व, कृष्ण का गिरा हुआ दुराचारी, व्यक्तित्व, शिव का गिरा हुआ रूप स्वरूपहीन व्यक्तित्व बन जाता है। राम के दो अस्तित्व हो जाते हैं, मर्यादित और सकीर्ण, कृष्ण के उन्मुक्त और क्षुद्र प्रेमी, शिव के असीमित और प्रसागिका।"[3] स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया ने भारतीय पुराण, स्मृति एव महाकाव्य के देवो के जीवन चरित्र का बौद्धिक अनुशीलन किया है तथा केवल उनके परिष्कृत स्वरूपों को ही स्वीकार करने के लिए अपनी स्वकृति प्रदान की है। तदस्तु देखिए डॉ. लोहिया का यह दृष्टिकोण उन्हीं के शब्दो मे **"ए भारत माता, हमें शिव का मस्तक दो, कृष्ण का ह्रदय दो तथा राम का कर्म एव वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त के साथ-साथ जीवन की मर्यादा दो।"**[4]

डॉ. राम मनोहर लोहिया पर भारतीय सस्कृति तथा दर्शन के प्रभाव का बोध हमें उनके द्वारा रचित अन्य पुस्तकों एव लेखों से होता है। यहाँ उदाहरणीय है कृष्ण और राधा के सन्दर्भ में उनके विचार का एक प्रसग। कृष्ण का राधा और गोपियों के प्रति स्नेह तथा विभेद अभाव के समस्त बृजवासी एव मानव जाति के प्रति प्रेम, सम्प्रदायवाद के वैमनस्य विचारधारा के अन्त के लिए प्रेरक स्रोत हैं। लोहिया की दृष्टि मे कृष्ण की भूमिका रुढ़िवादी धर्म की भूमिका नहीं है वरन् प्रेम, सद्भाव, देशभक्ति, न्याय, अधिकार, कर्त्तव्य, ज्ञान, सुख–समृद्धि, विश्व–शक्ति, राजधर्म आदि को वास्तविक एव

---

1 डॉ. राम मनोहर लोहिया, इण्टरवल ड्यूरिंग पॉलिटिक्स नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९६५, पृष्ठ – ३२–३३

2 वही, पृष्ठ – ४०

3 डॉ. राम मनोहर लोहिया, वही पृष्ठ – ४८–४९

4 वही

वृहद परिप्रेक्ष्य मे समझने एव प्राप्त करने की भूमिका है।[1] अस्तु यह कहा जा सकता है कि कृष्णवाद का यह पक्ष लोहिया को समकालीन भारत एव विश्व की समस्याओ के सन्दर्भ मे उपयोगी मालूम होता है।

राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिक एकता, कर्त्तव्य बोध जैसे उनके विचारो के उदगम् स्रोत रामायण, गीता, महाभारत जैसे महाकाव्यो को माना जा सकता है। राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ मे महाभारत की उपयोगिता के प्रसग मे उन्होने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है "महाभारत हिन्दुस्तान की पूर्व-पश्चिम यात्रा है, जिस तरह रामायण उत्तर दक्षिण यात्रा है। पूर्व-पश्चिम यात्रा का नायक कृष्ण है जिस तरह उत्तर-दक्षिण यात्रा का नायक राम है।"[2] पुन उनका यह विचार राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ मे अत्यन्त प्रासगिक है। "त्रेता का राम हिन्दुस्तान की उत्तर–दक्षिण एकता का देव है। द्वापर का कृष्ण पूर्व–पश्चिम एकता का देव है। राम उत्तर–दक्षिण और कृष्ण पूर्व–पश्चिम धूरी पर घूमे। कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि देश को उत्तर–दक्षिण और पूर्व–पश्चिम एक करना ही राम और कृष्ण का धर्म था।"[3] शकराचार्य ने ९वीं सदी मे चारों पीठो की स्थापना करके पूरे भारत देश का एकीकरण किया। किन्तु यह एकता आध्यात्मिक थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता १९४७ के बाद ही हो सकी। इसी प्रकार लोहिया ने धर्म मे राष्ट्रवाद तथा पुराण में राष्ट्रीय एकता के मूल सिद्धान्त ढूढ़ेंने का प्रयास किया है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि लोहिया का अध्यात्मवाद, रूढिवादी, धार्मिक एव साम्प्रदायिक विश्वासो का अन्धाधुन्ध अनुकरण नहीं वरन् बुद्धिवाद का सहारा लेते हुए अध्यात्मवाद को मानवीय तथा सामाजिक समस्याओं से जोडने का प्रयास करता है। इसी श्रृखला मे लोहिया के सबध मे यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि **अध्यात्मवाद उनकी दृष्टि में सामाजिक, राजनीतिक जीवन का दार्शनिक माध्यम है।** इसकी प्राप्ति के लिए किया जाने वाला प्रयास आध्यात्मवाद का साध्य है।

भारतीय सस्कृति का व्यापक प्रभाव भी लोहिया के विचारधारा पर पडा है। तथापि वर्तमान भारतीय सस्कृति में व्याप्त त्रुटियों से तिरोहित होकर उनका मन प्राचीन भारतीय सस्कृति की ओर गमन करने लगता है। वास्तव मे वह प्राचीन भारतीय सस्कृति के उन समस्त पक्षों के पक्षधर थे जो व्यक्ति को मानव, राष्ट्र को प्रेम तथा विश्व को शान्ति बनाने की शिक्षा देता हो। वर्तमान संस्कृति को

---

[1] देखिए राम मनोहर लोहिया, कृष्ण, हैदराबाद १९७६, पृष्ठ – ११७

[2] वही पृष्ठ – ७

[3] वही, पृष्ठ – ६–७

उन्होने कीचड की सज्ञा दी जिसकी परम्परा ने या तो जीवन्त तत्व को नष्ट किया है या भुला दिया है।[1] लोहिया मानते हैं कि हमारी सस्कृति द्विश्रृखलात्मक है। एक श्रृखला है इतिहास की, अभिजात विचारधारा की और दूसरी श्रृखला है लोक जीवन की लोक तात्विक धारणाओ की। भारतीय सस्कृति का उनके मानस तथा विचार स्रोत पर कितना प्रभाव पडा इसका अनुमान उनके निम्नलिखित कथन से लगाया जा सकता है – "इतिहास की घटनाओ की एक लम्बी जजीर होती है और जिससे कोई सभ्यता और सस्कृति बना करती है उनका दिमाग पर असर रहता है। लेकिन इससे आगे एक और जजीर होती है वह किस्से कहानियो वाली हितोपदेश और पचतत्र वाली।[2]

राम मनोहर लोहिया के विचार स्रोत के प्रभावी कारको मे भारतीय एव पाश्चात्य दर्शन का उल्लेख करना भी अपेक्षित है। भारतीय दर्शन का आधार वेद उपनिषद आदि हैं। वेद, उपनिषद का विशुद्ध आधि भौतिक पक्ष (जैसे ईश्वर, सत्य आदि) की खोज अथवा उसका साक्षात्कार करना राम मनोहर लोहिया का लक्ष्य रहा होगा यह शायद ही सभव हो।[3] वास्तव मे उनके मानवीय सामाजिक पक्ष को ढूँढने एव समझने का प्रयास उन्होने अवश्य किया है। इस दृष्टि से उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व एक सामाजिक दार्शनिक का था। प्रत्येक घटना, वस्तु और समस्या के बारे मे वह खूब सोचते थे। उसके मूल मे जाकर विश्लेषण करने का प्रयास करते थे। समकालीन भारत और विश्व की समस्याओ को समझने एव उनके समाधान हेतु एक व्यवहारिक दर्शन उनकी हड्डियो मे प्रवेश कर गया था। उनपनिषदों की विचारधारा का मध्य बिन्दु **'तत किम्'** उनके ताने बाने मे मानो समा गया था। यहाँ यह कहना अवाछनीय नहीं होगा कि महावीर और बुद्ध दर्शन की प्रासगिकता ने भी उनके मन स्थल को स्पन्दित किया है।[4]

[1] राम मनोहर लोहिया, जाति प्रथा

[2] राम मनोहर लोहिया, मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व डॉ. राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७९, पृष्ठ – ३

[3] राम मनोहर लोहिया ने शकर के दर्शन का भी विवेचनात्मक अध्ययन किया है तथा उसे अतिवादी, अद्वैतवादी दर्शन की सज्ञा दी है देखिए, राम मनोहर लोहिया मार्क्स, गॉधी एण्ड सोशलिज्म, १९६३, प्रिफेस XXI

[4] देखिए राम मनोहर लोहिया, इण्टरवल ड्यूरिंग पॉलीटिक्स, हैदराबाद, १९६५, पृष्ठ – १७२–१८४ बौद्ध दर्शन पर लोहिया पर प्रभाव के लिए देखिए राम मनोहर लोहिया, '२,५०० वीं' बुद्ध जयन्ती और हिन्दुस्तान के पढ़े लिखे, समाजवादी प्रकाशन हैदराबाद, अनकिन वर्ष, पृष्ठ – १–२ देखिए, राम मनोहर लोहिया, मैनकाइण्ड, १ अगस्त १९५६

आधुनिक काल मे भारतीय मनीषी स्वामी विवेकानन्द तथा गाँधी के दर्शन का प्रभाव उनके विचार स्रोत पर देखने को मिलता है। बगाल के साथ लोहिया के लगाव की पृष्ठभूमि मे एक तथ्य यह भी था कि विवेकानन्द ने उनको बहुत अधिक प्रभावित किया था। विवेकानन्द के विचारो मे भारतीयता और सार्वव्यापकता के मेल का राजसीयता और आध्यात्मिकता के सयोग का लोहिया पर बहुत गहरा असर पडा। विवेकानन्द सबधी इस किवदती ने भी, कि उन्होने कन्या कुमारी मे शरीर त्याग किया, लोहिया को आकर्षित किया। सन् १९५८–५९ ई॰ मे, इन्होने इस किवदती को पुनर्जीवित करने की चेष्टा करते हुए यह प्रश्न पूछा कि देह त्याग के समय विवेकानन्द ने समुद्र की ओर मुख किया था या भारत की ओर। इस प्रसग मे लोहिया ने स्वय यह अनुमान लगाया कि अगर विवेकानन्द ने अपनी भारतीयता विश्व को समर्पित करनी चाही होगी तो समुद्र की ओर मुँह किया होगा, और अपनी सार्वीकता भारत को समर्पित करनी चाही होगी तो स्थल की ओर।[1] सक्षेप मे स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता और सार्वीकता को एक समेकित विचारधारा के रूप मे प्रस्तुत किया था उन्होने यह लक्ष्य प्रस्तुत किया कि भारत आन्तरिक जडता और पराधीनता, दोनो से मुक्ति प्राप्त करे। गाँधी इसी परम्परा की अगली कड़ी थे।

यद्यपि गाँधी के दर्शन और व्यक्तित्व का लोहिया पर व्यापक प्रभाव पड़ा है तथापि वह अपनी स्वतत्र एव उन्मुक्त विचारधारा को रखने के कारण गाँधी की आलोचना करने से मुकरे नहीं। यहाँ गाँधी के दर्शन और जीवन का लोहिया के विचार स्रोत पर कितना प्रभाव पड़ा। इसका सकेत डॉ॰ लोहिया ने स्वय दिया है। **सन् १९३६ मे उन्होने गाँधी को 'इतिहास का दर्शन कराने वाली अँगुली कहा था'।**[2] पुन वह लिखते हैं, "मैं स्वीकार करता हूँ कि मैने कई अवसरो पर महात्मा गाँधी के बारे मे सोचते हुए, कम्युनिस्टों और कैथोलिकों जैसी अन्ध भक्ति की है।"[3] महात्मा गाँधी की दृष्टि मे लोहिया का व्यक्तित्व किस प्रकार का था, गाँधी के कथन से ही स्पष्ट होता है। उन्होंने लोहिया को **सीधा चलने वाला तथा बहादुर व्यक्ति**[4], **'भारत की आत्मा'**[5] **एव चरित्र में धारावाहिकता**[6] गुण वाला व्यक्ति कहकर सम्बोधित किया।

---

1 ओम प्रकाश दीपक, १९७८ पृष्ठ – १८

2 इन्दुमति केलकर १९६३, पृष्ठ – ६

3 लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – १२५

4 सन् १९४० में महात्मा गाँधी ने यह कहा था "डॉ॰ लोहिया से बढ़कर सीधा चलने वाला तथा बहादुर व्यक्ति मैंने आज तक नहीं देखा।

डॉ॰ राम मनोहर लोहिया के व्यक्तित्व एव विचार स्रोत के मूल्याकन के अतिम क्षण में पाश्चात्य विचार दर्शन के प्रभाव का एक सिहावलोकन आवश्यक है। किन्तु इसके पूर्व दो शब्द यह कहना यथा सगत है कि लोहिया जर्मनी मे अध्ययन प्रवास के समय वहॉ की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सम्पर्क मे आए उन्होने उसकी कई सभाओ मे भाग लिया। स्वभावत दल के सिद्धान्त एव गतिविधियो का उनके मन पर प्रभाव पड़ा। उनके ही शब्दो मे "जर्मनी मे जो समाजवादी पार्टी थी, दिमागी तौर से जिसके साथ मेरा रिश्ता सबसे ज्यादा था उसमे बडे सज्जन लोग थे।"[1] लोहिया का यह कथन स्पष्टत जर्मन समाजवादी दल का उनके ऊपर प्रभाव स्वीकारता है,[2]

लोहिया की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधारा उनके समाजवादी चिन्तन मे ऑकी जा सकती है। अतएव यह निरापद है कि उनके मस्तिष्क पर समाजवादी विचार स्रोतो का व्यापक प्रभाव रहा है। उन्होने कल्पलनावादी समाजवादी चिन्तनो से लेकर मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन, माओ आदि के समाजवादी विचार साहित्य का भी मथन किया। यद्यपि यह कहना अधिक कठिन है कि उनके साहित्य का सकारात्मक प्रभाव लोहिया के मस्तिष्क पर कितना पडा तथापि उन साहित्यो ने ऐन केन प्रकारेण लोहिया को समाजवादी चिन्तन को भारतीय सदर्भ मे समझने तथा मूल्याकन करने का अवसर प्रदान किंया। लोहिया ने मार्क्सवादी विचारधारा को भारतीय परिप्रेक्ष्य मे पूर्णत उपयोगी एव यथार्थ युक्त नहीं

5 सन् १९४६ ई. में गोवा मे डॉ. लोहिया की गिरफ्तारी पर महात्मा गॉंधी ने कहा था "डॉ. लोहिया कोई मामूली आदमी नहीं है। आज केवल लोहिया जेल मे नहीं बल्कि भारत की आत्मा कैद है।"

6 तुम बहादुर हो, लेकिन बहादुर तो शेर भी होता है। तुम विद्वान हो लेकिन विद्वान तो वकील भी होता है। इनसे परे तुम्हारा विशिष्ट गुण है शील यानि चरित्र मे धारावाहिकता।" "गॉंधी का पत्र डॉ. लोहिया के नाम से उद्धृत" उपर्युक्त लोहिया के सबध में समस्त कथन के लिए देखें 'लोहिया कौन?' मिलौनीगज, जबलपुर, वर्ष अनकित, पृष्ठ – ५
इसके अतिरिक्त लोहिया के सबध मे गॉंधी की धारणा के लिए देखें गॉंधी के पत्र सर इवान एम. जैकिन्स वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी के नाम पत्र, १५ नवम्बर १९४५ देखें जन, डॉ. लोहिया विशेषाक मार्च १९७८, पृष्ठ – १०८

1 राम मनोहर लोहिया, समाजवादी आन्दोलन का इतिहास लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६६ पृष्ठ – २०

2 लोहिया को जर्मनी की राजनीति में काफी दिलचस्पी रही इसका प्रमाण यह है कि सन् १९३१ में जर्मनी के चुनाव में लोहिया ने सक्रिय भाग लिया और हिटलर के विरूद्ध हिडेनबर्ग का समर्थन किया था। उनके ही शब्दों में "जर्मनी में एक विद्यार्थी की तरह मैंने जनरल हिडेनबर्ग का समर्थन किया था क्योंकि हिटलर की तुलना में उनमें कम बुराइयॉं थीं और हमने अधिक नहीं भी तो कम से कम दो वोट हिडेनबर्ग के लिए प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी लेकिन आज यहॉं सभी जानते हैं कि हिडेनबर्ग हिटलर को कभी रोक नहीं सकता हॉं हिटलर के शासन में आने में कुछ विलम्ब अवश्य हुआ।" देखिए लोहिया, मैनकाइण्ड १९६४, खण्ड–२ अक–६ पृष्ठ – ५१

माना तथा एक विशिष्ट प्रकार के समाजवादी चिन्तन एव सिद्धान्त का आधार प्रस्तुत किया जो समग्रता का द्योतक है।

निष्कर्ष मे उपर्युक्त तथ्य एव सन्दर्भ लोहिया के व्यक्तित्व को एक उदारपन्थी अहिसक समाजवादी के रूप मे प्रस्तुत करता है। उन्हे **गरीबों का मसीहा,**[1] **लौह पुरूष,**[2] **मानवतावादी, समाजवादी, विद्रोही व्यक्तित्व,**[3] **भविष्य दृष्टा**[4] तथा मौलिक चिन्तक के रूप मे जाना जाता है।

डॉ. लोहिया को गरीबो एव दलितो के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा थी। अपने जीवन के अतिम क्षणों में भी उनके शब्द थे "लाखो का क्या होगा? किसानो का क्या होग.? लगान का क्या होगा? हिन्दी का क्या होगा?" और मेरे अकेले के लिए इतने डॉक्टर करोड़ों तो एक डॉक्टर का चेहरा भी नहीं देख पाते। ६ देखिए दिनमान २२ अक्टूबर १९६७ पृष्ठ – ६

डॉ. लोहिया रात–रात भर कलकत्ते मे चक्कर लगाकर देखते थे कि कितने गरीब सड़क पर सोते हैं। देखिए जन मार्च १९६८, पृष्ठ – ३२

डॉ. लोहिया का लाहौर किले के जेल में जो शारीरिक यातनाऐं झेलनी पड़ी एव कष्ट उठाने पड़े उसने लोहिया को वास्तव में लौह पुरूष बना दिया। विशेष जानकारी के लिए देखें डॉ. लोहिया द्वारा लिखित प्रो. लास्की के नाम रपट, मैनकाइण्ड, फरवरी १९६८, पृष्ठ – ४६

"अपने सम्पूर्ण जीवन में १८ बार जेल जाना और निर्भयता से सामाजिक न्याय के लिए कष्ट उठाना लोहिया को अद्वितीय साहसी और क्षमतावान सिद्ध करता है।" देखिए– २२ अक्टूबर ६७, दिनमान, पृष्ठ – २५

उनके विद्रोही व्यक्तित्व में विचार, प्रतिभा और कर्मठता का समिश्रण था। कवि रामधारी सिह दिनकर ने उन्हें **"आजीवन विस्फोटक व्यक्तित्व"** और भाग्यवाद के विरोधी, **निश्छल आदर्शवादी"** की सज्ञा दी। देखिए धर्मयुग, २४ मार्च, १९६८, पृष्ठ – १०

डॉ. लोहिया भविष्य द्रष्टा थे। उनकी भविष्यवाणी तर्क एव चिन्तन पर आधारित थी। सन् १९५० ई. में उन्होंने पूर्वी पाकिस्तान के स्वतत्र होने की भविष्यवाणी की थी जो बाद में स्वतत्र राज्य बगलादेश बना, देखिए डॉ. लोहिया, फारेन पालिसी, पृष्ठ – ११२–११३

सन् १९६७ ई. के चुनाव परिणाम स्वरूप राज्यों में सविद सरकारों का अभ्युदय और पतन भी डॉ. लोहिया के द्वारा की गई सन् १९६२ ई. की भविष्यवाणी के अनुकूल था। देखिए, लोहिया भाषण, सिकन्दराबाद, २ अक्टूबर १९६३

२.४ डॉ० लोहिया के आर्थिक विचार

डॉ. लोहिया समाजवादी अर्थशास्त्रियो मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। बर्लिन विश्वविद्यालय मे उनको समाजवादी अर्थशास्त्र का अध्ययन करने का अवसर मिला था। डॉ. लोहिया के आर्थिक विचारो का अध्ययन करने से पूर्व यह ज्ञात कर लेना आवश्यक है कि समाजवाद मे आर्थिक तत्व का महत्व सर्वाधिक है। वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने आर्थिक तत्व को समाज का निर्णायक तत्व कहा है। उसके मतानुसार सामाजिक विकास की प्रगति और दिशा उत्पाद और विनिमय की रीतियो पर निर्भर करती है। अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन मे मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धो मे बँधते हैं जो अपरिहार्य एव उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियो के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुरूप होते हैं। इन्हीं उत्पादन सम्बन्धो के योग से समाज की आर्थिक प्रणाली बनती है जो कि वह वास्तविक आधार होती है जिस पर वैधानिक सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओ का निर्माण होता है। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, प्रत्युत इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।[1] फ्रेडरिक एगेल्स ने भी इसी सिद्धान्त का सक्षिप्त वर्णन करते हुए लिखा है, "समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रान्तियो के अन्तिम कारण न तो मनुष्य के मस्तिष्क में और न उनके. चरम सत्य और न्याय सम्बन्धी विशेष ज्ञान में पाये जाते हैं वरन् वे तो उत्पादन तथा विनिमय प्रणाली मे होने वाले परिवर्तनो मे निहित है"[2] स्पष्टतया सामाजिक उन्नति और विकास की दिशा उत्पादन तथा विनिमय की रीतियो पर निर्भर है। डॉ. लोहिया मार्क्स के आर्थिक चिन्तन की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए अनार्थिक कारणो से पड़ने वाले प्रभुत्व को भी महत्व देते हैं।[3] उनकी दृष्टि में धार्मिक महत्वाकाक्षाएँ, शक्ति का मद, यश लिप्सा, स्त्री–पुरूष के बीच परस्पर आकर्षण आदि भी सामाजिक स्थिति के सयोजन में गभीर भूमिका का निर्वाह करते हैं। इतिहास की केवल आर्थिक व्याख्या ही नहीं वरन् एक नैतिक सौन्दर्यमूलक, राजनीतिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक व्याख्या भी है। किन्तु फिर भी आर्थिक तत्व की विशेष महत्ता को ठुकराया नहीं जा सकता। सामाजिक, धार्मिक,

---

1 कार्ल मार्क्स फ्रेडरिक एगेल्स सकलित रचनाएँ (चार भागों मे) भाग–२ पृष्ठ – ६

2 वही भाग–३ पृष्ठ – ६०

3 देखे डॉ. लोहिया सात क्रातियाँ पृष्ठ – २

राजनैतिक और सास्कृतिक उथल–पुथल मे विश्वास करने वाले डॉ॰ लोहिया भी आर्थिक क्रान्ति की प्रधानता और अपरिहार्यता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि मार्क्स और एगेल्स ने आर्थिक तत्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है तथापि इसमे कोई सन्देह नहीं कि अनार्थिक कारणो से आर्थिक कारण समाज पर अधिक प्रभाव डालते हैं। डॉ॰ लोहिया का आर्थिक चिन्तन अधोलिखित आठ बिन्दुओ के अन्तर्गत किया गया है –

४ १ वर्ग उन्मूलन

आर्थिक हिता की समानता का कारण वर्ग–निर्माण है, उत्पादन, विनिमय तथा वितरण पर एकाधिकार रखने वाले अन्ततोगत्वा शोषक बन जाते हैं, साथ ही दूसरा वर्ग शोषित बन जाता है। मार्क्स एगेल्स बुखारिन आदि वर्गोत्पत्ति का कारण आर्थिक मानते हैं। डॉ॰ लोहिया इस विचार को एकागी सत्य मानते हुए वर्ग निर्माण के कारणो मे सामाजिक तथा बौद्धिक कारण भी जोड़ते हैं "दौलत बुद्धि स्थान के हिसाब से समाज मे गिरोह बनते हैं जिन्हे वर्ग कहते हैं।[1] उनका ये मत सटीक तथा यथार्थ है। यही उनके चिन्तन की सबसे बडी विशेषता है कि वे आर्थिक, सामाजिक व सास्कृतिक (बौद्धिक) व्यवस्थाओ को प्रत्येक समाज् मे भिन्न मानते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक समाज की वर्ग व्यवस्था का गहन अध्ययन होना चाहिए और तद्नुसार उस व्यवस्था में परिवर्तन हेतु अलग–अलग कदम एक साथ उठाने चाहिए। विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति उनकी दृष्टि में शोषक है। विशेषाधिकार जन्म से भी हासिल होते हैं और प्रयत्नो से भी प्राप्त किये जाते हैं। अपने देश मे लोहिया तीन प्रकार के विशेषाधिकार की बात करते थे – जाति[2], सम्पत्ति और भाषा[3]।

भारत वर्ष मे डॉ॰ लोहिया ने वर्ग व्यवस्था का गहन अध्ययन कर उसे अत्यन्त मौलिक ढग से प्रस्तुत किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि एक वर्ग समाज में मुख्य वस्तु है – शोषण। जो शोषण कर सकते हैं, वे अधिक लाभ का अर्जन करते हैं। जो शोषण नहीं कर सकते, उनका शोषण होता है। शोषण कर्त्ताओं का अस्त्र विशेषाधिकार होता है। विशेषाधिकार एक ऐसा अवसर है जो समाज में बहुत छोटे से हिस्से को मिलता है। भाषा सम्बन्धी विशेषाधिकार से डॉ॰ लोहिया का तात्पर्य अग्रेजी भाषा के ज्ञान से है। आज धन और प्रतिष्ठा अग्रेजी से जुड़ी हुई है। करोड़ों लोग यह सोचते है कि वे तो

[1] डॉ॰ लोहिया जाति प्रथा: पृष्ठ – ६

[2] देखे डॉ॰ लोहिया जाति प्रथा, पृष्ठ – ४१

[3] डॉ॰ लोहिया भाषा, पृष्ठ – ४६

अग्रेजी नहीं जानते शासन कैसे चलायेगे। इस प्रकार इस प्रजातात्रिक राज्य मे करोडो लोग हीन भावना से ग्रस्त हो गये हैं। भाषा के आधार पर वर्तमान मे ही नहीं अपितु १५०० वर्षो से शोषक और शोषित वर्ग निरन्तर अस्तित्व मे रहे हैं। डॉ॰ लोहिया ने स्पष्ट किया कि "बुनियादी बात यह है कि गत १५०० सालो से हिन्दुस्तान की सस्कृति मे अजीब फूट चली आ रही है। एक तरफ तो कुछ लोगो की सामन्ती भाषा सामन्ती वेश–भूषा सामन्ती भोजन और सामन्ती भवन रहा है तो दूसरी तरफ करोडो लोगो की लोक–भाषा लोक–भूषा लोक–भोजन और लोक–भवन रहे हैं। उदाहरण के लिए किसी जमाने मे सस्कृत सामन्ती भाषा, प्राकृत अपभ्रश और पाली लोक भाषाऍ, अरबी और फारसी सामन्ती भाषा, हिन्दी उर्दू, तमिल बगाली लोक भाषाऍ रही हैं। आज अग्रेजी सामन्ती भाषा है और हिन्दी हिन्दुस्तानी तमिल तेलगू, मराठी वगैरह लोक–भाषाऍ।"[1]

वर्ग निर्माण का दूसरा कारण जाति सम्बन्धी विशेषाधिकार है। भारतीय ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि जाति (वर्ण) का निर्माण कार्य विभाजन के लिए किया गया था। उसमें छोटे–बड़े और ऊँच–नीच का कोई भेदभाव नहीं था। सहयोग के आधार पर सामाजिक विकास ही इस विभाजन का लक्ष्य था। किन्तु डॉ॰ लोहिया की मान्यता इससे बिल्कुल भिन्न है। उनका मत था कि विश्व के इतिहास मे सबल और निर्बल युद्ध हुए। सबलो ने निर्बलो को पराजित कर उन्हे तबाह कर डाला। किन्तु भारत वर्ष की विशेषता यह रही कि विजयी वर्ग ने पराजित वर्ग को नष्ट न कर केवल उनके अधिकारो को सीमित किया और अपने जीवन का एक अग उन्हे बना लिया। इस प्रकार "हारे का नाश करने के बजाय उसकी आमदनी को बॉध रखने के प्रयास से जाति की उत्पत्ति हुई।"[2] विजयी वर्ग द्विज और पराजित वर्ग शूद्र कहलाया। जैसे–जैसे समय बीतता गया द्विज अद्विज को अधिकाधिक व्यक्तित्वहीन बनाता चला गया। सारा का सारा शूद्र–समुदाय निर्जीव व्यक्तित्वहीन और उदास बनता चला गया। डॉ॰ लोहिया ने इस अन्तर पर विशेष ध्यान आकृष्ट करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं कि "जाति देश को तोड़ रही है वह सतुष्टि, दर्रे और निश्चलता के बहुसख्यक छोटे–छोटे पोखरे बनाती है हर एक पोखर को अपने छोटे से घेरे की भलाई में ही दिलचस्पी रहती है। मूल्यों की एक सीढी नें हर एक जाति को कुछ दूसरी जातियों के ऊपर खड़ा कर दिया है।"[3]

---

[1] डॉ॰ लोहिया भाषा पृष्ठ – ४६

[2] डॉ॰ लोहिया जाति–प्रथा, पृष्ठ – ४१

[3] डॉ॰ लोहिया भाषा, पृष्ठ – ११३

व ी–निर्माण का अन्तिम विशेषाधिकार सम्पत्ति है। लोहिया आर्थिक विषमता को अन्य विषमताओ से अधिक महत्व देते थे क्योकि वर्ग–उत्पत्ति का मुख्य कारण आर्थिक विषमता ही है। उन्होने यदि एक ओर आठ आने अथवा रूपया रोज कमाने वाले के परिश्रमी किन्तु कष्टमय जीवन को सहानुभूतिपूर्वक देखा था, तो दूसरी ओर धनिको के विलासितापूर्ण एव निष्क्रिय जीवन को घृणास्पद दृष्टि से अवलोकन किया था। लोहिया ने इस भयानक आर्थिक विषमता पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा था "सारे ससार मे छोटे और बडे आदमी के बीच अन्तर है लेकिन भारत मे यह अन्तर मारक है। गोरे देशो मे चाहे वे पूँजीवादी अथवा साम्यवादी हो , लोगो की आय मे दो, पॉच सात गुने का अन्तर होता है। यह अन्तर भारत मे ५० १००, ३०० गुने का साधारण तौर पर होता है। परिणाम यह है कि एक तरफ भोजन और कपडा नहीं है और दूसरी तरफ आधुनिकता और शौकीनी का सदा बढता परिहास है।"[1]

डॉ॰ लोहिया द्वारा स्पष्ट किये गये उपर्युक्त तीन विशेषाधिकारो से चार वर्गो का निर्माण होता है।[2]

(i) शासक वर्ग

जिनको जन्म से जाति, भाषा और सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त है – अर्थात् धनी, खासे मध्यम वित्त परिवार के लोग, आंग्ल–भाषा के अधिकारी व उच्च जाति के व्यक्ति।

(ii) उच्च मध्यम वर्ग

ये वर्ग शासक वर्ग से जुड़ा है, वह वर्ग इन्हीं पर आश्रित रहता है, ये लोग उच्च जाति व आंग्ल–भाषा–भाषी वाले होते हैं इनमे ये दो गुण होते हैं।

(iii) निम्न मध्यम वर्ग :

इस वर्ग में सम्पत्ति, भाषा (अग्रेजी) और उच्च जाति, इनमें से एक गुण ही होता है।

1 डॉ॰ लोहिया देश गरमाओ, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, १६७०, पृष्ठ – ५
2 विशेष जानकारी के लिए देखें लोहिया समाजवाद की अर्थनीति, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १६६८, पृष्ठ – ४
भाषा – पृष्ठ – ७५–३६

(iv) विशुद्ध सर्वहारा वर्ग

इस वर्ग के पास न सम्पत्ति होती है न भाषा और न जाति। वर्ग भेद की इस दीवार को गिराये बिना उनकी दृष्टि मे कोई भी आर्थिक कार्यक्रम इस देश की उन्नति मे सहायक नहीं हो सकता है। यही कारण है कि उन्होने अग्रेजी हटाओ जाति या ऊँच–नीच की भाषा पर आश्रित वर्ग–उन्मूलन आय समता के लिए ११० का अनुपात आदि आन्दोलन शुरू किये थे और उनका विश्वास था कि सार्वजनिक क्षेत्र के मत्री कमिश्नर, जिलाधीश आदि के खर्चे और विलासिता पूर्ण जीवन का दमन उसी प्रकार से अनिवार्य है – जिस प्रकार से सेठ – साहूकारो आदि का, क्योकि वर्ग–विहीनता की स्थिति सस्थापित किये बिना समाजवाद एक विडम्बना होगी।

४ २ मूल्य नीति

इस सम्बन्ध मे डॉ. लोहिया की स्पष्ट धारणा यह थी कि "जिस्मानी अथवा माली बराबरी का अर्थ है कि जिन्दगी की जरूरी चीजो के दाम का रिश्ता आमदनी के साथ जुड़ा हुआ हो।"[1] पूँजीपति वर्ग सदैव उपभोक्ता के लिए एक खतरा बना रहता है। इससे छोटे उत्पादक भी शोषित होते हैं क्योकि वह वर्ग कम कीमत मे वस्तुऍ खरीदता है और कुछ समय उन वस्तुओ को रोककर फिर मन चाहे दाम मे उनको बिकवाता है। एक प्रकार से इस क्षेत्र मे वह तानाशाह है बडी मशीनों या हाथ से बनाये गये माल के दूसरी ओर कर्मचारी वर्ग 'मूल्य निर्धारण' की राष्ट्रीय ठोस नीति नहीं होने के कारण सदैव महगाई भत्ते की माग करता रहता है। सरकार उसकी माँग की किन्हीं अशों में पूरा करने के लिए नोट छापती है, घाटे के बजट बनाती है। मुद्रा–प्रसार के कारण वस्तुओं का मूल्य–स्तर और ऊँचा हो जाता है और कर्मचारियो तथा श्रमिकों की वास्तविक आय घट जाती है, जिस कारण वे पुन महगाई भत्ते में वृद्धि की मॉग करते हैं। मॅहगाई वृद्धि तथा मूल्य–वृद्धि का क्रम इसी प्रकार चलता रहता है।

डॉ. लोहिया चाहते थ कि प्रत्येक क्षेत्र मे शोषण मुक्त मूल्य नीति का निर्धारण किया जाय। कच्चे माल और तैयार माल के बीच 'मूल्यों' का अन्तर कम हो, और दो फसलों के बीच सोलह प्रतिशत से अधिक तेजी मन्दी न रहे, विक्रय मूल्य लागत मूल्य से ड्योढ़ा हो, जिसमें सभी कर तथा

डॉ. लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन, भाग–१, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद, १९६३, पृष्ठ –१८५
डॉ. लोहिया कॉचन मुक्ति

लाभ सम्मिलित हो। उनके मत मे सम्पूर्ण ससार मे खेती और कारखाने की चीजो के मूल्यो मे सन्तुलन और न्याय स्थापित किया जाना चाहिए **"सन्तुलन हो खेतिहर दाम मे और कारखाने के दाम मे और वह न सिर्फ राष्ट्रीय पैमाने पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भी।"**[1] मकान किराये के विषय मूल्यो की समाप्ति हेतु डॉ॰ लोहिया ने कहा कि औसत आय और मकान किराये के बीच सामजस्यपूर्ण और सतुलित सम्बन्ध रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति का दो मकानो से अधिक पर स्वामित्व नहीं होना चाहिए।"[2]

उपर्युक्त मूल्य–नीति की स्थापना हेतु डॉ॰ लोहिया ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव भी दिए। देश के विभिन्न समुदायो, सघो और व्यापारिक सगठनो को व्यापक दृष्टि रखना चाहिए। उन्हे **"मँहगाई भत्ता वगैरह बढ़ाने के बजाय चीजो के दामो को स्थिर करने की कोशिश करनी चाहिए।"**[3] इसके अतिरिक्त मूल्यो को स्थिर करने के लिए मुहल्ले–मुहल्ले और गाँव–गाँव मे सभाओं और प्रदर्शनो के द्वारा जनमत का निर्माण करना चाहिए। इस हेतु उन्होंने सरकारी लूट, पूँजीपति और बड़े किसान के अनपेक्षित लाभो पर कुठाराघात करना तथा सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाना भी अनिवार्य बताया। लोहिया स्पष्ट कहते हैं "मैं यह मानता हूँ कि दाम–नीति को हकीकत बनाने के लिए हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पडेगे तथा सरकारी लूट पूँजीपति–मुनाफो और बडे किसानो के हितो पर जम कर हमला करना होगा।"[4]

४ ३ आय नीति

आय–नीति द्वारा आर्थिक समता सस्थापित हो सकती है, बिना आर्थिक समता के दूसरी प्रकार की समताएँ व्यर्थ हैं। डॉ॰ लोहिया कहते हैं कि "चरम दारिद्रय की अवस्था में सामाजिक चेतना मर जाती है, या कम से कम क्षीण हो जाती है, समृद्धि और सुख मे रहने वाले व्यक्ति अपने और दरिद्र जनता के बीच निर्ममता की प्राचीरे खड़ी कर लेते हैं। सामाजिक चेतना का पुर्नजागरण तभी सभव है, जब इन प्राचीरों को ढहाया जाए, और ये प्राचीरें तभी गिर सकती हैं, जबकि आदमियों का परस्पर अन्तर निश्चित सीमा के अन्दर रखा जाय।"[5]

---

1 डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति, पृष्ठ – २१

2 डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति, पृष्ठ – २१

3 डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति पृष्ठ – ३५

4 डॉ॰ लोहिया भाषा, पृष्ठ – ७५–७६

5 डॉ॰ लोहिया कॉचन–मुक्ति, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद, १६५६, पृष्ठ – ३२

भारतवर्ष मे न्यूनतम और अधिकतम आमदनी मे अधिक विषमता विद्यमान है। एक ओर तो उच्च पदाधिकारियो को अधिक वेतन मिलता है दूसरी ओर ऐसे कर्मचारी हैं जो अपने वेतन से अपने परिवार का पेट भी नहीं भर सकते। एक ओर बडे–बडे उद्योगपति और पूँजीपति मजे से विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं तो दूसरी ओर बेकार और गरीब लोगो की कमी नहीं। केन्द्रीय राज्य के कर्मचारियों के वेतन राज्य के कर्मचारियो के वेतन की अपेक्षा अधिक होता है। यद्यपि दोनो प्रकार के कर्मचारियो के लिए मॅहगाई समान होती है, परन्तु उनके मॅहगाई भत्ते मे अन्तर है। स्थायी और अस्थायी कर्मचारियो की मजदूरी मे अच्छा खासा अन्तर होता है। स्थायी कर्मचारियो को अधिक और अस्थायी कर्मचारियो को बहुत कम मजदूरी प्राप्त होती है। डॉ. लोहिया ने लोक सभा मे कहा था कि निम्न वर्ग के लोगों की आय तीन आना प्रतिदिन है। यद्यपि सरकार उनके इस कथन से सहमत नहीं हुई, परन्तु उसके अनुसार भी निम्न वर्ग के लोगो की आमदनी साढे सात आना प्रतिदिन से अधिक नहीं बतायी गई।

देश मे व्याप्त आय–विषमताओ का विश्लेषण करने मे डॉ. लोहिया ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का प्रयोग किया था। ऊँचे–ऊँचे सरकारी पदाधिकारियो की सुविधाओ पर लोहिया के दृष्टिकोण से किसी ने भी विचार नहीं किया था। इन लोगो के बॅगलो, नौकरो, आवागमन और सचार–साधनों पर जो खर्च होता है, उसे इन लागो के वेतनो को बगल मे रखकर देखना चाहिए। जब ये लोग ड्यूटी पर यात्रा करते हैं तो इनके स्वागत–सत्कार, ठाट–बाट और आराम पर बेहिसाब खर्च होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन सबका भार गरीब जनता को वहन करना पड़ता है। इन लोगो को मिलने वाली ये सुविधाएँ आय विषमता को और बढ़ा देती हैं। लोहिया की दृष्टि में आय और सम्मान की विषमताओं के कारण भारतीय समाज मे दस लाख श्रेणियॉ बन गई हैं।

डॉ. लोहिया के अनुसार भारत वर्ष की वार्षिक राष्ट्रीय आय लगभग डेढ़ खरब होती है जिसमे से आधा खरब (पचास अरब रूपया) बडे लोग ले लेते हैं, जिनकी सख्या ५० लाख है। शेष एक खरब (सौ अरब) रूपया छोटे लोग पाते हैं जिनकी सख्या ४४ करोड है। इस प्रकार "४४ करोड़ छोटे लोग बराबर हैं एक करोड बड़े लोगो के। १ और ४४ का औसत फर्क है। यूँ व्यक्तिगत फर्क तो ज्यादा है – ३० हजार का, दस हजार का, एक हजार का, पच्चीस हजार का फर्क है।"[1]

आय नीति के सन्दर्भ में डॉ. लोहिया ने ऐसा कभी नहीं कहा कि सब लोगों की आमदनी समान हो। निम्नतम और अधिकतम आय मे क्या अनुपात हो, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा

---

[1] डॉ. लोहिया देश गरमाओ, पृष्ठ – ३६

सकता। ऐसा अनुपात निर्धारित करने से पहले देश–काल और परिस्थिति पर ध्यान देना आवश्यक है। उनका कहना था कि "जो देश काल मे सभव हो उससे कम को हासिल करने की कोशिश तो अवसरवादिता है और उससे ज्यादा को हासिल करने की कोशिश पागलपन है।[1] समता का प्राचीन आदर्श आज के समता–आदर्श से जिस प्रकार भिन्न है उसी प्रकार भविष्य का समता–आदर्श आज के समता–आदर्श से भिन्न हो सकता है।

डॉ॰ लोहिया इस विषमता को पाटने के लिए ११० के अनुपात पर जोर देते हुए यह आशा करते थे कि एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि यह अन्तर १३ या १२ के अनुपात मे ही रह जाय। वे आय के उच्च स्तर के लिए भी प्रयत्नशील थे क्योकि जब तक तीन आने वाले वर्ग की आय इतनी नही बढ जाय कि वह सहज जीवन यापन कर सके तब तक परिश्रम करने के लिए उसे सक्षम नहीं बनाया जा सकता, न्यूनतम आमदनी तय किये बिना काम नहीं चल सकता। डॉ॰ लोहिया चाहते थे कि केवल सरकारी कर्मचारियो की आय मे सम्भव समता लाने से काम नहीं चलेगा। गैर सरकारी लोगो को भी इस अनुशासन मे लाना पडेगा। उद्योगपतियो, सेठो, वकीलो राजनीतिज्ञो, किसानो आदि सभी की आय नियत्रित करनी होगी। लोहिया का कहना था "यह कभी हो नहीं सकता कि सारे समाज मे तो लालच का समूद्र बहता रहे और बीच मे सिर्फ सरकारी नौकरो के लिए फर्ज का टापू बना डाला जाये यह नामुमकिन चीज है। लालच की लहरे लपेटा मारेगी। अगर किसी तरह से सरकारी नौकरी के लिए कर्त्तव्य का द्वीप बना भी दिया, तो वह टापू लालच के समुद्र में बह जायेगा। रोक लगानी है तो सभी आमदनियो पर, सरकारी नौकरो की, कारखाने वालो की, वकील की, राजनीति करने वालो की।"[2] निम्नतम व अधिकतम आय मे अनिवार्य रूप से अनुपात तय करना होगा और ये अन्तर जितना कम होगा उतना ही राष्ट्रीय आय का स्तर ऊँचा उठेगा। इसके लिए उन्होने कतिपय ठोस सुझाव प्रस्तुत किए हैं। सर्वप्रथम, धनिक वर्ग के खर्च पर सीमा बाँधनी चाहिए ताकि उनकी विलासिता पर खर्च होने वाले पैसे को बचाया जा सके। द्वितीय उच्च पदाधिकारी वर्ग की आय व सुविधाएँ कम की जाय। तृतीय, देश मे निर्मित वस्तुओ के प्रयोग पर जोर और आयात कम होना चाहिए। चतुर्थ, करोडपतियो के कारखानो का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य रूप से किया जाए। पाँचवा, सुझाव था कि अनावश्यक कर्मचारियो को रोजगार के दूसरे विकल्पो मे खपाया जाय, डॉ॰ लोहिया के

---

[1] डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति पृष्ठ – २५

[2] डॉ॰ लोहिया सगुण और निर्गुण, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६८, पृष्ठ – ३

मत म उपर्युक्त साधनो मे पैसा बचाकर इस रूपये को पैदावार की आधुनिकीकरण मे लगाओ पूँजी के स्वरूप मे लगाओ। इससे नए—नए कारखाने कायम करो।"[1] इन कारखानो से जो आय हो उनको पूँजी की तरह पुन प्रयोग कर दूसरे कारखाने खोलने कृषि सुधारने आदि मे लगाया जाय। केवल तभी प्रचुरता आयेगी और तीन आने वालो की आमदनी बढेगी।

४ ४ *भूमि-प्रबन्धन*

लोहिया असमानता के मूल मे भूमि के असमान वितरण को एक प्रधान कारण मानते थे। बडे- बडे सामन्त भूमि के एक बडे भाग पर अपना स्वामित्व रखते हैं। वे भूमिहीनो को अपनी जमीन मे कार्य करने के लिए लगाते हैं और उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक न देकर उनका शोषण करते हैं। मालिक को ७५ प्रतिशत और खेतिहर किसान को २५ प्रतिशत मिलता है। कभी—कभी उसे उपज का हिस्सा बहुत कम या कभी—कभी नहीं के बराबर मिलता है।[2] डॉ. लोहिया का विचार था कि जमीन—मालिक और बॅटाईदार के बीच उपज का उचित वितरण होना चाहिए। उनके मत मे २५ प्रतिशत उपज मालिक को और ७५ प्रतिशत बॅटाईदार को मिलनी चाहिए। उनकी जमीन सबधी पुर्नवितरण की नीति थी, "कि अधिक से अधिक और कम से कम जमीन के स्वामित्व मे एक और तीन का रिश्ता हो।"[3]

इस सन्दर्भ मे उनकी कल्पना अत्यन्त व्यापक थी और वे समूचे विश्व मे भूमि—वितरण को समान (लगभग) स्तर पर लाना चाहते थे। वह अन्तर्राष्ट्रीय जमींदारी के अन्याय को समस्त मानवता पर धब्बा मानते हुए यह आवश्यक समझते थे कि कैनेडा, साइबेरिया व आस्ट्रेलिया आदि देशों मे प्रति वर्ग मील पर एक या सात—आठ व्यक्ति का अधिकार है, जबकि उतनी जगह में भारत वर्ष मे ३५० व्यक्ति रहते हैं और पूर्वी उत्तर प्रदेश व केरल में यह सख्या एक हजार पर जा पहुँचती है। उनका विचार था कि विश्व के समस्त राष्ट्रों मे जमीन का लगभग समान वितरण होना चाहिए। वर्तमान स्थिति को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तो फिलहाल ये बात सभव नहीं है कि भूमि का समान वितरण हो सके परन्तु वह अपने देश में जरूर सभव हो सकता है। आर्थिक प्रगति में इस क्रान्तिकारी कदम का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है और कृषि प्रधान देश के लिए तो यह उसकी प्रगति का एक प्रकार से प्रजातत्र ही है।

---

1 डॉ. लोहिया समाजवाद की अर्थनीति पृष्ठ – १२

2 डॉ. लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन (भाग–१) पृष्ठ – २०६

3 डॉ. लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन (भाग–१) पृष्ठ – २१०

४ ५ आर्थिक विकेन्द्रीकरण

सरकार की उच्च स्तरीय सस्थाओ मे केन्द्रित शक्ति का निम्न स्तरीय सस्थाओ मे वितरण ही विकेन्द्रीकरण है। यह न्यायिक विधायिनी या प्रशासनिक आदि क्षेत्रो मे शक्ति के बिखराव की प्रक्रिया है। डॉ॰ लोहिया विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थक थे।[1] उनकी मान्यता थी कि **आर्थिक विकेन्द्रीकरण के बिना प्रशासनिक, विधायिनी और न्यायिक विकेन्द्रीकरण व्यर्थ है।** वे चाहते थे कि बडे उद्योगपति समाप्त हो, लघु उद्योगो का देश मे जाल सा बिछ जाय क्योकि बडे पैमाने पर चल रहे उद्योग नैतिक पतन मानसिक दौर्बल्य और शारीरिक क्षीणता उत्पन्न करते हैं। श्रमिक गरीब और साधनहीन जनता शोषण का शिकार है। इसलिए डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि **छोटी मशीनों पर आधारित उद्योग पद्धति "मुल्क के लिए सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक है।"**[2]

डॉ॰ लोहिया के मतानुसार भारत को अन्य देशो का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। प्रत्येक देश की अपनी पृथक समस्याएँ होती हैं, जिनका समाधान वह अपनी परिस्थितियो और साधनो के अनुसार करता है। अन्य देशो से कुछ सीखने के उपरान्त ही हमें अपनी समस्याओं को अपने ही ढग से हल करना चाहिए। भारत में छोटी मशीनो की उपादेयता निरूपित करते हुए उन्होने कहा था कि यूरोप और अमेरिका जैसे धनी देशो के विपरीत भारत मे कच्चे माल और मानव शक्ति का बाहुल्य तथा धन का अभाव है। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय विकास के लिए छोटी मशीनें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा ही आर्थिक विकेन्द्रीकरण और उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है। छोटी मशीनो की कल्पना का विवरण देते हुए लोहिया ने कहा था, "मैं उस जमाने का चित्र ऑखो से देख रहा हूँ जबकि देश के सभी गॉवो मे और शहरो मे विद्युत चालित छोटी मशीनो का एक बहुत बडा जाल बुनकर लोगो को काम दिया गया है और देश की सम्पत्ति बढ रही है।"

डॉ. लोहिया न तो गॉंधी के 'चरखा' जैसे सुस्त उपकरण के पक्ष मे थे और न आधुनिक विशालकाय यन्त्रो के। उनका मत था कि गॉंधी का अम्बर चर्खा नवीन छोटी मशीनो के लिए आधार हो सकता है, किन्तु केवल वही पर्याप्त नहीं। वे चाहते थे कि चर्खे जैसी हाथ की मशीनो का कुछ और आधुनिकीकरण होना चाहिए। उन्हें बिजली, पेट्रोल अथवा तेल आदि से परिचालित होना चाहिए।[3]

---

1 डॉ॰ लोहिया आसपेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पालिसी' हमाम स्ट्रीट फोर बम्बई, जुलाई १९५२ पृष्ठ – ३७

2 इन्दुमति केलकर लोहिया सिद्धान्त और कर्म पृष्ठ – १९६

3 लोहिया आसपेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पालिसी पृष्ठ – ३८

लोहिया मार्क्स गॉंधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ ३२६

वे भारतीय वैज्ञानिको को छोटी मशीने निर्मित करने की ओर प्रोत्साहित करना चाहते थे। वे जानते थे कि विदेशी आविष्कारो के सहारे देश की आर्थिक व्यवस्था पुनर्जीवित नहीं की जा सकती। इसलिए वे भारतीय वैज्ञानिको को ही कुशल और सक्षम बनाना चाहते थे। इस हेतु डॉ. लोहिया की योजना थी कि भारतीय छात्रो की विदेशो मे शिक्षा की व्यवस्था और राज्य द्वारा उसका नियन्त्रण होना चाहिए जिससे कि सार्वजनिक व निजी धन व्यर्थ नष्ट न होने पाये। इससे भी अधिक उन्हे यह पसन्द था कि विदेशों से शिक्षक, इन्जीनियर और फोरमैन शिक्षा देने के लिए भारत आमन्त्रित किये जाये। केवल तभी छोटी मशीनो का निर्माण शीघ्रता से हो सकेगा।

नवीन मशीनो के निर्माण के सम्बन्ध मे लोहिया की ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि इन मशीनो का निर्माण निश्चित उद्देश्य के लिए होगा। अजीब और मनमाने विषय को लेकर शोध करना उनको पसन्द न था। उन्होने स्पष्ट कहा था, "फिर आजकल की यह रफ्तार बदलनी पडेगी कि किसी भी अजीब और मनमाने विषय को लेकर खोज करने दी जाय। इसे छोड़ना पड़ेगा और उसके स्थान पर योजना बनाकर खोज करनी पडेगी।"[1] इन मशीनो के निर्माण का उद्देश्य केवल आर्थिक विकास ही नहीं, अपितु समाज के सामान्य लक्ष्यो की प्राप्ति है। उद्योगो का अधिकाधिक मात्रा मे सभी वर्गों और सभी क्षेत्रों मे वितरण ही आर्थिक विकेन्द्रीकरण है जिसकी प्राप्ति केवल छोटी मशीनो द्वारा ही हो सकती है। ये मशीने कम पूँजी मे निर्मित होने के कारण जनता के अधिकाश भाग को प्राप्त हो सकती हैं। लोहिया की मान्यता थी कि छोटी मशीनो की व्यवस्था से निर्धन भी अपने कुटीर और लघु उद्योग चला सकता है और भोजन, वस्त्र जैसे जीवन की आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है। बडी मशीने भारत के सामान्यजन के लिए समझ और प्रबन्ध के परे हैं।

यद्यपि डॉ. लोहिया छोटी मशीनो पर आधारित औद्योगिक व्यवस्था के समर्थक थे लेकिन इसका आशय यह लेना भी उपयुक्त नहीं होगा कि वे बडी मशीनों की उपादेयता को नकारते थे किन्हीं क्षेत्रों में जैसे स्टील निर्माण, बिजली उत्पादन आदि महत्वपूर्ण उद्योगों के लिए विदेशों से विशाल मशीनों को मँगाना आवश्यक मानते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोहिया ने बडी और छोटी दोनों ही मशीनों के प्रयोग पर आवश्यकतानुसार बल दिया है। उन्होंने बड़े-बड़े और अनिवार्य उद्योगों में विशाल मशीनों का सहयोग चाहते हुए भी तेल, पेट्रोल, बिजली आदि से परिचालित छोटी मशीनों के विस्तार का सशक्त प्रतिपादन

---

1 लोहिया भाषण, रीवा, २६ जनवरी, १९५०

किया है। औद्योगीकरण की उनकी इस नीति से स्पष्ट होता है कि वे जहाँ केन्द्रीकरण आवश्यक है वहाँ केन्द्रीकरण और जहाँ विकेन्द्रीकरण आवश्यक है वहाँ विकेन्द्रीकरण चाहते थे। उनकी छोटी मशीनो की योजना से उनका यह विश्वास झलकता है कि समाजवादी समाज की रचना केवल आर्थिक विकेन्द्रीकरण द्वारा ही हो सकता है और भारतवर्ष मे आर्थिक विकेन्द्रीकरण छोटी मशीनो के बिना सभव नहीं है क्योकि साधनहीन भारतीय जनता को एक ओर शोषक विशाल उद्योगो से मुक्ति चाहिए और दूसरी ओर स्वय का विकास करने के लिए छोटे–छोटे नियन्त्रित उपकरण चाहिए।

४ ६ *अन्न सेना व भू-सेना*

न्याय, सार्थकता व प्रचुरता समाजवाद का लक्ष्य है। भारत में प्रचुरता कृषि व उद्योग पर निर्भर है। कृषि में यहाँ पिछडापन है। उस पिछडेपन को दूर किये बिना देश की प्रगति सभव नहीं है। दूसरे नम्बर पर मजदूर आते हैं वे भी जरूरत के मुताबिक मजदूरी न मिलने के कारण से लगातार गिरते जाते हैं। कृषि मे तकाबी बॉटने की सरकार की नीति का कार्यान्वयन ढग से नहीं होता फलत वहाँ भी निर्धन कृषक का शोषण होता है।

डॉ॰ लोहिया भारतीय कृषि के पिछड़ेपन पर केवल चिन्ता ही व्यक्त नहीं, की अपितु उसके निराकरण हेतु सुझाव भी प्रस्तुत किये। इस हेतु उन्होने कहा था कि "व्यक्तिगत खेती, सामूहिक खेती और तीसरी चीज उद्योग भी, जो गाँव के लायक उद्योग हो, जो बनाये जा सकें, इन तीनों के समावेश से चीज होगी।" वे सामूहिक खेती के पक्ष में थे, यद्यपि सहकारी खेती सफल नहीं हुई थी उनकी दृष्टि में उसका कारण था कि वह खेती भी ऐसी है जिसमे कुछ लोगो ने अपने सरकारी असर द्वारा उसे अपनी आमदनी का कुछ साधन बनाया है। वह कोई ऐसी सहकारी खेती नहीं है जो किसानों वगैरह से चलायी गई हो। वे इस प्रकार की खेती में केवल उनको ही जोड़ना चाहते थे, जो कि हाथ से खेती करते हैं, चाहे वे प्रबन्ध के मामले में पिछड़े हुए हों। १८ करोड़ एकड़ भूमि जो परती पडी है, उसको भी सुधार करके काम में लाया जाना जरूरी है। चार करोड भूमि जलमग्न है जिसे वैज्ञानिकों की सहायता से खेती योग्य बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गगा–यमुना से कटने वाली जमीन भी लाखों एकड़ है। इस कटती हुई जमीन को बचाने के लिए भी उपाय किए जाने चाहिए।[1]

[1] डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति पृष्ठ – ३६–३७

(क) अन्न एव भू-सेना की योजना

लोहिया ने भूमि को कृषि योग्य बनाये जाने के सन्दर्भ मे **भू सेना** की भौतिक कल्पना की थी।[1] उनकी मान्यता थी कि 'जैसे बन्दूक वाली सेना वैसे ही हल वाली सेना, मोटी तरह से सोचे तो हल वाली सेना वह है जो नई जमीन को तोडे, आबाद करे।'[2] वे सोचते थे कि यदि खाद्यान्न के आयात मे होने वाले खर्च को भू–सेना पर लगाया जाए तो खाद्यान्न के मामले मे भारत को आत्मनिर्भर होने मे समय नहीं लगेगा। भू–सेना की योजना केवल कल्पना मात्र नहीं है। ब्रिटेन ने द्वितीय विश्व युद्ध के समय इस प्रकार की योजना द्वारा ही अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ किया था।

डॉ॰ लोहिया की योजना थी कि भारतीय कृषि व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए दस लाख व्यक्तियो की भू–सेना का निर्माण किया जाना चाहिए। इस अन्न–सेना के द्वारा १५ करोड़ एकड़ उपलब्ध परती जमीन मे से प्रति वर्ष एक करोड एकड़ भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सकता है। उन्होने यह भी कहा कि शासन को भू–सेना के सदस्यो को भोजन, वस्त्र और निवास का व्यय वहन करना चाहिए। अन्न–सेना के सैनिको के लिए सामान्य वेतन भी दिया जाना चाहिए। यह अन्न सेना पहले परती भूमि को कृषि योग्य बनाकर उस पर खेती करेगी। इसके लिए डॉ॰ लोहिया ने होने वाले खर्च व उससे प्राप्ति को ध्यान मे रखते हुए यह सिद्व किया था कि यह योजना शनै शनै अत्यन्त लाभकारी सिद्व होगी और सामूहिक खेती का आदर्श बन सकेगी।

डॉ॰ लोहिया ने अन्न एव भू–सेना को केवल आर्थिक विकास के लिए ही लाभदायक नहीं माना, बल्कि सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे भी उसके महत्वपूर्ण योगदान की ओर सकेत किया। उनके मतानुसार अन्न–सेना ४०–५० लाख व्यक्तियो की जीविका का केन्द्र बिन्दु होगी। इसके द्वारा आर्थिक विषमता तथा वर्ग और जाति के भेद समूल नष्ट होगे। ग्रामीण व्यक्तियों के लिए यह सेना प्रोत्साहन और प्रेरणा का कार्य करेगी। इस योजना से उत्पादन में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही व्यक्तियों के तकनीकी ज्ञान का विकास होगा। यह सेना देश को अधिक सशक्त और सुरक्षित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदाकर सकेगी। इस प्रकार डॉ॰ लोहिया ने अन्न–सेना एव भू–सेना को भारत के सर्वागीण विकास मे एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस योजना के पीछे डॉ॰ लोहिया का चिन्तन आत्म–निर्भरता की प्राप्ति था। वे देश के समस्त उत्पादन साधनों द्वारा आर्थिक विकास की क्रान्ति को तेज करने के लिए अत्यन्त सजग और

---

1 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ४०३

2 डॉ॰ लोहिया भाषा, बम्बई, जनवरी १६ सन् १९६४ ई.

प्रयत्नशील थे। वह विदेशी सहायता को उपयुक्त नहीं मानते थे। उनका कहना था **"विदेशी सहायता के प्रति मै बहुत आशकित हूँ।** मेरा निश्चित मत है कि विदेशी सहायता चाहे ब्रिटेन रूस अथवा अमेरिका से मिले केवल मशीन बनाने वाली बडी मशीनो के रूप मे मिलने वाली सहायता को छोडकर भ्रष्ट बेकार आलसी घूसखो' और खूनी प्रशासन को बढावा देती हैं।"[1]

डॉ॰ लोहिया की अन्न एव भू–सेना की योजना बहुत ही वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। इस योजना का कार्यान्वयन यदि न्याय–पूर्वक कर्मठता और ईमानदारी के साथ किया जाए तो असफलता की कहीं कोई कल्पना नहीं की जा सकती। यह सेना डॉ॰ लोहिया के मौलिक विचारों का सृजन है। उनकी इस योजना से स्पष्ट होता है कि उनमे आत्म–निर्भरता की भावना **कूट कूट कर भरी थी।**

(ख) अन्न वितरण का स्थायी हल

डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या का हल वैज्ञानिक प्रकृति से करना चाहते थे। अन्न समस्या अथवा भुखमरी की स्थिति को नियत्रित करने के लिए उन्होने कुछ प्रमुख कार्यक्रम दिए थे जिनमें **'घेरा ड़ालो आन्दोलन' 'अन्न बाँटों आन्दोलन'** प्रमुख हैं। 'घेरा ड़ालो आन्दोलन' मे भूखे लोग बड़ी सख्या मे सरकारी दफ्तरों, सरकारी गोदामो या अनाज के बड़े व्यापारियों की गोदामों को घेर लेते हैं। यह घेरा वे उस समय तक डाले रहते हैं, जब तक उन्हे अन्न अथवा जेल नहीं मिल जाती। इस आन्दोलन का उद्देश्य 'रोटी दो या जेल दो' ही है। डॉ॰ लोहिया के सयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ने इस प्रकार ५, घेरे बिहार के डाल्टनगज तथा उत्तर प्रदेश के बस्ती और देवरिया जिले में क्रमश जून, जुलाई और अगस्त सन् १९५८ ई॰ मे डाले जिसके परिणाम स्वरूप भूखे लोगों को राशन कार्ड बाँटे गये।[2] डॉ॰ लोहिया ने इस आन्दोलन की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए लिखा था **"घेरा डालो आन्दोलन चुने हुए लोगों का सत्याग्रह नहीं है, जो कानून तोड़कर जेल जायें। यह भोजन के लिए लोगों का व्यापक जन आन्दोलन है।"**[3]

दूसरे तरह का आन्दोलन **'अन्न बाँटों आन्दोलन'** है। इस प्रकार के आन्दोलन में लोग अनाज की गोदामों को घेर लेते हैं और उन पर शान्तिपूर्ण ढग से कब्जा करके अनाज तौलकर बाँट लेते हैं और उसकी लिखा–पढ़ी करके छोड़ जाते हैं कि उनके पास पैसा या अनाज होने पर वे सवा गुना

---

1 डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद १९६३, पृष्ठ – २०

2 डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या, पृष्ठ – १७

3 डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या, पृष्ठ – १४

वापस कर जायेगे। सीधी और सरगुजा मे इस प्रकार के आन्दोलन चलाये गए।[1] इसके पीछे लोहिया का मत था कि **भोजन लोगो का अधिकार है, और भूखे लोगो को भोजन पहुँचाना लूट नहीं कहा जा सकता**।[2] इन आन्दोलनो को वे पूर्णतया अहिसात्मक ढग से चलाने के पक्ष मे थे और तभी वे इन आन्दोलनो की सफलता मानते थे। इस सन्दर्भ मे उन्होने स्वय कहा कि "केवल अपनी ओर से कभी भी हिसा नही करनी चाहिए और न छोटे दूकानदारो और कच्चे आढतियो की गोदामों पर कब्जा करना चाहिए। कोशिश करके अनाज का हिसाब भी रखना चाहिए।"[3]

अन्न–सकट अथवा भुखमरी की परिस्थिति से मुक्ति पाने के लिए उपर्युक्त आन्दोलनो के अतिरिक्त डॉ॰ लोहिया ने **मुफ्त रसोई घरो का खोलना और अनाज के व्यक्तिगत व्यापार को समाप्त करना आवश्यक माना।** उनकी दृष्टि मे ये दोनो कार्यक्रम अकाल जैसी स्थिति मे अत्यावश्यक रूप से किये जाने चाहिए। इस प्रकार के रसोईघरो के कार्यक्रम की इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि भोजन की निःशुल्क प्राप्ति के कारण बहुत से व्यक्ति भोजन करने आ सकते हैं। इस आलोचना के लिए लोहिया मनोविज्ञान का सहारा लेते हुए कहते हैं, **"गरीब स्वाभिमानी होता है। जब तक वह लाचार नहीं हो जाता, हाथ फैलाने नहीं आता है।"**[4]

भुखमरी को बचाने के लिए डॉ॰ लोहिया ने अनाज के व्यक्तिगत व्यापार को समाप्त करने की भी सलाह दी थी, क्योकि व्यक्तिगत व्यापारी अनाज के व्यापार से अत्याधिक लाभ कमा कर भूखे को और भूखा बना देते हैं। डॉ॰ लोहिया का विचार था कि अनाज – व्यापार का समाजीकरण कर देने से अनाज की कीमतो मे उतार–चढ़ाव नहीं होगा। इससे उपभोक्ताओ की सुरक्षा होगी और अनाज की कीमत स्थायी होने से किसान को भी लाभ होगा जिससे कृषि का विकास होगा।

'घेरा डालो' और 'अन्न बाँटो' आन्दोलन तथा 'मुफ्त रसोईघर' और 'अनाज व्यापार की सामूहिक सस्था' आदि के कार्यक्रम **यह सिद्ध करते हैं कि उनकी आर्थिक नीति मानवतावादी थी और वे भूखों की समस्या को राजनीति से जोड़कर चलते थे। उनकी दृष्टि में जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति को भोजन से अलग रखो वे या तो अज्ञानी हैं, या बेईमान।** राजनीति का मतलब और पहला काम लोगों का पेट भरना है, जिस राजनीति में लोगों का पेट नहीं भरता वह राजनीति भ्रष्ट, पापी और

---

1 डॉ॰ लोहिया: अन्न समस्या, पृष्ठ – १४

2 डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या, पृष्ठ – १५

3 डॉ॰ लोहिया अन्न समस्या पृष्ठ – १५

4 डॉ॰ लोहिया: अन्न समस्या, पृष्ठ – २४

नीच है।[1] अपना देश जटिल समस्या से ग्रस्त है। अत यहाँ की राजनीति का प्रमुख उद्देश्य ही रोटी की समस्या का हल खोजना है।

४ ७ राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण

समाजवादी चिन्तन मे यह प्रश्न बहुत महत्व का है कि सम्पत्ति का स्वामी कौन हो व्यक्ति अथवा समाज और किस सीमा तक हो। आर्थिक व्यवस्था समाज की अन्य व्यवस्थाओ को बहुत हद तक प्रभावित करती है। अत सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व का तर्क देने वाले विचारक भी सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक हित मे चाहते हैं। सम्पत्ति पर समाज अथवा राष्ट्र के स्वामित्व का तो सीधा उद्देश्य ही समाज कल्याण है।

डॉ॰ लोहिया मानते थे कि सम्पत्ति से समाज का हित होना चाहिए और उसके लिए वे सम्पत्ति पर समाज का अधिकार उपयुक्त समझते थे। श्रम के शोषण पर आधारित उत्पादन के साधनों पर समाज या राष्ट्र का अधिकार होना ही समाज के हित मे है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोध में थे। वे व्यक्तिगत सम्पन्ति उसी सीमा तक रखने के पक्ष में थे जिससे उस परिवार का आसानी से जीवन यापन सभव हो सके उन्हीं के शब्दो मे "जिस किसी कारखाने या खेत मे इन्सान और उसका कुटुम्ब किसी दूसरे इन्सान को मजदूर रखे उसका राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है। केवल उतनी ही सम्पत्ति आदमी के पास रहनी चाहिए जो उसके लिए है या जिसकी पैदावार खुद अपने कुटुम्ब मे इस्तेमाल कर सके।"[2]

यद्यपि डॉ॰ लोहिया सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के पक्षपाती थे तथापि वे इसे ही पर्याप्त नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि मे सम्पत्ति मोह और सम्पत्ति की सस्था दोनो का उन्मूलन जरूरी था।[3] उनकी मान्यता थी कि सम्पत्ति के प्रति मोह–समाप्ति का भारतीय प्रयास और सम्पत्ति की सस्था का मार्क्सवादी प्रयास एकागी है। वे ऐसी व्यवस्था लाना चाहते थे जिसमें एक ओर तो सम्पत्ति के मोह का नाश हो और दूसरी ओर सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो।

---

[1] विशेष जानकारी के लिए देखे लोहिया समाजवाद की अर्थनीति, पृष्ठ – १३–१५

[2] डॉ॰ लोहिया भारत में समाजवाद राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६८, पृष्ठ – २२

[3] डॉ॰ लोहिया समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६९ पृष्ठ – १११

डॉ॰ लोहिया व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाजीकरण के लिए व्यक्ति को समाज या राज्य द्वारा क्षति पूर्ति करने की नीति से सहमत नहीं थे। उनका विचार था कि राज्य एक सप्रभुता सम्पन्न सस्था है, अतएव व्यक्ति के हित तथा सामाजिक कल्याण की निर्धारित नीतियो के अनुसार उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिग्रहण का अधिकार है। इसके अतिरिक्त उनकी धारणा थी कि क्षति पूर्ति के आधार पर किसी राज्य को उत्पादन के समस्त साधनो का समाजीकरण करना असभव होगा। परन्तु उन्होने पुनर्निवास क्षतिपूर्ति की नीति का प्रतिपादन सामान्य क्षतिपूर्ति नीति के विकल्प के रूप मे किया। इस नीति के अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाजीकरण के कारण अगर कोई व्यक्ति अपनी आजीविका के साधन से वचित होता है तो उसके लिए व्यवसाय या धन–अनुदान की व्यवस्था की जानी चाहिए।

डा॰ लोहिया की व्यक्तिगत सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण की नीति निश्चित रूप से एक समाजीकृत की नीति है। वह समाज की सम्पत्ति का स्वामित्व केन्द्रीकृत राज्य को सौंपने के पक्ष में कदापि नहीं थे। उनका स्पष्ट मत था कि "सरकार के हाथ मे राजकीय शक्ति भी दोगे और उसके साथ–साथ इतनी बडी आर्थिक शक्ति दोगे तो वह राक्षसी जरूर बनेगा।"[1] इसलिए उन्होने सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व के विकेन्द्रीकरण का प्रबल समर्थन किया। लोहिया सरकारी पूँजीवाद को व्यक्तिगत पूँजीवाद से अत्यधिक भयानक मानते थे।[2] अतएव उन्होने उत्पादन के साधनो के सामाजिक स्वामित्व को केन्द्र से नीचे की विभिन्न राजकीय इकाइयो मे विकेन्द्रित करने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्हीं के शब्दो मे "सघ से लेकर गॉव तक राज्य की विभिन्न सरचनाओ के विभिन्न स्तरों पर सामाजिक स्वामित्व का अधिकार होगा।"[3]

डॉ॰ लोहिया राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे थे किन्तु राष्ट्रीयकृत उद्योगों के कुप्रबन्ध, उत्साहहीनता, अक्षमता और अपव्यय के प्रति वे सजग थे। उनका कहना था कि श्रमिको मे उत्साह और श्रम क्षमता को बनाये रखने के लिए लाभ का उचित भाग उनको दिया जाना चाहिए। फिजूल खर्ची और विलासिता को समाप्त कर उद्योगो को सुदृढ करना चाहिए। वे कहा करते थे "खाली राष्ट्रीयकरण करने से काम नहीं चलता। सम्पत्ति को सामाजिक बना देने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि उस सामाजिक सम्पत्ति पर किस तरह का नियन्त्रण है, कौन लोग हैं, कैसे उसकी आमदनी का बँटवारा करते हैं, जो उसमें से साल भर में माल निकालता है उसको किस तरह से बाँटते हैं, इस पर बहुत कुछ निर्भर करेगा।"[4]

---

1 डॉ॰ लोहिया क्रान्तिकरण, नव हिन्द प्रकाशन, बेगम बाजार, हैदराबाद, १९७३ पृष्ठ – १३

2 डॉ॰ लोहिया भारत में समाजवाद, पृष्ठ – ११

3 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी और सोशलिज्म पृष्ठ – ४८०

4 डॉ॰ लोहिया समाजवाद की अर्थनीति पृष्ठ – १३

इस प्रकार लोहिया ने राष्ट्रीयकृत उद्योगो की सुव्यवस्था कठिन नियन्त्रण आय का उचित वितरण प्रबन्धका के सरल जीवन आदि पर बल देकर राष्ट्रीयकरण की सार्थकता प्रमाणित की है। इसके अतिरिक्त उन्होने राष्ट्रीयकरण के सबसे बडे दोष केन्द्रीयकरण को समाप्त कर इसकी एक बहुत बडी बुराई दूर कर दी है। वास्तव मे उपर्युक्त तत्वो के बिना राष्ट्रीयकरण एक धोखा और कपट के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नौकरशाही फिजूलखर्ची कुप्रबन्ध उदासीनता आदि की उपस्थिति मे राष्ट्रीकृत उद्योग लाभ के स्थान मे निश्चयात्मक रूप से हानि पर हानि उठाते हैं। वैसे राष्ट्रीयकरण के सभी प्रतिपादक अपनी नीति मे उपर्युक्त गुण का समावेश और दुर्गुणो का निष्कासन रखते हैं, किन्तु देखना यह होता है कि क्या नीति का यथोचित कार्यान्वयन हो रहा है।

४ ८ खर्च पर सीमा [1]

डॉ॰ लोहिया इस सिद्धान्त को राष्ट्रीय सम्पन्नता का अग मानते थे। उनकी दृष्टि मे व्यय की सीमा रेखा होनी चाहिए। वे असमान खपत को समाज की प्रगति को रोकने का कारण मानते थे। विलासी जीवन तथा उसके लिए किये गये श्रम को भी वे प्रगति विमुख कार्य मानते थे। उससे उत्पादन मे न तो वृद्धि होती है और न सामाजिक जीवन मे सुधार ही हो पाता है। त्याग व कर्त्तव्य की ओर नागरिको का ध्यान आकृष्ट करते हुए विलासिता की अन्धी ऑधी से समाज को बचाना चाहते थे। उनकी स्पष्ट घोषणा थी 'चीजो को बढाओ या जरूरतो को कम करो।'[2]

डॉ॰ लोहिया की धारणा थी कि भारत जैसे विकासशील राष्ट्र मे आने वाले बीस या तीस वर्षो मे किसी भी व्यक्ति को विलासिता पर व्यय करने का अवसर उपलब्ध नहीं होना चाहिए और इस प्रकार का नियत्रण तब तक रहना चाहिए जब तक राष्ट्र सम्पन्नता को प्राप्त न कर ले। उनका स्पष्ट मत था कि **'व्यक्ति की निजी आमदनी और निजी खर्च घटाया जाए'**।[3] वास्तव में लोहिया व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत व्यय को एक साथ नियत्रित करना आवश्यक मानते थे। सम्पत्ति के समाजीकरण तथा व्यय के नियत्रण से सम्पत्ति की सस्था एव सम्पत्ति का मोह दोनों एक साथ समाप्त किए जा सकते हैं। पूँजीपतियों की शक्ति को समाप्त करने के लिए डॉ॰ लोहिया ने उनकी

---

[1] डॉ॰ लोहिया क्रान्तिकरण, पृष्ठ – १२

[2] विशेष जानकारी हेतु देखिए लोहिया खर्च पर सीमा प्रस्ताव और बहस, यूनाइटेड कमर्शियल प्रेस लि॰। राजा गुरूदास स्ट्रीट, कलकत्ता–६, १९६७

[3] डॉ॰ लोहिया वही – पृष्ठ – ३६

सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया तथा इसके साथ ही उन्होने नौकरशाहो के व्यय भत्तो तथा अन्य सुविधाओ को सीमित करना आवश्यक बताया। उनका विचार था कि "आज की दुनिया ऐसी हो गयी है कि सिर्फ हिन्दुस्तान मे ही नहीं पूरी दुनिया मे सम्पत्ति को बिना बढाए हुए, सम्पत्ति को बिना इकटठा किये हुए भी एक आदमी अगर सरकारी ताकत पर पहुँच जाता है तो निजी खर्चे के मामले मे वह बडे–बडे करोडपतियो और अरबपतियो से भी ज्यादा खर्च कर सकता है।"[1] वह पूँजीपतियो, राजनीतिक नेताओ एव प्रशासनिक अधिकारियो की आय को व्यय द्वारा तथा व्यय को आय द्वारा सीमित करना चाहते थे।

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया विलासितागामी वर्ग व सरकार के पक्ष को सामान्य धरातल पर लाना चाहते थे उनका कहना था कि 'सरकार जनता के धन से चलती है उसे फिजूलखर्ची व विलासिता की जीवन' व्यवस्था अपनाने का कोई हक नहीं है, और जो सरकार ऐसा करती है, वह जन–विरोधी है चाहे वह जनता की ही क्यो न हो। उनकी धारणा थी कि भारत के पूँजीपति, राजनीतिक नेता एव प्रशासनिक अधिकारियो के व्यय पर नियत्रण स्थापित करने से जो रूपया बचता है उसको पूँजी के रूप मे कृषि की सिचाई तथा उत्पादन की वृद्धि के लिए निवेशित किया जाना चाहिए। इस उत्पादन की वृद्धि से राष्ट्र सम्पन्न होगा और न्यूनतम आय और औसत आय का स्तर ऊँचा होगा।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर लोहिया ने खर्च पर सीमा का सशक्त प्रतिपादन किया। जून सन् १९६७ ई॰ मे उन्होने 'खर्च पर सीमा' नामक प्रसिद्ध प्रस्ताव रखा जिसमे उन्होने १५०० रू॰ मासिक व्यय की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए लोक सभा को आगाह किया। उन्होंने यह सीमा केवल कुछ वर्षो तक चाही थी, क्योकि उनके कार्यक्रमो द्वारा उस समय तक भारत की स्थिति सुदृढ़ हो जाएगी। यह सीमा स्पष्ट कानून द्वारा, आयकर द्वारा अथवा किसी अन्य उपाय द्वारा बाँधी जा सकती है। डॉ॰ लोहिया के मतानुसार खर्च पर सीमा बाँधने से लगभग १५ अरब रूपया वार्षिक बच सकता था। उनका कहना था कि आज के भारत को जितनी चिन्ता नीचे के नौकरों के बोनस बढ़ाने की होनी चाहिए, उससे ज्यादा चिन्ता ऊपर वालों के खर्च और सुविधाएँ घटाने की होनी चाहिए।

[1] डॉ॰ लोहिया क्रान्तिकरण, पृष्ठ – ३६
डॉ॰ लोहिया खर्च पर सीमा प्रस्ताव और बहस, शकलाकार स्ट्रीट कलकत्ता–७, १९६७

डॉ॰ लोहिया ने खर्च पर सीमा के प्रस्ताव का निम्नलिखित आधारो पर प्रतिपादन किया –

(१) डॉ॰ लोहिया ने खर्च पर सीमा का समर्थन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। उनकी दृष्टि मे मत्री सरकारी पदाधिकारी पूँजीपति आदि ही विलासी जीवन व्यतीत करने और आर्थिक विषमता फैलाने के कारण है। वे स्वय कहते हैं 'जब बडे मत्रियो के घर मे नमक दाल हल्दी के दामो की फिक्र होने लग जायेगी तब जाकर चीजो के दाम गिरेगे उससे पहले गिरने वाले नहीं है तो पहले बड़े लोगो के खर्च गिराओ।'[1]

(२) लोहिया का मत था कि खर्च पर सीमा से तीन आने प्रतिदिन पर जीवन यापन करने वालो के साथ न्याय हो सकेगा जिससे उनकी कार्य क्षमता मे वृद्धि होगी और परिणाम स्वरूप राष्ट्र के विकास मे भी वृद्धि होगी।

(३) उन्होने कहा कि अधिकाश सरकारी कर्मचारी अनावश्यक अनुत्पादक कार्यों में लगे हैं। इन पर होने वाला व्यय फिजूलखर्ची है। ये कर्मचारी मत्रियो और बडे सरकारी नौकरों की सुविधाओ के स्रोत होने के कारण उनके खर्च मे सम्मिलित हैं जिनका निष्कासन खर्च पर सीमा से अनिवार्यत हो जायेगा। उन्हे अन्य उत्पादन कार्यों में लगाकर देश का नव निर्माण किया जा सकता है।

(४) लोहिया ये मानते थे कि सम्पूर्ण कृषि–सिचाई की व्यवस्था करने के लिए ४० अरब से एक खरब रूपये तक की आवश्यकता होगी जिसकी पूर्ती अभाव की साझेदारी अथवा खर्च पर सीमा' के द्वारा की जा सकती है।

(५) उनका विचार था कि खर्च पर सीमा से पूँजी का निर्माण होगा, परिणाम स्वरूप विदेशी सहायता से देश को मुक्ति मिलेगी और देश आत्मनिर्भर हो सकेगा। बहुत से धनिकों के पास करोडो रूपये, बहुत सा सोना चाँदी, हीरा आदि जमा है इनका उपयोग पूँजी की तरह हो सकेगा क्योकि खर्च पर सीमा द्वारा कोई व्यक्ति अनावश्यक माल जमा न कर सकेगा।

सक्षेप मे डॉ. लोहिया का आर्थिक चिन्तन मानवतावादी धरातल पर आधारित है। उनका समाजवाद मार्क्सीय आधार पर ही नहीं खड़ा है अपितु उसमें व्यक्ति व समाज दोनों की समन्वित चेष्टाएँ उभारने का यत्न किया गया है, जिसमें सम्पत्ति पर न समाज का ही अधिकार रह पाता है और न व्यक्ति का क्योंकि दोनों का एकाधिकार समाज के लिए कष्टदायक कभी भी सिद्ध हो सकता है। वे जनतन्त्रात्मक प्रक्रिया में भूखे व विलासी दोनों अति–स्थितियों को एक समान्य धरातल देना चाहते थे, वस्तुत वे गाँधीवादी चिन्तन व मार्क्सीय चिन्तन के मध्य एक रास्ता निकालते हैं, जो न

1. डॉ. लोहिया खर्च पर सीमा (प्रस्ताव और बहस), पृष्ठ – २

पूँजीवादी है और न एकदम समाजीकृत है। उसमे वैज्ञानिक क्रान्तियो का सहयोग है परन्तु वैज्ञानिकता की चपेट मे वे व्यक्ति मे रूझानु की प्रवृत्ति बढते नहीं देखना चाहते। विज्ञान व्यक्ति को तोड़ने के लिए नहीं उसकी सहायता के लिए है। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए उनके उपर्युक्त आर्थिक चिन्तन पर विचार किया जाए तो निष्कर्ष यही निकलता है कि मानव को मानव बनाये रखने के पक्ष मे भोग और योग के मध्यम मार्ग की अनुमति देना चाहते थे।

२ ५ डॉ॰ राम मनोहर लोहिया के राजनीतिक विचार

समाजवादी चिन्तन मे आर्थि५, तत्व सर्वाधिक प्रभावशाली होता है पर डॉ॰ लोहिया के समाजवादी दर्शन मे सामाजिक सास्कृतिक एव राजनीतिक तत्व अपना महत्वपूर्ण स्थान ही नहीं रखते हैं वरन् एक दूसरे से जुडे हुए हैं।[1] समाजवाद एक जीवन दर्शन है और जीवन मे इन सभी तत्वों का यथोचित स्थान है। अनार्थिक तत्वो मे राजनैतिक तत्व सर्वाधिक महत्व का है। इसके अनुसार ही राज्य का आर्थिक सामाजिक एव सास्कृतिक ढाँचा निर्धारित होता है। भिन्न राजनैतिक व्यवस्थाओ मे नागरिको एव राज्यो के सम्बन्ध भिन्न प्रकार के होते है। अत राजनैतिक व्यवस्था कैसी हो, यह प्रश्न समाजवादी चिन्तन मे बहुत महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न ही यह निश्चित करता है कि समाजवादी दर्शन व्यक्ति को कहॉ तक स्वतत्र व्यक्तित्व प्रदान करता है।

डॉ॰ लोहिया एक ऐसे समाज का निर्माण चाहते थे जो वर्ग–विहीन एव वर्ण–विहीन हो। जाति व्यवस्था के तो वह कट्टर विरोधी थे। उन्होने व्यक्ति के सास्कृतिक उत्थान को भी आवश्यक बताया। उनके अनुसार, व्यक्ति और समाज परस्पर आश्रित होते हैं। व्यक्ति का उन्नयन सास्कृतिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है। डॉ॰ लोहिया का राजनीतिक चिन्तन बडा ही व्यापक है जिसमें व्यक्ति और समाज से सबधित सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। उनका राजनीतिक चिन्तन उनके समाजवादी दर्शन से ही उद्भूत हुआ है। उनके राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख तत्व हैं – राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या, धर्म और राजनीति का सम्बन्ध राज्य सबधी विचार, जन शक्ति का महत्व, सविनय अवज्ञा (सिविल नाफरमानी), वाणी स्वतन्त्रता एव कर्म नियत्रण मौलिक अधिकार एव अन्तर्राष्ट्रीय सबधी विचार। इन्हीं का यहाँ विवेचन प्रस्तुत है

५.१ *राजनैतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या :*

डॉ॰ लोहिया के अनुसार राजनीतिक एव सांस्कृतिक इतिहास को गतिशील बनाने वाले तीन प्रमुख कारक है – (१) विभिन्न राष्ट्रों के उत्थान एवं पतन का क्रम चलता रहता है और इससे धन

---

[1] लोहिया विल टू पावर, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९५६, पृष्ठ – ८०
डॉ॰ वी॰ पी॰ वर्मा – माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट – पृष्ठ – ४३०
डॉ॰ शोभा शंकर – आधुनिक भारतीय समाजवादी चिन्तन, पृष्ठ – १८४

सपदा एव आर्थिक सरचना के स्वरूप मे परिवर्तन होता रहता है। (२) देश के अन्दर वर्ग–वर्ण का झूला झूलता रहता है, और (३) सभी राष्ट्रो मे शारीरिक और सास्कृतिक आदान–प्रदान भी होता है। इतिहास को गति देने वाले उपर्युक्त तीनो सिद्धान्त एक दूसरे से जुडे हुए हैं क्योकि एक दूसरे के लिए वे कार्य–कारण का कार्य करते हैं।

डॉ॰ लोहिया का **इतिहास के चक्र-सिद्धान्त मे विश्वास था।** उनके अनुसार इतिहास अबाध रूप से चक्रवत् गतिशील रहता है। उनकी मान्यता थी कि "विश्व के इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक युगो मे बॉटना, उनमे एक अबाध या एक–एक कर हुआ उत्थान बताना एक सास्कृतिक बर्बरता है जो किसी प्रकार भी दिलचस्प नहीं है।"[1] वैसे यह देखा जाता है कि समस्त सभ्यताओ मे भाषा तथा आचरण और जीवन के ढग एव उद्देश्य बुनियादी तौर पर एक ही ढग से विकसित एव परिपक्व होते हैं, पर उनमे अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक कारणो से ऐसे बदलाव आते हैं, जिनसे उनके उत्थान–पतन की स्थितियॉ भिन्न हो जाती हैं। डॉ॰ लोहिया का विचार था कि ऐतिहासिक समूहो के बारे मे और मानव सभ्यता तथा उसके साम्कृतिक क्रमो के लिए, यदि यह सच है कि **"जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य"**, तो यह भी उतना ही सच है कि **"जो मरता है वह फिर पैदा होगा।"**[2] अत यह कहना उचित ही है कि राष्ट्रों और सभ्यताओं का उत्थान–पतन सदा होता रहता है जैसा कि हमे भारत मे गुप्त साम्राज्य, रोमन साम्राज्य, ब्रिटिश साम्राज्य आदि के उत्थान–पतन से ज्ञात होता है।

राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या से डॉ॰ लोहिया का तात्पर्य यह था कि इतिहास चक्र मे सभी देशो का समान रूप मे उत्थान–पतन होता है, चाहे कोई भी देश कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो। कोई देश हमेशा के लिए न तो वैभव, शक्ति और धनवान होता है और न हमेशा के लिए उनसे रहित। भारत, रोम चीन और अरब देश उच्चतम श्रेणी में रह चुके हैं, पर उनका भी पतन हुआ और पश्चिम योरोप ने शिखर स्थान को प्राप्त किया और यह महाद्वीपों में श्रेष्ठ गिना जाने लगा। इसलिए डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि **"शक्ति और समृद्धि हर युग में बराबर एक क्षेत्र से दूसरे में बदलती रही है। कोई भी सदा इतिहास की उच्चतम चोटी पर नहीं बैठा रहा। . अब तक का समस्त मानव इतिहास वर्ग और वर्ण के आन्तरिक बदलाव और शक्ति तथा समृद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे में वाह्य परिवर्तन का इतिहास रहा है।"**[3]

---

[1] डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र, पृष्ठ – १७

[2] डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र, पृष्ठ – १७

[3] डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र, पृष्ठ – ४६

(क) वर्ग और वर्ण का झूला

डॉ॰ लोहिया की राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या मे वर्ग और वर्ण का झूला भी झूलता रहता है। उन्होने यह माना कि ये दोनो ही वर्ग तथा वर्ण सभी समाजो की विशेषताएँ हैं जो सभी जगह मिलती हैं। उन्होने कहा कि "जन्मजात वर्गीकरण या धर्म द्वारा उसकी मान्यता वर्णो का आवश्यक गुण नहीं है। वर्ग से वर्ण की मित्रता उस स्थिरता से होती है जो वर्ग – सबधो में आ जाती है, कोई व्यक्ति अपने से ऊँचे वर्ग मे नहीं जा सकता और कोई भी वर्ण अपनी सामाजिक स्थिति और आमदनी मे ऊपर नहीं उठ सकता।" अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं। हर समाज या सभ्यता मे वर्ग से वर्ण और वर्ण से वर्ग का बदलाव हुआ है। यही बदलाव लगभग सभी आन्तरिक घटनाओ की जड़ मे होता है। यह करीब–करीब हमेशा ही न्याय और बराबरी की माँगो से प्रेरित होता है।[1] डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे न्याय, समानता आदि की माँगे शून्य से उत्पन्न होकर, वर्ग व वर्ण–सघर्ष के परिणाम हैं।

डॉ॰ लोहिया के अनुसार भारत मे भी वर्ग एव वर्ण के बीच बदलाव, उतार–चढ़ाव की कथा अनवरत चलती रही। इसकी सबसे बडी विशेषता यह रही कि "आन्तरिक वर्ण–निर्माण और वाह्य अध पतन साथ–साथ चलता है, चाहे दो ो के बीच काल का जो भी अन्तर रहे। पूरे समाज का बढ़ता कौशल निश्चित रूप से विभिन्न वर्गो के भीतरी हरकत व उतार–चढाव के साथ जुड़ा हुआ है।"[2] उन्होने माना कि देश–काल की परिस्थिति के अनुसार वर्ग और वर्ण दोनो अपने स्वरूप एव उद्देश्य मे भिन्न होते हैं। विभिन्न देशो के वर्ण–निर्माण मे भी अन्तर होता है। भारत मे वर्ण–व्यवस्था का आधार प्रारम्भ मे गुण–कर्म था और कालान्तर मे इसका आधार जन्म हो गया। "भारत इतने समय तक वर्ण–व्यवस्था के फलस्वरूप तन्द्रा और सड़न की स्थिति में रहा कि उसकी नई प्राप्त शक्ति वर्णो को ढीला करके वर्गो में बदल रही है और आन्तरिक असमानता को समाप्त करने का सघर्ष प्रारम्भ हो गया है।"[3] लेकिन डॉ॰ लोहिया ने यह आशा व्यक्त की कि एक अन्य प्रकार की वर्ण–व्यवस्था पैदा हो सकती है जिसमे राजनीतिक दल, प्रबधंक वर्ग और स्वतत्र–पेशा वर्ग सभी अपने उच्चतम स्थानों पर स्थिर हो जाएँ और बाकी बची आबादी निम्न स्तर के द्विज वर्णो में बँट जाये। नये वर्णो का निर्माण तो सदैव चलता रहता है। इस प्रकार डॉ॰ लोहिया का निष्कर्ष यह है "अब तक का समस्त मानवीय

---

1 डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र, पृष्ठ – ३७

2 डॉ॰ लोहिया वही, पृष्ठ – ४१

3 डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र पृष्ठ – ४८

इतिहास वर्गो और वर्णों के बीच आन्तरिक बदलाव वर्गों की जकड से वर्ण बनाने और वर्णों के ढीले पडने से वर्ग बनने का ही इतिहास रहा है।"[1]

(ख) शारीरिक और सास्कृतिक मिलन

डॉ॰ लोहिया के चक्र–सिद्धान्त के अनुसार सभी राष्ट्र कभी न कभी उच्चतम चोटी पर बैठते हैं और उन्नत दिनो मे अपनी सस्कृति का विकास और प्रसार करते हैं। इस क्रम के साथ मनुष्य जाति का पारस्परिक सास्कृतिक और शारीरिक सम्बन्ध होता है। सभी ऐतिहासिक कालों में मनुष्य ने पद्धति, भाषा, व्यवहार की वस्तुओ, उत्पादन के तरीको विचारो, धर्मो मे एक दूसरे की समीपता का प्रयत्न किया है।[2] अपने युग मे ढाका का मलमल विश्व मे उतनी ही दूर तक फैला जैसा आज अमरीका का नाइलॉन। ग्रीक, सस्कृत अथवा अरबी सभी भाषाएँ समय–समय पर फैली। इस्लाम, हिन्दु, इसाई आदि धर्मो के अपने–अपने समय रहे हैं। इस प्रकार तमाम सस्कृतियॉं अपने पश्चिम मे या अपने पूर्व में और दूसरी दिशाओ मे फैली हैं, अगणित लोगो को अधीनस्थ किया है लेकिन सम्पूर्ण ससार को कभी नहीं। अब तक शारीरिक और सास्कृतिक समीपता की यह प्रक्रिया एक सीमा तक ही सभव रही है और इसमे कभी–कभी बिखराव भी आये हैं। डॉ॰ लोहिया अब इस सीमा और बिखराव को समाप्त कर सम्पूर्ण मानवता की सर्वांगीण समीपता लाना चाहते हैं। उनके ही शब्दो मे, "लेकिन अब समय आ गया है कि स्वेच्छित समीपता आये जिसमे एक समूह को दूसरे की पराधीनता न स्वीकारनी पड़े और जिसके द्वारा ससार के सभी लोग समझदारी से नियोजित करके मानव जाति की एक बहुरगी मिलावट निमित्त करने में सफलता प्राप्त करे।"[3]

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया ने आशा व्यक्त की कि आज विश्व में ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य वर्णो की जड़ विषमता, वर्गो की लचीली विषमता और दोनो ही स्थितियों में निहित अन्याय और शोषण, क्षेत्रीयता और हिंसा के चक्र को तोड़कर एक सम्पूर्ण कौशल और बहुरगी मिलन की शोषण रहित विश्व सभ्यता का निर्माण कर सकता है, जो राष्ट्रों के वाह्य सघर्ष से मुक्त हो, जिसमें मनुष्य स्वतन्त्र, समृद्ध और मन से सुखी हो, और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सके। इस हेतु उन्होंने अपेक्षा की कि विश्व मानव जाति के बिखराव के क्रमों को भुला दे और पुनः संगठन के क्रमों

---

1 डॉ॰ लोहिया वही वही

2 डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र पृष्ठ – ६५

3 डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र पृष्ठ – ६८

पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। इसके लिए मानव की समझदारी और इतिहास की तृतीय चालक शक्ति उनकी दृष्टि मे अधिक सहयोगी सिद्ध होगी।

५ २ धर्म और राजनीति का सम्बन्ध

राज्य तथा धर्म को एक कडी मे जोडने का प्रयास प्रारम्भिक काल से ही हुआ है। प्राचीन काल मे राज्य को एक धार्मिक सस्था माना जाता था। प्लेटो और अरस्तू ने राज्य को नैतिकता से सम्बद्ध किया था। यहूदी राज्य के औचित्य को धार्मिक आधार पर ही सिद्ध किया गया था। रोमन राज्य की उत्पत्ति तथा अस्तित्व का आधार धर्म ही था। सर्वप्रथम मैकियावली पहला चिन्तक था जिसने धर्म को राजनीति से अलग किया। मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली बताकर राजनीति से पूर्णत विलग किया। परन्तु कान्ट, हीगल, बोसाके ग्रीन आदि आदर्शवादी विचारको ने राज्य को धर्म और नैतिकता से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया। सक्षेप मे धर्म और नैतिकता मे क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न बहुत ही मनोरजक और महत्वपूर्ण है। अब हम डॉ॰ लोहिया के धर्म ओर राजनीति सम्बन्धी विचारों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत करेगे

(१) ईश्वर सम्बन्धी विचार, (२) धर्म की मीमासा, (३) धर्म निरपेक्ष राज्य, (४) धर्म और राजनीति का सम्बन्ध।

[1] ईश्वर सम्बन्धी विचार

डॉ॰ लोहिया ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि मन्दिर एक ढकोसला है और उसमें विराजमान मूर्ति भी नकली है। उनकी दृष्टि में, ईश्वर ने मनुष्य को नहीं, अपितु मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है और उसे एक प्रतीक के रूप में खड़ा कर दिया है।[1] प्राय विनोद मे वह कहा करते थे कि न तो मैंने कभी ईश्वर को देखा है और न मुझे कभी उसकी आवश्यकता पड़ी। लोगों के ये कहने पर कि अभी नहीं तो वृद्धावस्था में जब शरीर शिथिल होगा तब उसकी आवश्यकता होगी, वे कहते, "अगर परमात्मा है तो सुख में भी उतना ही सक्रिय और जोरदार होना चाहिए जितना दुख में। जो सुख में नहीं आ रहा है और दुख में आयेगा तो मेरे जैसा आदमी कह देगा, इसमें क्या बड़ी भारी बात है, कमजोर हो गया तब मेरे दिमाग में घुसा।"[2]

---

1 डॉ॰ लोहिया भारत में समाजवाद, समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९६८ पृष्ठ – २८

2 डॉ॰ लोहिया धर्म पर एक दृष्टि नवहिन्द प्रकाशन बेगम बाजार, हैदराबाद १९६६ पृष्ठ – ७

यद्यपि लोहिया ईश्वर को नहीं मानते थे पर ब्रह्मज्ञान और अद्वैत जैसे नामो को उन्होने अपने ही ढग से स्वीकार किया। सब मे अपने पन की प्रतीति ही उनका ब्रह्मज्ञान और ससार की एकता एव समता ही उनका अद्वैतवाद था।[1] प्रत्येक कर्म मे निष्ठा और ईमानदारी बरतना डॉ. लोहिया का कर्मकाण्ड था। तीर्थों को साफ–सुथरा रखना नदियो के जल की शुद्ता अपने को साफ–सुथरा और निष्कपट रखना ही उनकी दृष्टि मे तीर्थ–यात्रा थी।

[ii] धर्म की मीमासा

महात्मा गॉधी के समान लोहिया ने धर्म को दरिद्रनारायण की रोटी मे पाया। उनके अनुसार गिरे हुए को उठाना, प्यासे को पानी देना, भूखे को रोटी और गृहहीन को निवास स्थान देना ही सच्चा धर्म है। विभिन्न 'मजहबो को उन्होने धर्म नहीं माना, क्योकि इन्होने लोगो को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि मे बॉट दिया है। इनसे ऊपर उठकर अपनी दृष्टि को व्यापक बनाना चाहिए और निर्भय होकर मानव धर्म के सच्चे उपासक बनाना चाहिए।[2] डॉ. लोहिया की दृष्टि मे धर्म नैतिक गुणों का पर्यायवाची होना चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं। इसी अर्थ मे वह केवल मानव धर्मानुयायी थे। उनके मतानुसार धर्म आन्तरिक और सूक्ष्म है न कि वाह्य और स्थूल। इसलिए रगो, रूढियों, रीति–रिवाजों, आचारो, व्यवहारो आदि की वाह्य भिन्नता के कारण द्वेष, मन–मुटाव, घृणा और सघर्ष के भाव लाना उचित नहीं है।

यद्यपि लोहिया आत्मा–परमात्मा के झगडे मे नहीं पड़े, तथापि राम, कृष्ण और शिव के व्यक्तित्व उनके लिए आकर्षण के केन्द्र थे।[3] इन तीनों व्यक्तित्वो की ऐतिहासिकता पर उन्हें सन्देह था, लेकिन उनके आदर्शों और सिद्धान्तों पर नहीं। नीति, धर्म और व्यवहार के नियमो मे बँधे होने के कारण राम को उन्होने मर्यादित व्यक्तित्व बतलाया। कृष्ण समयानुसार प्रत्येक क्षेत्र में चोरी, धोखा, झूठ से भी कार्य निकालने मे न हिचके, यद्यपि ये चाले उन्होने भय, क्रोध, राग से परे होकर चली। प्रेम और युद्ध सभी क्षेत्रों मे वे बन्धन मुक्त थे। इसलिए लोहिया ने कृष्ण को उन्मुक्त व्यक्तित्व बतलाया। डॉ. लोहिया को शिव में सर्वाधिक श्रद्धा थी। उन्होंने शिव को असीमित व्यक्तित्व की सज्ञां दी और स्पष्ट किया कि शिव की असीमितता के कारण ही ब्रह्मा–विष्णु उनके सिर और पैर का पता चलाने में

---

1 डॉ. लोहिया धर्म पर एक दृष्टि पृष्ठ – ६

2 डॉ. लोहिया धर्म पर एक दृष्टि, पृष्ठ – ४

3 देखिए लोहिया राम, कृष्ण और शिव राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, १६७१

असमर्थ रहे। शिव के प्रत्येक कार्य का औचित्य सदैव उनके कृत्य मे ही रहा। स्वय विष पीने वाले और दूसरो को अमृत देने वाले वहीं हैं। गगा को निकाल कर सम्पूर्ण देश का कल्याण करने वाले त्यागी इन्जीनियर भी वही हैं। इस प्रकार लोहिया ने राम को मर्यादित कृष्ण को उन्मुक्त और शिव को असीमित व्यक्तित्व माना और भारत माता से प्रार्थना की **"हे भारत माता हमे शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कार्य दो। हमे असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।"**[1]

डॉ॰ लोहिया के ईश्वर और धर्म सबधी विचारो का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोहिया कहते तो अपने आपको नास्तिक थे, किन्तु वास्तव मे वे आस्तिक थे। उन्होने आस्तिको को झूठे कर्म–काण्ड सकुचित ब्रह्मज्ञान और कृत्रिम एकत्ववाद से छुटकारा पाने के लिए आह्वान किया। उनकी उपर्युक्त राम कृष्ण और शिव की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि उनको राम कृष्ण और शिव आदि की झूठी उपासना पसन्द न थी। उनकी उत्कण्ठा थी कि लोग राम, कृष्ण और शिव के आदर्शों को अपने जीवन मे वैज्ञानिक ढग से ढाले।

[iii] धर्म-निरपेक्ष राज्य

डॉ॰ लोहिया, अपने तात्विक एव धर्म सबधी विचारो के अनुकूल धर्म–निरपेक्ष राज्य के समर्थक थे। वह इस बात से सहमत थे कि धर्म–निरपेक्ष राज्य न धार्मिक होता है, न अधार्मिक और न धर्म का विरोधी। उन्होने धार्मिक मामलो मे निष्पक्षता और नागरिको की धर्म–प्रचार विश्वास, पूजा आदि संबधी स्वतत्रता पर बल देते हुए कहा था कि "राजनीति एक आश्वासन जरूर दे कि वह आस्तिकता अथवा नास्तिकता के प्रचार में दण्ड का इस्तेमाल नहीं करेगी।"[2] डॉ॰ लोहिया ने मुस्लिम धर्म के नाम पर भारत–विभाजन का कड़ा विरोध किया था, क्योंकि वह धर्म–निरपेक्ष राज्य की स्थापना के प्रबल समर्थक थे। भारत और पाकिस्तान दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। निश्चय ही, लोहिया मजहबों की लड़ाई और राजनीति से सहमत नहीं थे, क्योंकि इनसे साम्प्रदायिकता जैसी सामाजिक विषमता फैलती है और राजनीतिक कटुता पैदा होती है, जिनसे देश की प्रजातात्रिक व्यवस्था का ह्रास होता है।

---

[1] डॉ॰ लोहिया राम, कृष्ण और शिव, पृष्ठ – २०

[2] डॉ॰ लोहिया मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६२, पृष्ठ – ४६

[iv] धर्म और राजनीति का सम्बन्ध

डॉ॰ लोहिया की दृष्टि से, धर्म मुख्यत चार कार्य करता है **प्रथम** यह भिन्न धर्मो के बीच झगडे और कभी–कभी रक्त–रजित झगडे उत्पन्न करता है। **द्वितीय** वह अपने–अपने धर्मानुसार प्रतिष्ठित सम्पत्ति जाति तथा नारी सबधी व्यवस्थाओ को यथावत् बनाये रखता है, फलत शोषण एव विषमता को स्थायित्व मिलता है। **तृतीय** धर्म अच्छे व्यवहार के लिए नैतिक एव सामाजिक प्रशिक्षण देता है। **चतुर्थ**, अहिंसा, सत्य, दयालुता न्याय, त्याग आदि के अभ्यास के द्वारा व्यक्ति को सयत और अनुशासित करने मे वह महत्वपूर्ण योगदान देता है। डॉ॰ लोहिया ने धर्म के प्रथम दो कार्यो को हेय एव त्याज्य बताया क्योकि उनसे राजनीतिक कटुता धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता जैसी बाते बढती हैं और अन्तिम दो धर्म के काम मानवता के लिए अच्छे हैं। ये अत्याधिक लाभकारी हैं।[1] डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे धर्म के इन दो प्रकार के कार्यो को राजनीति से जोडा जाना चाहिए।

डॉ॰ लोहिया का मत था कि कोई समाजवादी, चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, धर्म के इस पक्ष को अवश्य अपनायेगा। केवल उसी धर्म को राजनीति से जोडा जा सकता है जो मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे। वह मानव धर्म ही हो सकता है जो राजनीति को बुराई एव अन्याय से लड़ने के लिए प्रोत्साहित करे।

डॉ॰ लोहिया के विचार मे धर्म एव राजनीति मे घनिष्ठ सबध है। उन्होने कहा कि धर्म का कार्य अच्छाई को करना है और राजनीति का कार्य बुराई से लड़ना है। धर्म सकारात्मक एव दीर्घ कालीन होता है, पर राजनीति नकारात्मक तथा अल्पकालीन होती है। धर्म का स्वरूप शान्त होता है, जबकि राजनीति का रौद्र। धर्म एव राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अत वे एक दूसरे को परिपक्व और पूर्ण बनाते हैं। डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे धर्म आन्तरिक, सूक्ष्म एव सच्चा है। दोनो अपृथक हैं। इसी कारण उन्होने **धर्म को "दीर्घकालीन राजनीति" और राजनीति को "अल्पकालीन धर्म" कहा है।**[2] दूसरे शब्दो मे राजनीति बुराई को समाप्त कर, अल्पकाल के लिए जब तक दूसरी बुराई नहीं आती, अच्छाई का मार्ग सुगम करती है और धर्म निरन्तर अच्छाई कर बुराईयो मे कमी का मार्ग सुगम करता है।

डॉ॰ लोहिया के अनुसार, अच्छाई करने और बुराई से लडने मे अन्तर है। जब अधिक अन्तर बढ़ जाये तो वातावरण विषाक्त बन जाता है। प्रत्येक धर्म राजनीति के बिना निर्जीव हो जाता है,

1 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ३७४–७५

2 डॉ॰ लोहिया मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला पृष्ठ – ४८

क्योकि बुराई से न लडने पर उसकी अच्छाई टिक नहीं पाती। इसी तरह बिना धर्म के राजनीति झगडालू तथा कलहपूर्ण हो जाती है क्योकि अच्छाई न करने पर बुराई से लडना केवल कलह का कारण बनता है। डॉ. लोहिया के विचार से धर्म और राजनीति निष्ठा एव ईमानदारी से मिलकर काम करे अर्थात् यदि एक अच्छाई करे और दूसरा बुराई से लडे तो मानव कल्याण की गति एव प्रगति अत्यधिक सन्तोषजनक होगी। इसलिए डॉ. लोहिया ने सचेत किया कि "धर्म और राजनीति के अविवेकी मिलन से दोनो भ्रष्ट होते हैं।"[1] सक्षेप मे धर्म एव राजनीति दोनो एक दूसरे को अच्छाई करने और बुराई से लडने को सम्प्रेरित करते हैं।

डॉ. लोहिया के उपर्युक्त विचारो से स्पष्ट है कि उन्होने सभी धर्मो की मौलिक एकता पर बल दिया। वे सभी धर्मो के आदर्श सिद्धान्तो के सच्चे समर्थक थे तथा सच्चे धर्म के स्वरूप को राजनीति से सम्बद्ध रखना चाहते थे। उनके धर्म सबधी विचार बहुत कुछ महात्मा गॉधी से प्रभावित थे। अन्तर केवल इतना है कि गॉधी जी मानव धर्मानुयायी होने के साथ–साथ एक सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परम् शक्ति मे विश्वास करते थे और लोहिया केवल मानव धर्मानुयायी थे। उनके मत के अनुसार धर्म, नैतिक गुणो का पर्यायवाची मात्र होना चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं।

५.३ राज्य सम्बन्धी विचार ·

प्रत्येक विचारक ने अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार राज्य पर विचार किया है और उसे उन लक्ष्यो से युक्त माना है जो उसकी विचार प्रणाली के अनुसार होते हैं। इतिहासकार इसको ऐतिहासिक विकास का फल मानते हैं, नैतिक दार्शनिक, इसको नैतिक लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए एक सस्था मानते हैं। विधि शास्त्री इसको कानूनो की उत्पत्ति और कानूनी अधिकारो की रक्षा हेतु निर्मित एक सस्था मानते हैं। डॉ. लोहिया के मत मे सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लक्ष्य के लिए राज्य आवश्यक है। वह न तो अराजकतावादियो की भाति राज्य को समाप्त करने के पक्ष में थे और न ही उन्होने आदर्शवादी विचारको की भाति राज्य को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। उन्होंने राज्य की महत्ता को स्वीकार किया पर उनके विचार से राज्य को समाज के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। उनके राज्य सम्बन्धी विचार यथार्थवादी हैं। बोदा, ग्रोशस, हॉब्स, आस्टिन आदि विचारकों के अमर्यादित सप्रभुता के सिद्धान्त के विरोध मे लोहिया ने विचार प्रकट किए। उनके राज्य सबधी विचार आदर्शवादी विचारको और विशेषतया जर्मन आदर्शवादी हीगल के विपरीत है। हीगल के मत में राज्य

डॉ. लोहिया मर्यादित उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला पृष्ठ – ४६

न केवल कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है वरन् नैतिक दृष्टि से भी सर्वोच्च है और उसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। डॉ॰ लोहिया का सत्याग्रह सिद्धान्त मे अटूट विश्वास था और इसलिए उनके मत मे व्यक्ति राज्य के कानूनों, आदेशो और अध्यादेशो का प्रतिरोध कर सकता है। उनकी राज्य की अवधारणा बहुलवादी विचारको के समान थी परन्तु उनका बहुलवाद फिगिस, भेटलैण्ड, लिन्डसे मैकआइवर क्रैब आदि से भिन्न पर काफी कुछ लॉस्की के साम्य था। लोहिया राज्य सत्ता के विभाजन द्वारा व्यक्ति के हित को सुरक्षित करना चाहते थे। उनका मत था कि शक्तियो के विभाजन से राज्य की निरकुश सत्ता को काफी हद तक नियत्रित किया जा सकता है।[1]

डॉ॰ लोहिया ने न केवल आर्थिक अपितु राजनैतिक विकेन्द्रीकरण को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण समता और सम्पन्नता का द्योतक है। जिस प्रकार आर्थिक जनतत्र के बिना राजनैतिक जनतत्र असभव है, उसी प्रकार राजनैतिक जनतत्र के बिना आर्थिक जनतत्र असभव है। वह राजनीतिक केन्द्रीकरण के विरूद्ध थे, क्योकि ऐसी व्यवस्था मे शासक, सेठ और सरकारी अधिकारियो के त्रिकोण का आधिपत्य हो जाता है। सामान्य व्यक्ति उत्पीडन का शिकार होता रहता है। लोहिया ने स्पष्टत कहा कि राजनीतिक केन्द्रीकरण के कारण "दिमाग जकड़ गये हैं। विचारों का स्थान प्रचारो ने ले लिया है आज विचार, शक्ति का गुलाम बन गया है।"[2] केन्द्रित शक्ति के कारण आम जनता शक्ति के हाथ मे कठपुतली मात्र रहकर अपग हो जाती है, जिससे प्रजातात्रिक व्यवस्था का मूल उद्देश्य ही ध्वस्त हो जाता है। दो खम्बो केन्द्र एव प्रान्त वाली सघात्मक व्यवस्था को डॉ॰ लोहिया अपर्याप्त मानते थे। उन्होने राजनीतिक शक्ति के बिखराव पर बल देते हुए कहा था, "बडी राजनीति देश के कूड़े को बुहारती है, छोटी राजनीति मोहल्ले अथवा गाँव के कूड़े को।"[3] अत उन्होने चौखम्बा योजना देश के समक्ष प्रस्तुत की।

डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन मे चौखम्बा योजना का महत्वपूर्ण स्थान है।[4] उन्होने अपनी चौखम्बा योजना के अन्तर्गत ग्राम, मण्डल, प्रान्त और केन्द्र इन चार समान प्रतिभा और सम्मान वाले

---

1 डॉ॰ लोहिया फ्रैगमेन्ट्स ऑफ अ वर्ल्ड माइन्ड, मैत्रायनी, १६ सी कलकत्ता, १९५६ पृष्ठ – ७०
डॉ॰ लोहिया मार्क्स गाँधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ३७८

2 डॉ॰ लोहिया समाजवादी चिन्तन, पृष्ठ – १०१

3 डॉ॰ लोहिया वही पृष्ठ – १०१

4 चौखम्बा योजना लोहिया के समाजवादी चिन्तन के अन्तर्गत इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योकि इसमे गाँधी जी के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। लोहिया आस्पेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पालिसी पृष्ठ – १७, लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन, पृष्ठ – १२

म्बो मे शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया। उनके विचार मे "सर्वोच्च अधिकार केवल केन्द्र था सघबद्ध इकाइयो मे ही न रहने चाहिए, बल्कि इसे तोडकर छोटे से छोटे क्षेत्रो मे जहॉ र–नारियो के समूह रहते हैं, बिखरा देना चाहिए।"[1] यह चौखम्बा योजना केवल प्रशासन की व्यवस्था हीं है अपितु इनमें उत्पादन, स्वामित्व व्यवस्था, कृषि सुधार योजना, विकास शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का बन्धन भी सम्मिलित होगा। इस व्यवस्था मे राज्य की सर्वोच्च सत्ता का इस तरह बिखराव होगा कि सके अन्दर रहने वाले प्रत्येक समुदाय उस तरह अपना जीवन चला सकेगे जिस तरह वे चाहे। किन्तु इस प्रकार का बन्धन उनके बीच अवश्य रहेगा जो इकाइयो को एक सूत्र मे बॉधे रह सके। इनमे ये बन्धन आर्थिक, सास्कृतिक आदि सभी प्रकार के रहेगे, जिससे कि वे तितर–बितर होकर राष्ट्र को छिन्न–भिन्न न कर पावे। डॉ॰ लोहिया के शब्दो मे "चौखम्बा राज्य की कल्पना मे स्वावलम्बी गॉव ही नहीं वरन् समझदार और जीवित गॉव की धारणा है। यद्यपि दोनो विचार अनेक स्थानो पर एक दूसरे से मिल जाते हैं।"[2]

चौखम्बा राज्य मे सेना केन्द्र के अधीन, सशस्त्र पुलिस प्रान्त के अधीन और अन्य पुलिस मण्डल तथा ग्राम के अधीन रहेगी। लोहे और इस्पात के उद्योग केन्द्र के नियत्रण मे, छोटी मशीनों वाले भावी कपडे के उद्योग ग्रामों और मण्डलो के नियत्रण मे रहेगे। चौखम्बा राज्य मे मूल्यो पर नियत्रण केन्द्रीय शासन रखेगा जब कि कृषि–ढॉंचा और उसमे पूॅजी तथा श्रम का अनुपात ग्राम और मण्डल की इच्छा पर निर्भर करेगा। सहकारी समितियॉ, ग्राम तथा कृषि सुधार, सिचाई का अधिकाश भाग, बीज, भू–राजस्व वसूली आदि राज्य नियत्रित विषय चौखम्बा राज्य मे ग्राम और मण्डल के अधीन किए जायेगे।[3] लोहिया का मत था कि कर के रूप मे केन्द्रीय शासन के पास जो रूपया एकत्रित होता है उसका एक भाग ग्राम या शहर को, दूसरा भाग मण्डल को, तीसरा भाग प्रान्त को और चौथा भाग केन्द्र को प्राप्त होना चाहिए क्योकि जब तक जनतात्रिक सस्थाओ के पास पैसा न होगा, वे अपने कार्यो का सही ढग से सम्पादन न कर सकेगी।[4] राष्ट्रो के बीच समता और विश्व सभ्यता के लिए डॉ॰ लोहिया ने बालिग मताधिकार पर चुनी हुई और सीमित अधिकारों वाली विश्व–सरकार का पाचवॉं खम्भा भी जोड़ने पर बल दिया था। चौखम्भा राज्य के अतिरिक्त डॉ॰ लोहिया ने प्रशासन के

डॉ॰ लोहिया फ्रैगमेन्ट्स ऑफ ए वर्ड माइन्ड, पृष्ठ – ७०
राम मनोहर लोहिया, रीवॉं (म.प्र.) में दिये गये भाषण से, २६ फरवरी १९५०
डॉ॰ लोहिया भाषण, रीवॉं, २६ फरवरी सन् १९५०
डॉ॰ लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन (भाग–१) पृष्ठ – ११२
हैरिस वैफोर्ड – लोहिया एण्ड अमेरिका मीट मद्रास, १९६१, पृष्ठ – १६०

विकेन्द्रीकरण पर बहुत बल दिया है। उनके मत मे जिलाधीश का पद समाप्त होना चाहिए क्योकि वह राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बदनाम सस्था[1] है और पुलिस तथा अन्य सेवा विभाग ग्राम और मण्डल के प्रतिनिधियो के अधीन किए जाने चाहिए।[2] जिन प्रशासकीय स्तर के प्रशिक्षण और अनुभव से वर्तमान जिलाधीश को प्रशिक्षित किया जाता है, उन्हीं के द्वारा कार्यपालिका आधिकारी को प्रशिक्षित कर मण्डलीय सरकार के सहयोग के लिए प्रदान किया जाना चाहिए। ये कार्यपालिका अधिकारी मण्डलीय सरकार के अधीन कार्य करेगे। प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण के साथ–साथ लोहिया विधायिनी शक्ति का भी विकेन्द्रीकरण चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि शासन के विकेन्द्रीकरण को सार्थक बनाने के लिए जिला और ग्राम पचायतो को कानून बनाने के भी कुछ सीमित अधिकार दिए जाऐं जिससे कि वे अपने यहॉ सामुदायिक जीवन को अपनी पसन्द से चला सके।

डॉ॰ लोहिया राज्यपाल के पद को समाप्त करना चाहते थे। राज्य और केन्द्र के जो कुछ भी कम से कम सम्बन्ध होगे उनको एक अधिकारी द्वारा व्यवहृत किया जायेगा। उनका विचार था कि साक्ष्य और अपराधिक अधिनियम मे इस प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए कि जिससे सामान्यजन को भी शीघ्र और सस्ता न्याय दिया जा सके। इसके अतिरिक्त वे वर्तमान कानूनो पर पुनर्विचार करने के लिए एक समिति निर्माण के पक्षधर थे, जिससे कि कानूनो से अप्रजातात्रिक तत्वो को हटाया जा सके। वे चाहते थे कि दो या तीन राज्यो के लिए एक उच्च न्यायालय और एक लोक सेवा आयोग हो ताकि उच्च न्यायालयो और लोक सेवा आयोगो की सख्या घटाई जा सके और उनके कार्य–क्षेत्र का विस्तार किया जा सके।[3]

इस प्रकार डॉ॰ लोहिया चाहते थे कि देश मे राजनीति एव आर्थिक विकेन्द्रीकरण द्वारा ही नागरिको को अपना स्थानीय शासन करने और ससाधन जुटाने से ही देश का उत्थान किया जा सकता है। विकेन्द्रीकरण से ही सभी नागरिक अपने भाग्य के निर्माता बन सकते हैं। चौखम्भा राज्य मे ही सभी नागरिको की प्रजातात्रिक भागीदारी सभव हो सकेगी। वे जनतत्र को जनता द्वारा जनता के लिए और जनता का शासन मानते थे किन्तु जनतत्र को वास्तविक बनाने के लिए चौखम्भा राज्य को

---

1 डॉ॰ बी.पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ – ५४०
राम मनोहर लोहिया विल टू पावर एण्ड अदर राइटिंग्स, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९५६, पृष्ठ – १३२

2 डॉ॰ लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन, (भाग–१) पृष्ठ – ११३

3 डॉ॰ लोहिया मार्क्स गॉंधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ४१०

भी वे अत्यावश्यक समझते थे। क्योकि चौखम्भा राज्य के द्वार। समुदाय द्वारा समुदाय के लिए सभुदाय का शासन स्थापित होता है, जो कि प्रजातत्र के लिए आवश्यक है।

डॉ॰ लोहिया के चौखम्भा राज्य मे केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओं को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। इनकी चोखम्भा योजना गॉधीवादी स्वावलम्बी ग्रामो और आधुनिक सघवाद के बीच का मार्ग ह। आर्थिक विचारो के समान राजनीतिक विचारो को भी उन्होने चौखम्भा राज्य और प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण द्वारा मूर्त और ठोस रूप देने का प्रयत्न किया है। उनके राजनैतिक विकेन्द्रीकरण पर महात्मा गॉधी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पडता है। उन्होने अधिकारी वर्ग को जनता के प्रतिनिधियो के नियत्रण मे रखकर सच्चे जनतत्र के निर्माण का प्रयास किया है। इस प्रकार के नियत्रण मे यद्यपि एक ओर नौकरशाही की समाप्ति मे सहायता मिल सकती है, तथापि दूसरी ओर भ्रष्टाचार और बेईमानी को बढावा मिलने के कम अवसर नहीं, क्योकि सत्ताधारी दल कर्मचारियो का अनुचित प्रयोग कर सकने मे समर्थ हो सकेगा। कर्मचारी राजनैतिक दबाव से मुक्त रहकर ही अपना कर्त्तव्य सही ढग से पालन कर सकते हैं। इसके अलावा छोटे समुदायों के शासन द्वारा की गई नियुक्तियाँ पक्षपातपूर्ण हो सकती हैं और उनके प्रत्यक्ष निर्वाचन मे भ्रष्टाचार और विघटन की भी अधिक सभावना है। अभी तक देखने मे यही आया है कि ग्राम–पचायतों के चुनावों ने प्रत्येक ग्राम–पचायत को वैमनस्य, कटुता, दलबन्दी आदि से भर दिया है।

इसके विपरीत चौखम्भा योजना पर सोचने का एक यह भी ढग हो सकता है कि अभी तक इन छोटे समुदायो को कम अधिकार दिए गए थे। इसलिए उनमे उत्तरदायित्व की भावना उतनी अधिक नहीं थी। अब जब उन्हे अधिकाधिक कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका सबधी अधिकार प्रदान किए जायेंगे, तब उनमे उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी। इसके फलस्वरूप एक सुसस्कृत एव शोषण–मुक्त समाज की सरचना का पथ–प्रशस्त हो सकता है।

५ ४ जन-शक्ति का महत्व .

डॉ॰ लोहिया प्रजातात्रिक समाजवाद के एक सशक्त प्रवक्ता थे। यही कारण है कि उन्होंने जन शक्ति का प्रबल समर्थन किया। जन–शक्ति से उनका तात्पर्य जन–इच्छा से था। यह वह जन इच्छा है जो डॉ॰ लोहिया द्वारा अपनी पुस्तक "सात क्रान्तियाँ" मे प्रस्तावित सात क्रान्तियों से व्यक्त होती है अर्थात् यदि जन इच्छा जागृत हो तो इन सात क्रान्तियो का सूत्रपात हो सकता है, ये सात क्रान्तियाँ है

१ नर–नारी समानता के लिए,

२ चमड़ी–रग पर रची असमानताओ के विरूद्ध,

३ जन्मजात तथा जाति–प्रथा की विषमताओ के खिलाफ,

४ परदेशी गुलामी के खिलाफ एव विश्व लोकराज्य के लिए

५ निजी पूँजी की विषमताओ के खिलाफ और योजनाओ द्वारा उत्पादन बढाने के लिए,

६ निजी जीवन मे अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ,

७ अस्त्र–शस्त्र के खिलाफ और सत्याग्रह के लिए।[1]

डॉ॰ लोहिया के विचार से, राज्य की आन्तरिक एव वाह्य दोनो मामलो मे अपनी शक्ति का इस्तेमाल हमेशा जन–इच्छा की दृष्टि से विकास के हित मे करना चाहिए, न कि उसका दमन करने के लिए। उनकी दृष्टि मे निरकुश शक्ति और सेवाएँ जन–शक्ति के समर्थन के बिना अप्रभावी और अर्थहीन होती हैं। उन्होने अपने एक लेख "विश्वासघाती जापान तथा आत्मसतुष्ट ब्रिटेन" में स्पष्टत लिखा था "सैनिक और असैनिक अड्डे उस समय तक बेकार होते हैं जब तक उनके पीछे समर्थक जनशक्ति न हो

जन–शक्ति का समर्थन राजनीतिक सफलता की धुरी है। डॉ॰ लोहिया के मत में वही व्यवस्थापिका जनता की सच्ची प्रतिनिधि सभा है जिसमे वास्तविक रूप से जन–इच्छा व्यक्त होती हो। यदि जनता की इच्छा को उसमे निष्पक्ष और न्यायपूर्ण ढग से मान्यता न मिल सके तो वह जनता की सच्ची व्यवस्थापिका नहीं है। इसी सन्दर्भ मे वह कहते हैं, **"लोक सभा या विधान सभा एक शीशा है, आईना है कि जिसमें जनता अपने चेहरे को देख सके। चेहरे पर किस वक्त कैसी सिकुड़नें हैं, कैसी आफते हैं, कैसी तकलीफे हैं, कैसे अरमान हैं, क्या सपने है, ये सब उस शीशे में देख सकते हैं।"**[3] आधुनिक व्यवस्थापिकाओ की उपर्युक्त कसौटी के आधार पर उन्होने इसकी तीव्र आलोचना की थी। उनके मत मे आधुनिक व्यवस्थापिकाओ के अध्यक्ष इस शीशे को ढक कर रखना चाहते हैं, ये उसको गन्दा हो जाने देना चाहते हैं, उसमे धब्बा लगा देना चाहते हैं। व्यवस्थापिका जन–इच्छा के

---

[1] डॉ॰ लोहिया सात क्रान्तियाँ
डॉ॰ लोहिया प्रीफेस, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म।

[2] हरिजन १९ अप्रैल सन् १९४२ के अक से
देखिए इन्दुमति केलकर लोहिया सिद्धान्त और कर्म

[3] डॉ॰ लोहिया पाकिस्तान मे पलटनी शासन समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९७०, पृष्ठ – १२

दर्पण के रूप मे काम करे और साथ ही सम्पूर्ण कार्यो का उद्देश्य जनता की इच्छा को सगठित और अभिव्यक्त करना तथा यथा सभव राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण होना चाहिए।[1]

डॉ॰ लोहिया ने दुख व्यक्त किया कि आज के भारत मे सरकार और राजनैतिक दल दोनो मे करोडों लोगो का एक नेता हो जाता है और अन्य छोटे–छोटे नेताओ का निर्माण भी वह अपने प्रभाव द्वारा करता है। जनता द्वारा अर्जित की हुई शक्ति को वह एक नेता इस ढग से प्रयोग करता है कि प्रदेश मण्डल और क्षेत्र के सगठन क्रमश अपने से उच्चतर सगठन और अन्त मे केवल उस नेता के मुख की ओर ताकते हैं। इस ढग से निम्नतर सगठन अपना अस्तित्व उच्चतर सगठन से प्राप्त करने लगते हैं जबकि जन–इच्छा को प्रभावशाली बनाने और उसे प्रभुत्व देने के लिए होना चाहिए, ठीक इसके विपरीत। वे चाहते थे कि निम्न स्तरीय शक्ति के द्वारा उच्च स्तरीय शक्ति का निर्माण हो। जनता मे शक्ति के वास्तविक बिखराव के लिए उन्होने कहा था, "ताकत जनता से निकलकर ऊर्ध्वगामी बने ऊपर की तरफ जाए, पानी फूटकर ऊपर की तरफ निकलता है, जनता की ताकत क्षेत्र, जिला, प्रदेश और सारे देश की तरफ जाने के बजाय, हमारे देश मे ठीक इसका उल्टा होता है।"[2]

डॉ॰ लोहिया की मान्यता थी कि प्रत्येक राजनैतिक समूह को आत्म विनिश्चय का अधिकार होना चाहिए। तिब्बत के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होने प्रत्येक समूह की स्थिति निर्धारण करने की मुख्य छ कसौटियॉ निर्धारित की थी – (१) जमीन का ढलाव, (२) भाषा, (३) लिखावट, (४) धर्म और जिन्दगी का तरीका, (५) प्राचीन इतिहास और सरकारो की आपसी सन्धियॉ, (६) जनता की इच्छा।[3] इन छ कसौटियो मे जन–इच्छा को सर्वाधिक महत्व देते हुए डॉ॰ लोहिया ने कहा, "आधुनिक युग मे और मेरे जैसा आदमी इस छठे को सबसे बडी कसौटी कहेगा। चाहे वे पॉचो जिस तरफ भी जाएँ, अगर तिब्बत की जनता की इच्छा है किसी एक विशिष्ट सगठन मे रहने की, तो उस इच्छा की पूर्ति होनी चाहिए। यही सबसे बड़ी कसौटी है।"

इस प्रकार लोहिया का सिद्धान्त था कि सभी देश स्वतत्र हैं और उन्हें अपने भविष्य के निर्णय का स्वय अधिकार है। जहॉ तक सम्पूर्ण देश की एक इकाई का सम्बन्ध है, इसका पूर्णत आदर किया

---

[1] डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गॉंधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ३४२

[2] डॉ॰ लोहिया क्रान्ति के लिए सगठन, पृष्ठ – १६८

[3] डॉ॰ लोहिया भारत, चीन और उत्तरी सीमाएँ, नवहिन्द प्रकाशन हैदराबाद, १९६३, पृष्ठ – २०४

जाना चाहिए। परन्तु आशका इस बात की है, और यह स्फुट या प्रच्छन्न रूप मे अपने देश में आज परिलक्षित भी होती है कि यह विचारधारा विघटन की प्रवृत्ति की जन्मदात्री सिद्ध हो सकती है।

५ ५ *सविनय अवज्ञा का सिद्धान्त (सिविल नाफरमानी)*

महात्मा गॉधी ने भारत मे स्वराज्य–प्राप्ति के लिए जिस राजनीतिक पद्धति का प्रयोग किया उसे सत्याग्रह के नाम से सम्बोधित किया जाता है। गॉधी जी ने सत्याग्रह के सदर्भ में अहिंसा, असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध एव सविनय अवज्ञा आदि शब्दो का भी प्रयोग किया है। गॉधी जी इन शब्दो को सत्याग्रह का पर्यायवाची मानते थे।

डॉ॰ लोहिया ने सविनय अवज्ञा (सिविल नाफरमानी) के सिद्धान्त का समर्थन किया। अन्याय का प्रतिकार दो रूपो – हिंसात्मक और अहिंसात्मक मे सभव है। अन्याय के विरोध का अहिंसात्मक ढग ही सत्याग्रह है। सविनय अवज्ञा इसका एक विशेष अग है जिसे डॉ॰ लोहिया ने "सिविल नाफरमानी" का सिद्धान्त कहा है। इसका अर्थ है कि अन्यायी के प्रति सबल विरोध, न कि उसके समक्ष झुकना। सिविल नाफरमानी करने वाला व्यक्ति न तो कमजोर होता है और न ही हिंसक। इसका अर्थ "मामूली इन्सान की मामूली वीरता के साथ काम चलाना है।"[1]

अपने विचार को और स्पष्ट करते हुए डॉ॰ लोहिया ने कहा, "सिविल नाफरमानी अथवा अन्याय से शान्तिपूर्वक लडना अपने आप मे एक कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य मे आगा–पीछा या नफा–नुकसान नहीं देखा जाता "[2] उनकी दृष्टि से, सविनय अवज्ञा का लक्ष्य मात्र अन्यायी के हृदय को ही परिवर्तित करना नहीं है, बल्कि असख्य जन–समूह का हृदय बदलना भी उसका परम लक्ष्य है। कमजोर एव असमर्थ व्यक्तियो को समर्थ बनाकर अन्याय, शोषण तथा दमन का मुकाबला करना, सविनय अवज्ञा का मूल आधार है।

सविनय अवज्ञा सिद्धान्त का सच्चा अनुयायी वही है जो असख्य कठिन कष्टों को सहन करने के उपरान्त यह कहता है कि "मरेंगे मगर मानेगे नहीं", "मारो अगर मार सकते हो लेकिन हम तो अपने हक पर अड़े रहेगे।"[3] डॉ॰ लोहिया के मत मे वह सत्य झूठा होता है जिसमे शक्ति नहीं होती।

---

[1] डॉ॰ लोहिया नया समाज नयामन, पृष्ठ – २

[2] डॉ॰ लोहिया सिविल नाफरमानी सिद्धान्त और अमल सोशलिस्ट पार्टी हिमायत नगर हैदराबाद, १९५६ पृष्ठ – ७

[3] डॉ॰ लोहिया वही पृष्ठ – ८

अत सच्चा सत्याग्रह वही है जो अपनी शक्ति (सत्य) की प्रतिष्ठापना करके ही दम ले, उसके पूर्व नहीं। यदि अच्छे जीवन के मार्ग मे आने वाली अन्याय और असत्य की बाधाओ के लिए सत्याग्रह एक बाधा नहीं हो सकता, तो वह सत्याग्रह नहीं है। इसी से डॉ. लोहिया ने कहा "सिविल नाफरमानी की सबसे बुनियादी बात यह है कि सच्चाई करोडो लोगो के अन्दर बैठने के लिए तपस्या और तकलीफ का सहारा ले।"[1]

डॉ. लोहिया ने सत्याग्रह के दो पहलू बतलाये हैं पहला प्रेम और दूसरा रोष अथवा ओज। प्रेम और रोष का सम्मिश्रण ही सत्याग्रह है। गरीब अनाथ तथा असमर्थ व्यक्तियो के प्रति प्रेम और अत्याचारियो के प्रति रोष ही सत्याग्रह की पूर्णता है। जैसा कि लोहिया कहते हैं कि "क्रान्ति मे करूणा का मेल सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) है।"[2] उन्होने विनोबाजी के सत्याग्रह से असहमति प्रकट की और कहा कि "ये गॉधी के एक पहलू को लेकर बैठे हुए हैं। वह पहलू है प्रेम। गॉधी जी का जो दूसरा पहलू था तेजस्विता का, गुस्से का। गरीबी बेईमानी, बदमाशी और जुल्म से गुस्सा करो और उनसे लडो, उस पहलू को विनोबा भावे साहब अभी तक समझ नहीं पाए।" इस आधार पर लोहिया ने विनोबा जी के सत्याग्रह की आलोचना की और कहा कि उनका सत्याग्रह एकागी है। वह गरीबो के प्रति दया और सहानुभूति तो रखता है किन्तु अन्यायियो के प्रति रोष उसमे नहीं है।[3] अन्याय के प्रति सात्विक क्रोध अनिवार्य है।

डॉ. लोहिया के मतानुसार जिस प्रकार सत्याग्रह प्रेम और रोष का एक साथ योग है उसी प्रकार वह ध्वसात्मक और रचनात्मक वृत्तियो का भी एक साथ समन्वय है। सच्चा सत्याग्रही यदि एक ओर अन्यायी कुव्यवस्था को ध्वस करता है तो दूसरी ओर सुव्यवस्था की रचना और सगठनात्मक शक्ति का प्रादुर्भाव करता है।[4] यह सिद्धान्त तर्क और हथियार दोनो से सुसज्जित है। "सिविल नाफरमानी मे तर्क और हथियार दोनो का मिश्रण है। इसमे एक ओर तो तर्क का माधुर्य है, दूसरी ओर हथियार का बल भी।"[5] अत डॉ. लोहिया की सिविल नाफरमानी अन्याय के प्रति लड़ने के लिए एक शाश्वत सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वव्यापक है जिसे हर प्रकार के अन्यायों को समाप्त करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।

---

1 डॉ. लोहिया सिविल नाफरमानी सिद्धान्त और अमल, पृष्ठ – ११
2 डॉ. लोहिया इतिहास चक्र पृष्ठ – १०२
3 डॉ. लोहिया सिविल नाफरमानी सिद्धान्त और अमल, पृष्ठ – १२
4 डॉ. लोहिया वही पृष्ठ – २०
5 डॉ. लोहिया नया समाज नयमन पृष्ठ – १

डॉ॰ लोहिया के विचार मे सत्याग्रह की कसौटी तत्कालिक सफलता नहीं अपितु करोडो का मत परिवर्तन है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होने चिरतन सत्याग्रह की कल्पना रखी। उनका कहना था कि सप्ताह के सातो दिनो मे प्रत्येक राजनीतिक दल को कम से कम दो–दो दिन सत्याग्रह करना चाहिए। जिस तरह किसी दौड मे एक दौडाक थकता है तो दूसरा आता है और फिर तीसरा आता है, कुछ रिले रेस जैसी होती है उसी प्रकार हिन्दुस्तान मे सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा की रिले रेस होनी चाहिए। केवल तभी अन्यायी शासन चाहे वह किसी भी दल का हो, समाप्त हो सकेगा। लोहिया चाहते थे कि देश मे इस प्रकार के दल का निर्माण होना चाहिए कि जो कभी सत्ता पर न बैठे, बल्कि सत्ताधारियो के अन्यायो का अहिसात्मक ढग से सदैव प्रतिकार करे जिससे कि अत्याचारी शासनो को उलटते–पलटते रोटी की तरह सेक कर एक दिन पवित्र बनाया जा सके। किन्तु इस उलट–पलट के क्रम मे उन्होने हिंसा से दूर रहने को कहा क्योकि इस प्रकार के परिवर्तनात्मक कार्यक्रम की सच्ची कसौटी हिंसात्मक और दमनात्मक नीति के समक्ष अहिंसात्मक बना रहना है। इसके अतिरिक्त लोहिया ने स्पष्ट किया कि विधि की सविनय अवज्ञा स्वार्थ हेतु करना जितना अनुचित है, सामूहिक स्वार्थ और परमार्थ के लिए उतना ही उचित। सिविल नाफरमानी सदैव उचित उद्देश्य के लिए उचित तरीको द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा उससे कोई लाभ नहीं।[1] वे कितने अहिसक थे और कितने ईमानदार सरकार के इच्छुक इसका प्रमाण सन् १९५४ मे केरल की अपनी ही सरकार से उनका इस्तीफा मॉगना है।

डॉ॰ लोहिया के मतानुसार सविनय अवज्ञा का सिद्धान्त सर्वव्यापक है, जिसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायो को समाप्त करने के लिए प्रयोग मे लाया जा सकता है। उनका स्पष्ट विचार था कि जब तक कोई देश अपने ही शासन के अन्यायी नियमो और कार्यो की सविनय अवज्ञा करना नहीं सीखता, वह देश कभी भी विदेशी अन्याय का विरोध करने में सक्षम नहीं हो सकता। राष्ट्र की सबसे बड़ी सुरक्षा जनता द्वारा स्वय की सरकार के विरूद्ध सविनय अवज्ञा का किया जाना है।

डॉ॰ लोहिया ने सविनय–अवज्ञा सिद्धान्त का केवल सैद्धान्तिक प्रचार ही नहीं किया, अपितु कई सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नेतृत्व किया। गॉधी जी के साथ अग्रेजी शासन के विरूद्ध उन्होंने सविनय अवज्ञा में तो भाग लिया ही, अपने देशी शासक के विरूद्ध भी अन्यायो का सतत विरोध किया। उन्हीं के सहयोग से ६ अगस्त सन् १९५३ ई॰ को आजमगढ जिले के कृषकों ने शासकीय

[1] देखिए "जन" मार्च सन्, १९६८ पृष्ठ – १२७

अभिलेखो की त्रुटिपूर्ण प्रविष्टि के विरोध मे सविनय अवज्ञा की।[1] अवैधानिक बेदखली के विरोध मे मई सन् १९५१ ई॰ मे मैसूर राज्य के कृषको ने सत्याग्रह किया, जिसका नेतृत्व डॉ॰ लोहिया ने ही किया। सन् १९५४ मे उत्तर प्रदेश मे नहर–रेट–वृद्धि के विरूद्ध उन्होने सामूहिक सविनय अवज्ञा की। उन्हीं की प्रेरणा से भूमि सबधी विभिन्न मॉगो को लेकर सन् १९५६ ई॰ मे बिहार के कृषको ने सिविल नाफरमानी चलाई।[2] सन् १९५६ ई॰ से १९५६ ई॰ तक उन्हीं के निर्देशन मे समाजवादी दल ने बारी–बारी से देश के लगभग सभी हिस्सो मे सिविल नाफरमानी चलाई। अपने सिद्धान्तो को लेकर सन् १९६० ई॰ मे एक देश–व्यापी सविनय अवज्ञा की। सन् १९६२ ई॰ मे चीनी आक्रमण के बाद डॉ॰ लोहिया ने "देश बचाओ" आन्दोलन चलाया।[3]

सक्षेप मे डॉ॰ लोहिया, महात्मा गॉधी के बाद सविनय अवज्ञा करने वाले एक मात्र राजनेता थे। सविनय अवज्ञा का प्रमुख उद्देश्य गॉधी जी के मत मे विरोधी अथवा अन्यायी का मत – परिवर्तन था। किन्तु डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे इसका प्रमुख लक्ष्य अन्यायी का हृदय परिवर्तन नहीं, अपितु साधारण जन–मानस का मत परिवर्तन है। गॉधी जी समय–समय पर ही सत्याग्रह के पक्ष मे थे किन्तु डॉ॰ लोहिया निरन्तर सत्याग्रह चाहते थे। डॉ॰ लोहिया ने सविनय अवज्ञा सिद्धान्त की विशद व्याख्या की, उसके वैयक्तिक और सामूहिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, सिद्धान्त और कर्म, कार्य और फल, नकारात्मक और सकारात्मक आदि सभी दृष्टियो से अवलोकन कर व्यापक बनाया है। उन्होने सविनय अवज्ञा का सतत् प्रयोग कर उसे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थायित्व प्रदान किया।

५ ६ वाणी-स्वतन्त्रता और कर्म-नियत्रण

"वाणी–स्वतत्रता और कर्म नियत्रण" का सिद्धान्त भी डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। यह प्रजातत्र का आधार और व्यक्ति की प्रगति एव स्वच्छन्दता का मार्ग है। उनके अनुसार वाणी–स्वतत्रता बिल्कुल स्वच्छन्द रहे, पर कर्मो को नियत्रण मे रखना आवश्यक है। उन्होने कहा "बोली की तो लम्बी बॉह होनी चाहिए, खूब स्वतत्र हो जो भी बोलो, लेकिन जब कर्म करो तो बॅधी हुई, सगठित, अनुशासित मुट्ठी होनी चाहिए।"[4] राजनीतिक दलो को, व्यक्तियों और

---

1 देखिए इन्दूमति केलकर, लोहिया सिद्धान्त और कर्म, पृष्ठ – २८२

2 वही पृष्ठ – २८२

3 दिनमान २० सितम्बर सन् १९७० ई॰

4 डॉ॰ लोहिया समाजवादी आन्दोलन का इतिहास समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, १९६९, पृष्ठ – १४०

समितियो को बोलने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए, भले हो वे कुछ गलत बाते करे। बहुमत को चाहिए कि वह अल्पमत की बाते सुने उनके सुझावो की ओर ध्यान दे। केवल कायो के ऊपर ही प्रतिबन्ध रहना चाहिए भाषण पर नहीं।

वाणी की स्वतत्रता का सशक्त प्रतिपादन करते हुए डॉ. लोहिया ने जनतात्रिक देशो से आग्रह किया कि वे व्यक्ति को भाषण और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतत्रता दे। किसी के प्रति झूठ बोलना किसी के साथ गाली गलौज करना अथवा अन्य किसी प्रकार से किसी का अपमान करना निश्चित रूप से अपराध हो सकता है किन्तु सामाजिक और राजकीय मामलो मे सिद्धान्त और कार्यक्रम के मामलो मे प्रत्येक व्यक्ति को वाणी की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जनता के इस अधिकार पर विवेक युक्त और उचित बन्धनो का शासन एव दल दोनो अनुचित लाभ उठाते है। परिणाम स्वरूप वास्तविक स्वतत्रता का अपहरण होता है। अत वाणी की बन्धन मुक्त स्वतत्रता होनी चाहिए। डॉ. लोहिया का मत है कि झूठ और सत्य पर बिना विचार किए वाणी की पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए, क्योकि सत्य–झूठ का निर्णय एक व्यक्ति या सस्था अथवा सरकार नहीं कर सकती। वह तो झूठ और सत्य के सघर्ष से और परस्पर आवागमन से निखरता है। उन्होने स्पष्ट कहा "मैं कहना चाहता हूँ कि झूठ बोलने का भी अधिकार है क्योकि झूठ क्या है सच क्या है इसका फैसला अगर कोई कार्य–कारिणी या सरकार करने बैठ जाएगी तब तो फिर वाणी की स्वतत्रता बिल्कुल खत्म हो जाएगी।"[1]

स्वतत्रता के साथ–साथ डॉ. लोहिया ने जो कर्म–नियत्रण की बात कही, वह महत्वपूर्ण है। उनके मतानुसार यदि दल का विधान–सम्मत निर्णय किसी सदस्य को मान्य नहीं है तो वाणी के द्वारा उस निर्णय का विरोध करने के लिए वह व्यक्ति स्वतत्र है, किन्तु कर्म मे उसका वास्तविक पालन करना अनिवार्य है।[2] कर्म–नियत्रण के डॉ. लोहिया ने दो प्रकार बताए हैं एक तो सिद्धान्त और विधान वर्जित कामो को न करे, और दूसरा सम्मेलन विधान द्वारा आदेशित कामो को करे।[3] उनके द्वारा बताए गए दोनो कर्म–नियत्रणो मे एक नकारात्मक है और दूसरा सकारात्मक। उनका मत है कि अब तक भारत के सभी राजनैतिक दलो मे वाणी परतन्त्रता और कर्म–स्वच्छन्दता रही है। बड़ी समितियो अथवा बडे नेताओ के निर्णयो के विरूद्ध व्यक्ति मन से विरोध चाहते हुए भी नहीं बोल पाते, किन्तु उनके कर्म निर्णयो के ठीक विपरीत होते हैं और ये दोनो ही तथ्य अनुचित हैं। इसके विपरीत जनतत्र

---

1. डॉ. लोहिया समाजवादी आन्दोलन का इतिहास पृष्ठ – १३६–१४०
2. डॉ. लोहिया वही पृष्ठ – १४१
3. डॉ. लोहिया समाजवादी चिन्तन नवहिन्द प्रकाशन हैदराबाद १९५६ पृष्ठ – १००

मे राज्य अथवा राजनैतिक दलो दोनो के सन्दर्भ मे वाणी स्वतत्रता और कर्म–नियत्रण होना चाहिए। डॉ॰ लोहिया प्राय निम्नलिखित मनोरजक श्लोक अपने भाषणो मे कहा करते थे

"वाक् स्वतत्रयम् कर्म नियत्रणम् इति जनतात्रिक अनुशासनम्। विपरीतम् कर्म स्वातत्र्यम् वाक् नियत्रणम भारते प्रचलित पथ "।[1] डॉ॰ लोहिया ने स्पष्ट किया कि "बुद्ध शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि और बाद मे धर्म शरण गच्छामि" का क्रम त्रुटिपूर्ण है। उन्होने उपर्युक्त सूत्र के क्रम को पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया और कहा कि व्यक्तियो को सर्वप्रथम धर्म द्वितीय सघ और अन्त मे बुद्ध की शरण मे जाना चाहिए।[2] उन्होने धर्म को सिद्धान्त सघ को सगठन और बुद्ध को नेता कहा है। उनका कहना था कि जिस प्रकार सगठन के लिए सिद्धान्त आवश्यक है उसी प्रकार सिद्धान्त के लिए सगठन आवश्यक है। उनके विचार मे भारत मे अभी तक सगठन और सिद्धान्त दोनो अपने मार्ग से विचलित रहे हैं। समाजवादियो के समक्ष धर्म और सगठन के समन्वय पर बल देते हुए उन्होने कहा था कि "धर्म और सघ यानि सिद्धान्तो और सगठन की उस परस्पर नीति और मार्ग को आप ढूँढ रहे हैं जिससे ऐसी राजनीति मे एक नई क्रन्ति पैदा हो।"[3]

डॉ॰ लोहिया ने वाणी स्वतत्रता और कर्म नियत्रण का सिद्धान्त देकर राजनैतिक इतिहास मे एक सतुलित और अनूठा सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त मे वैयक्तिक स्वतत्रता और सामाजिक हित का समन्वय किया गया है। उन्होने वाणी–स्वतत्रता को दबाना एक जघन्य अपराध माना, हालाकि उन्होने कर्मो पर नियत्रण की बात प्रजातात्रिक प्रक्रिया का अनिवार्य अग बताया। सक्षेप मे डॉ॰ लोहिया ने वाणी स्वतत्रता मे प्रेस की स्वतत्रता, भाषण की स्वतत्रता, निजी भाषण की स्वतत्रता आदि क्रियात्मक रूप से प्रयोग करने पर बल दिया। इस प्रकार उन्होने धर्म और सघ, सिद्धान्त और सगठन, वाणी और कर्म, व्यक्ति और समाज दल और उसके नेता के पारस्परिक सम्बन्धों का ऐसा उचित निर्धारण किया है जिसका अवलम्बन कर मानव सामाजिक हित को बनाए रखते हुए सच्ची एव वास्तविक स्वतत्रता का उपभोग कर सकता है।

वाणी–स्वतत्रता का वैसे तो हर प्रकार के शासनतत्र मे महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए, पर जहाँ तक प्रजातत्र और विशेषकर समाजवादी प्रजातत्र का सम्बन्ध है, वाणी की स्वतत्रता, प्रेस की स्वतत्रता

---

1 डॉ॰ लोहिया समाजवादी चिन्तन पृष्ठ – १००

2 इन्दूमति केलकर लोहिया, सिद्धान्त और कर्म पृष्ठ – ३२७

3 डॉ॰ लोहिया समाजवादी चिन्तन पृष्ठ – १११–१२

तो उसके प्राण ही हैं। स्वस्थ प्रजातत्र की स्थिति और स्थायित्व के लिए इसकी समालोचना की छूट बहुत ही आवश्यक है। कोई भी तत्र शासन दल या सस्थान इस अकुश के बिना निरकुश हो जाता है और मनमानी करने लगता है जिसका फल अन्त मे बडा ही भयावह होता है। डॉ॰ लोहिया ने अपने आदर्श राज्य मे उसके नागरिको को अपने मौलिक अधिकारो के उपयोग का अवसर केवल कागज पर ही नहीं, बल्कि वास्तविक जीवन मे करने की प्रस्तावना रखी है। अन्याय, अत्याचार अहित चाहे व्यक्ति के प्रति हो समूह के प्रति हो या देश के प्रति हो इनके विरूद्ध आवाज उठाने शासन का ध्यान आकर्षित करने की स्वतत्रता सबको ही व्यवहार मे होनी चाहिए। जो खेद के साथ कहना पडता है कि वर्तमान समय मे किसी भी देश मे चाहे जैसी भी शासन–व्यवस्था वहॉ हो पूर्ण रूप मे नहीं है।

५ ७ *मौलिक अधिकार*

डॉ॰ लोहिया के समाजवादी चिन्तन और सामाजिक तथा राजनीतिक विचारो की कडी मे मौलिक अधिकारो का भी विशेष महत्व है। वह आदमी को केवल पेटू पशु" नहीं मानते थे। उसके मन और हृदय भी होता है। मानव के जीवन को सुसस्कृत एव गौरवमय बनाने के लिए डॉ॰ लोहिया ने उन मौलिक अधिकारो का अनुमोदन किया जो लोकतात्रिक समाजवादी जीवन के अनिवार्य अग हैं। वह जीवन पर्यन्त इन अधिकारो के लिए सघर्ष करते रहे। राज्य मौलिक अधिकारो को जन्म नहीं देता, राज्य तो केवल इन अधिकारो को वास्तविकता और औचित्य प्रदान करता है। वे मानव के मूल स्वरूप से ही उद्भूत होते हैं। यहॉ उन मौलिक अधिकारो का एक सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है जिनका डॉ॰ लोहिया ने सबल समर्थन किया।

सर्वप्रथम, डॉ॰ लोहिया ने बौद्धिक स्वातन्त्र्य के अधिकार का समर्थन किया। बौद्धिक स्वातन्त्र्य का अर्थ है, पठन–पाठन, लेखन आदि अभिव्यक्ति की स्वतत्रता। यह स्वतत्रता वह अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति को मानव के सम्पूर्ण विकास मे बाधक तत्वों को हटाने का और साधक तत्वो को जुटाने का अधिकार प्रदान करता है। उन्होने कहा, "इतना मैं साफ कह देना चाहता हूँ कि समाजवादी हिन्दुस्तान में किसी भी व्यक्ति की साहित्य या कला की अभिव्यक्ति किसी भी हालत में अपराध नहीं रहेगी और जिसे अश्लील वगैरह कहते हैं, उसके बारे मे भी यही कहना चाहता हूँ।"[1] आधुनिक युग मे जनतात्रिक देशों मे भी नैतिकता और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के बन्धन, कला साहित्यक एव अभिव्यक्ति पर थोपे जाते हैं। डॉ॰ लोहिया इस सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतत्रता चाहते थे।

---

[1] डॉ॰ लोहिया समाजवादी आन्दोलन का इतिहास पृष्ठ – १२४

उन्होने अश्लील साहित्य तक को प्रकाशन की स्वतत्रता दी थी। डॉ॰ लोहिया समाजवादी होते हुए बौद्धिक स्वातत्र्य पर साम्यवादी देशो द्वारा लगाए गए अकुश के कट्टर आलोचक थे। साम्यवादी व्यवस्था व्यक्ति को मौलिक अधिकारो से वचित रखती है। यह सम्पूर्ण मानव जाति के पतन का द्योतक है। सक्षेप मे डॉ॰ लोहिया ने "वाणी–स्वतत्रता और कर्म-नियत्रण" के सिद्धान्त द्वारा बौद्धिक स्वातत्र्य के अधिकार का व्यापक अनुमोदन किया।

डॉ॰ लोहिया अहिंसा तथा बौद्धिक स्वातत्र्य दोनो मे विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि किसी भी सरकार द्वारा निर्मित अत्याचारी एव अन्यायी कानूनो का प्रतिरोध करने का अधिकार सभी नागरिको को प्राप्त होना चाहिए।[1] लेकिन ऐसा अहिंसात्मक तथा शान्तमय ढग से होना चाहिए। यही कारण है कि डॉ॰ लोहिया ने सिविल नाफ़रमानी अथवा सविनय अवज्ञा के अधिकार का समर्थन किया। वह इसे मौलिक अधिकार मानते थे। साथ ही उन्होने एक ओर प्राण–दण्ड देने का विरोध किया, तो दूसरी ओर "आत्म–हत्या" के अधिकार का समर्थन किया। वे आत्म–हत्या को अदण्ड्य और प्राण–दण्ड को अवैध कहते हैं।[2] कुछ लोग समाज पर अभिशप्त भार होते हैं उन्हे जान बूझकर खत्म न किया जाए, बल्कि मानवीयता के आधार पर समाज स्वय उन्हे मौन सधन्यवाद आत्म–हत्या की अनुमति प्रदान करे। लेकिन डॉ॰ लोहिया ने प्राण–दण्ड देने का कडा विरोध किया क्योकि यह व्यक्तिगत जीवन की स्वतत्रता के विरूद्ध है।

जहॉ तक प्राण–दण्ड न देने के सम्बन्ध मे डॉ॰ लोहिया के कथन का प्रश्न है वह तो सर्वथा मानवतावादी दृष्टिकोण है, साथ ही साथ समाज के लिए भी लाभदायक है। एक तो मानव अथवा शासन की मानवता इसी मे है कि हत्या अथवा अन्य जघन्य अपराध करने वालो के साथ भी मानवोचित व्यवहार करे। लोहिया ने उचित ही कहा है "चाहे जिन्दगी भर जेल मे डाल रखो, पर फासी न हो, क्योंकि गला घोट कर मार डालना इन्सानियत की बात नहीं है। हम कैसे जानवर हैं जो आदमी को गला घोट कर मार डालते हैं।"[3] जिसने हत्या अथवा अन्य जघन्य अपराध किया है, यह आवश्यक नहीं है कि उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की हो। अच्छा से अच्छा व्यक्ति भी कदाचित परिस्थितिवश बड़ा से बड़ा अपराध कर सकता है। इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपराध करने की प्रवृत्ति में ही आ गया हो, तो भी उसको मृत्यु–दण्ड देकर समाज केवल

---

[1] डॉ॰ लोहिया सिविल नाफरमानी की व्यापकता, पृष्ठ – १५

[2] डॉ॰ लोहिया सात क्रान्तियॉ, राम मनोहर लोहिया, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७६, पृष्ठ – २८

[3] ओकार शरद लोहिया पृष्ठ – २६०

नकारात्मक लाभ ही उठाता है। इससे अधिक अच्छा तो यह है कि उसे जेल मे रखा जाय शिक्षा देकर उसकी प्रवृत्तियो को सँभाला जाय और उससे कार्य लेकर समाज को लाभ पहुँचाया जाए। इससे उस व्यक्ति और समाज दोनो को लाभ होगा। अत लोहिया का कहना सामाजिक दृष्टिकोण से भी उचित ही प्रतीत होता है। वह किसी के व्यक्तिगत जीवन मे कोई दखल पसन्द नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि "हर व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिए।"[1] उनकी व्यक्तिगत स्वतत्रता मे अगाध आस्था थी। उन्होने साफ कहा था "जीवन मे कुछ दायरे होने चाहिए कि जिनमे राज्य का सरकार का, सगठन का गिरोह का दखल न हो।"[2]

बौद्धिक स्वतत्रता तथा व्यक्तिगत स्वतत्रता के अनुरूप डॉ॰ लोहिया ने धार्मिक स्वतत्रता के अधिकार का भी समर्थन किया। वह जानते थे कि महजबो के नाम पर परस्पर झगडे–फसाद होते हैं फिर भी नागरिको को मन्दिर–मस्जिद जाने , पूजा–पाठ करने और अन्त करण की स्वतत्रता होनी चाहिए। डॉ॰ लोहिया ईश्वर को नहीं मानते थे, मन्दिर–मस्जिद मे नहीं जाते थे और धर्माधारित साम्प्रदायिकता की आलोचना करते थे फिर भी उन्होने सभी नागरिको की धार्मिक स्वतत्रता का समर्थन किया। वह धर्म–निरपेक्ष राज्य के पक्षधर थे। उनका स्पष्ट कहना था, "मैं समझता हूँ मस्जिद–मन्दिर अपने रखो। कोई भी उसमे दखल देने जाए तो मुझ जैसा समाजवादी कहेगा कि उस दखल देने वाले को हम रोकेगे और ताकत से सेकेगे।"[3] उनकी दृष्टि मे धार्मिक हस्तक्षेप हेय और दयनीय है।

डॉ॰ लोहिया सम्पत्ति के अधिकार को व्यक्ति का मौलिक अधिकार नहीं मानते। वे नागरिको के सम्पत्ति के अधिकार पर अकुश तथा सीमा चाहते थे। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण एव अन्याय का साधन बने, तो उसको सीमित कर देना ही अच्छा है। अपने नये एव सच्चे समाजवाद की रूपरेखा मे उन्होने यह कल्पना की कि वह "एक ओर तो कायदे–कानून ऐसे बनायेगा कि जिसमे सम्पत्ति लोगों की व्यक्तिगत न हो और दूसरी ओर इस तरह समाज के ढॉचे को बनायेगा, नाटक, किस्से या खलकूद या दर्शन या किताबें या उपन्यास ऐसे चलायेगा और बचपन से ही ऐसी शिक्षा देगा कि

---

1 डॉ॰ लोहिया सात क्रान्तियाँ, पृष्ठ – २६

2 डॉ॰ लोहिया सात क्रान्तियाँ पृष्ठ – २८

3 डॉ॰ लोहिया आजाद हिन्दुस्तान मे नए रूझहान, नवहिन्द प्रकाशन बेगम बाजार, हैदराबाद, १६६८, पृष्ठ – ११

सम्पत्ति का मोह आदमी को न हो।"[1] वैसे सम्पत्ति रखने का मौलिक अधिकार सर्वमान्य है पर डॉ. लोहिया ने सम्पत्ति द्वारा शोषण, अन्याय तथा भ्रष्टाचार होने वाली ज्यादतियो पर अकुश लगाने के लिए उसे कानून द्वारा सीमित करने और स्वेच्छा से उसके प्रति स्वार्थ एव मोह को समाप्त करने पर बल दिया।

डॉ. लोहिया के सम्पत्ति सबधी विचार व्यवहारिक रूप मे स्पष्ट नहीं होते। एक ओर वे चौखम्भा योजना द्वारा राज्य शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं और दूसरी ओर सम्पत्ति का मौलिक अधिकार सत्ता को दे देते हैं अत उनकी व्यवस्था मे जनता का शासन केवल नाम मात्र का होगा। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति के मौलिक अधिकार समाप्त होने से जनता की अधिक उत्पादन की प्रेरणा भी समाप्त हो जाती है।

समता के अधिकार को डॉ. लोहिया ने सर्वाधिक महत्व दिया। भारतीय समाज मे व्याप्त िषमताओ को समाप्त करने के लिए समता की भावना और व्यवहार को सर्व क्षेत्रीय बनाने मे उन्होने महत्वपूर्ण योगदान किया। डॉ. लोहिया ने नर–नारी समता, जाति उन्मूलन रग–भेद और छुआछूत की समाप्ति के लिए न केवल सि ्धान्त तथा कर्म प्रस्तुत किए, बल्कि व्यापक रूप मे स्वय सघर्ष भी किया। उन्होने वैधानिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रो मे समता के अधिकार का समर्थन किया। वह वैधानिक समता के अन्तर्गत विधि के समक्ष समानता राजनीतिक समता के अन्तर्गत भेद–भाव रहित सार्वभौमिक मताधिकार, आर्थिक समता के अन्तर्गत समाजवाद की स्थापना और धार्मिक समता के लिए सहिष्णुता तथा धर्म–निरपेक्षता चाहते थे। उन्होने स्पष्टत कहा था कि "समता उसके सभी चार अर्थो मे ग्रहण करनी चाहिए।"[2] समता का आदर्श भले ही कल्पना मात्र लगे, पर डॉ. लोहिया ने हृदय और मन से उसके लिए व्यापक सघर्ष किया और कहा कि "लोग पागलपन के काम करेगे, यदि समता के लिए उनकी भूख शान्त नहीं की जाती है।"[3] मानव स्वतत्रता और उसके मूल अधिकारो को उन्होंने एकता की बुनियाद बतलाया। इसलिए उनका स्पष्ट कहना था कि "इसके अतिरिक्त, मानव अधिकारों का आनन्द, जो समस्त समता के आधार हैं विक्षब्ध नहीं होना चाहिए।"[4] इस प्रकार डॉ. लोहिया ने न केवल मौलिक अधिकारो, अपितु समस्त मानवाधिकारो को

---

1 डॉ. लोहिया मार्क्स गाँधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ – १७३

2 डॉ. लोहिया मार्क्स, गॉधी एण्ड सोशलिज्म (अग्रेजी), पृष्ठ – २४१

3 वही, पृष्ठ – २८६

4 वही पृष्ठ – २८६

सामाजिक आर्थिक राजनीतिक तथा धार्मिक विकास के लिए अनिवार्य बतलाया। इन्हीं की प्राप्ति से व्यक्ति एव समाज का जीवन उच्च और समृद्ध हो पायेगा।

५ ८ *अन्तर्राष्ट्रीय सबधी विचार एव समाजवादी चिन्तन*

डॉ॰ लोहिया अपने को देश–काल की सीमाओ से परे एक विश्व–नागरिक मानते थे। उनक समाजवादी दर्शन का स्वरूप विश्व–व्यापी है। उनका चरित्र अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका मुख्य कारण है कि डॉ॰ लोहिया नें एक सम्यक् एव व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। वह राष्ट्रीय स्तर से ऊपर उठकर विश्व व्यवस्था के विचार और सगठन को महत्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएँ अन्योन्याश्रित होती हैं वे एक दूसरे को प्रभावित ही नहीं करती, बल्कि एक दूसरे की पूरक भी होती हैं। इस आधार पर वे कहा करते थे कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्याय और अत्याचार का वातावरण रहता है तो किसी भी हालत मे राष्ट्रीय स्तर पर न्याय और सुव्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। यदि एक ओर उन्हे राष्ट्रीय हित का ध्यान था तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की भी वे अवहेलना नहीं कर सके। समता सम्पन्नता स्वतत्रता भ्रातृत्व आदि के उनके नारे केवल राष्ट्र के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे डॉ॰ लोहिया जिन सिद्धान्तो को प्रतिष्ठित करना चाहते थे वे हैं – विश्व समाजवाद का नवदर्शन, सयुक्त राष्ट्र सघ के पुनर्गठन का नया आधार विश्व–विकास समिति की पहल, विश्व–सरकार का स्वप्न, नि शस्त्रीकरण का सशक्त प्रतिपादन और अन्तर्राष्ट्रीयवाद।

विश्व के अभी तक के समाजवादी आन्दोलनो को डॉ॰ लोहिया ने राष्ट्रीय बन्धनो से जकडा हुआ पाया। उनके विचार से प्रारम्भ मे समाजवाद का विकास अन्तर्राष्ट्रीय विचार के रूप मे हुआ। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध में कुछ के अलावा ससार के समस्त समाजवादी दलो ने अपनी–अपनी पूँजीवादी सराकारो के प्रति विद्रोह करने के स्थान मे उनके साथ सहयोग किया। फलस्वरूप समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता बिखर गई। डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे योरोप के समाजवादी दलो की आस्था अन्तर्राष्ट्रीयता की अपेक्षा राष्ट्रीयता में अधिक रही है। समाजवाद की बुनियादी कमजोरी पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया कि योरोप का समाजवाद बहस तथा आँकडो तक ही सीमित है और वह किन्हीं बडे आदर्शों की व्यवहारिकता के लिए प्रोत्साहित नहीं करता। इसके विपरीत एशिया का समाजवाद आदर्शवादी एव उत्साही है, पर उसमे ठोसपन का अभाव है। **पूँजीवाद और साम्यवाद का अपना निश्चित पथ है, किन्तु समाजवाद का कोई निश्चित पथ नहीं है।** अत समाजवाद कहीं पूँजीवाद से मिल जाता है तो कहीं साम्यवाद से। समाजवाद को साम्यवाद या पूँजीवाद का अग नहीं

बनने देना चाहिए। उन्होने माना कि विश्व–व्यवस्था की स्थापना के लिए साम्यवाद और पूँजीवाद दोनो ही अपर्याप्त हैं। ये दोनो ही आर्थिक एव राजनीतिक केन्द्रीकरण के प्रतीक हैं।[1] डॉ॰ लोहिया के अनुसार "पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही व्यवस्थाओ मे जन–सस्कृति स्थूल और रूढिग्रस्त होती जाती है और जन जीवन को एक भद्दापन घेर लेता है।"[2]

डॉ॰ लोहिया का मत था कि पूँजीवादी और साम्यवादी गुटो ने विश्व को कोई भी वास्तविक उपलब्धि प्रदान नहीं की। पूँजीवादी गुट की जनतात्रिक और शान्तिमय परिवर्तन मे आस्था उसी प्रकार कृत्रिम है जिस प्रकार जीवन का समान स्तर बनाए रखने और निर्धनता मिटाने का साम्यवादी दावा। ये दोनो ही सभ्यताएँ एकागी है। उन्होने यह स्पष्ट कहा कि **"सारे मानवो को पेट भर अन्न"**, **"मन की आजादी की प्यास"** और **"युद्धबन्दी"** की तीन प्रमुख समस्याओ का समाधान न सोवियत गुट दे सकता है और न अमरीकी गुट।[3] लोहिया का कहना था कि दोनो ही वाह्य परिस्थिति के अनुसार प्रगति के आदर्श होने का दावा करते हैं लेकिन दुनिया के वास्तविक प्रश्नो को हल करने की क्षमता दोनो मे ही नहीं है। साम्यवादी और पूँजीवादी दोनो गुट क्रमश रोटी और सस्कृति अथवा पेट और मन अथवा आर्थिक लक्ष्य और सामान्य लक्ष्य के झूठे प्रतीक हैं। इस आधार पर पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों को यूरोपीय सभ्यता की भिन्न शाखाएँ बताकर लोहिया ने समाजवाद के एक नए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया।

उपर्युक्त एकागी सभ्यताओ से भिन्न एक **तृतीय सभ्यता** के सृजन का श्रेय डॉ॰ लोहिया को है। उन्होने एक ऐसे समाजवादी दर्शन का प्रतिपादन किया जिसका आधार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे समता, सम्पन्नता तथा "वसुधैव कुटुम्बकम्" का होगा।[4] और जो समाजवादी तथा पूँजीवादी गुटों के आपसी हानिकारक द्वन्द्व को समाप्त करेगा। **विश्व समाजवाद का नवीन दर्शन "अधिकतम कौशल" की जगह "सम्पूर्ण कौशल" की सभ्यता को जन्म देगा जिसमे राष्ट्रीय सीमाओ के अन्दर निरन्तर जीवन स्तर न बढ़कर, सभी राष्ट्रों मे एक अच्छा जीवन स्तर उत्पन्न होगा। यह नई सभ्यता समस्त ससार में लगभग समान उत्पादन द्वारा मानव जाति की समीपता, वर्ग तथा वर्ण और क्षेत्रीय विषमता का अन्त करने का प्रयत्न करेगी। इसकी तकनीकी और प्रशासकीय व्यवस्था इस आवश्यकता के अनुकूल होगी और विकेन्द्रित समुदायों की आपसी महत्ता के आधार पर तथा**

---

1 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी सोशलिज्म पृष्ठ – २८३

2 डॉ॰ लोहिया काचन–मुक्ति, नवहिन्द पब्लिकेशन्स्, बेगम बाजार, हेदराबाद १६५६ पृष्ठ – ३०

3 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ – २४३

4 डॉ॰ लोहिया इन्टरवल ड्यूरिंग पालिटिक्स, पृष्ठ – २२

मानवता की एकता द्वारा लोग अपना शासन स्वय चला सकेगे। मनुष्य समूह मे और व्यक्तिगत रूप मे अन्याय के विरूद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग कर सकेगा। इस समाजवादी विश्व व्यवस्था मे राष्ट्रो के अन्दर ही नहीं, अपितु राष्ट्रो के बीच सम्भव समता होगी। यह समता, भौतिक और अध्यात्मिक होगी।[1] इस सभ्यता के अन्तर्गत विश्व सरकार, विश्व-नागरिकता, मानव अधिकारो की मान्यता, जनतात्रिक प्रतिनिधित्व, श्रम की प्रतिष्ठा और मानव व्यक्तित्व के प्रति सम्मान आदि सुलभ होगे।

इस नवीन सभ्यता मे स्वतत्र और अधीन के सम्बन्ध नहीं होगे। इसमे अन्योन्याश्रित सम्बन्धो का साम्राज्य होगा। कोई राष्ट्र किसी से बडा या छोटा न समझा जायेगा। वे समानता के आधार पर अन्योन्याश्रित होगे। इसी प्रकार इसमे न तो मार्क्सवाद की तरह आत्मा पदार्थ के अधीन होगी और न ही गॉधीवाद की तरह पदार्थ आत्मा के अधीन। दोनो एक दूसरे को प्रभावित करते हुए एक दूसरे से सहयोग करेगे। वे अन्योन्याश्रित होगे। आत्मा और पदार्थ जैसा सम्बन्ध ही आर्थिक लक्ष्य और साधारण लक्ष्य राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, क्रान्ति और करूणा विचार आर शक्ति धर्म और राजनीति आदि के मध्य भी होगा। यहॉ कहीं भी द्वन्द्व नहीं। सर्वत्र सतुलन और सामजस्य की इसमे धूम होगी।

डॉ॰ लोहिया के दर्शन मे व्यक्ति ही साध्य और साधन माना गया है। वही समाज को परिवर्तित करता है और सभाज से स्वय मे भी परिवर्तन लाता है। डॉ॰ लोहिया ने व्यक्ति को गरिमा दायित्व अधिकार—चेतना से भर दिया है। इसके लिए शिक्षा रचनात्मक कार्य आदि की व्यवस्थाऍ साधन के रूप मे दे दी हैं। उन्होने यदि व्यक्ति के मन को सॅभाला है तो दूसरी तरफ उसके पेट के लिए भी योजनाऍ प्रस्तुत की हैं। उसके लिए जिन आध्यात्मिक और भौतिक व्यवस्थाओ की आवश्यकता होगी, वे सब उन्होने प्रस्तुत की है।

डॉ॰ लोहिया तीसरे खेमे तृतीय सभ्यता अथवा नव—समाजवादी दर्शन के समर्थक थे। वह तटस्थ गुट को मानते थे जिसकी वास्तविकता समदृष्टि पर आधारित है। तटस्थ राज्यो की भूमिका जैसा कि डॉ॰ लोहिया चाहते थे, निष्क्रिय, खोखली सिद्धान्तहीन तथा भयातुर न होकर ठोस सक्रिय, निर्भीक और सम्पूर्ण कौशल से युक्त होनी चाहिए। तटस्थ राज्यों का मतलब रूसी और अमेरिकी खेमो के बीच झूलते रहना नहीं है, अपितु वे निःस्वार्थ ढग से अन्तर्राष्ट्रीय समता के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित होगा, जिसे डॉ॰ लोहिया ने नव-समाजवादी दर्शन कहा है और यह आशा प्रकट की कि साम्यवादी और पूँजीवादी गुट अपने द्वन्द्व भूलकर सभवत उसी में समाहित हो जायेंगे। इसी से शक्तिपूर्ण सयुक्त राष्ट्रों के सघ का निर्माण होगा।

---

[1] डॉ॰ लोहिया नया समाज नयामन, पृष्ठ – ११

तटस्थ गुट और "तृतीय खेमे मे सबसे बडा अन्तर यह है कि तृतीय खेमा नवीन समाजवादी दर्शन पर आधारित होगा जबकि तटस्थ राज्य राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से किसी दर्शन विशेष के कारण नहीं अपितु केवल गुट निरपेक्षता–नीति के कारण गुटो से दूर रहते हैं। अत तटस्थ गुट अस्थायी है जब कि तृतीय खेमा निस्वार्थ ढग से अन्तर्राष्ट्रीय समता के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित होने के कारण स्थायी है। यह एक ऐसी विश्व–व्यवस्था है जिसके आकर्षण मे फॅसकर साम्यवादी और पूँजीवादी गुट अपने द्वन्द्व भूलकर सभवत उसी मे समाहित हो सकते हैं। **डॉ. लोहिया का नवीन समाजवादी दर्शन विभिन्न विरोधी तत्वो का मौलिकता युक्त सामजस्य है।** उनके विचार तो आशावादी और उचित है ।कन्तु कठिनाई यह है कि अभावो दुर्गुणो और मत–भिन्नता से आक्रान्त मानव किस प्रकार इस सभ्यता को प्राप्त करने हेतु सयमित तथा सगठित हो सकते हैं? काश सब मानव लोहिया होते।

डॉ. लोहिया सयुक्त राष्ट्र सघ का पुनर्गठन चाहते थे क्योकि उनकी दृष्टि मे यह सस्था विश्व शान्ति के लिए अपर्याप्त है। इस सस्था के मुख्य दोष सार्वभौमिकता का अभाव, सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता, निषेधाधिकार और असमानता है। उनका मत था कि शासनों के चरित्र के आधार पर सदस्यता का निषेध दलबन्दी और षडयन्त्रो को जन्म देता है। सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता और निषेधाधिकार के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वर्ण–व्यवस्था को वैधानिक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। स्थायी सदस्यो को विशेषाधिकार प्राप्त ब्राह्मण और अन्य सदस्यो को अछूत जैसा उपेक्षित बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त विश्व की १/३ (एक तिहाई) आबादी वाले योरोप को सयुक्त राष्ट्र सघ की सर्वोच्च कार्यपालिका मे तीन चौथाई मत दिया जाना और महासभा मे अधिक से अधिक मत दिया जाना विषमता का प्रतीक है।[1] उपर्युक्त दोषो के कारण डॉ. लोहिया के मत मे, मानव जाति की वास्तविक सस्था बनने के स्थान पर सयुक्त राष्ट्र सघ षडयत्रो का अखाडा बन गया है। इस प्रकार का सयुक्त राष्ट्र सघ रोग में अवरोध भले ही उत्पन्न कर दे, किन्तु उसे समाप्त न कर सकेगा क्योकि इसके निर्णय शक्ति और गुट के आधार पर लिए जाते हैं। यह समस्त राष्ट्रो को एक अन्तर्राष्ट्रीय सप्रभुता के अधीन नहीं ला सकता क्योकि यह विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक और सैनिक शक्तियो के असतुलन को समाप्त करने में असमर्थ है।[2]

---

1 देखिए, डॉ. लोहिया, विल टू पावर, पृष्ठ – ७५
डॉ. लोहिया, इतिहास चक्र पृष्ठ – ७६

2 डॉ. लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – ३६६

डॉ॰ लोहिया सयुक्त राष्ट्र सघ का इस प्रकार से पुनर्गठन चाहते थे कि प्रत्येक उस राष्ट्र को सदस्यता का अधिकार हो जो कि अपने मामलो को नियत्रित करने के लिए एक सरकार रखता हो। उनकी दृष्टि मे सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता और निषेधाधिकार (वीटो) को समाप्त कर विश्व को उच्च और नीच ब्राह्मण और शूद्र मे विभाजित होने से बचाने का प्रयास करना चाहिए। उनकी इच्छा थी कि सयुक्त राष्ट्र सघ का गठन इस प्रकार का हो कि वह मानव जाति के दिल और दिमाग को स्वीकार्य हो। वे चाहते थे कि सयुक्त राष्ट्र सघ का पुनर्गठन भविष्य की विश्व–सरकार के लिए एक अच्छी पृष्ठ–भूमि तैयार करे और राष्ट्रों के मध्य आर्थिक और सैनिक विषमताओ को समाप्त करे।

डॉ॰ लोहिया ने सयुक्त राष्ट्र सघ के पुनर्गठन के जो आधार बतलाए हैं वह बहुत ही आदर्शवादी एव व्यावहारिक है। विश्व की वर्तमान परिस्थितियो मे इन्हे व्यवहारिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता। आज के अपर्याप्त अधिकार वाले सयुक्त राष्ट्र सघ के आदेशो का राष्ट्र यदि पालन नहीं कर सकते हैं तो उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे एक पर्याप्त शक्तिशाली सघ का निर्माण कर सकेगे। सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता और वीटो की समाप्ति का प्रतिपादन कर डॉ॰ लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीय समता का स्वर्णिम आदर्श विश्व के समक्ष रखा है, किन्तु उनका विचार बालू मे से तेल निकालने के समान है। इस बात की आशा करना व्यर्थ है कि वे अपनी–अपनी निषेधाधिकार (वीटो) और स्थायी सदस्यता की विशेष स्थिति को छोडकर छोटे–छोटे राष्ट्रो के बहुमत से अपने को जकड़कर बॉध लेगे।

डॉ॰ लोहिया ने विश्व–शान्ति और सम्पूर्ण कौशल की नवीन सभ्यता की प्राप्ति हेतु एक विश्व विकास सस्था की स्थापना को अनिवार्य बतलाया। उनके मत मे विदेशी सहायता लेने और देने वाले दोनो राष्ट्रो को भ्रष्ट करती है। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्र के अन्दर भ्रष्टाचार, बेकारी, आलस्य, घूसखोरी बढती है। इतना ही नहीं कर्ज नीति और सहयोग नीति से गुटबन्दी और गुटबन्दी से विश्व–युद्ध की सभावनाओ को बल प्राप्त होता है।[1] कर्ज नीति का एक दोष यह भी है कि कर्ज देने वाले राष्ट्र अपने ही हितो की सुरक्षा के लिए कर्ज देते हैं, दूसरे राष्ट्रो के विकास के लिए नहीं। उपर्युक्त कारणों से डॉ. लोहिया ने कर्जनीति और विदेशी सहायता को अनुचित ठहराया और उसकी समाप्ति का प्रतिपादन किया। दूसरे देशों को कर्ज देने वाले राज्यों से उन्होंने कहा, "यदि आप विदेशी मदद देना चाहते हैं तो सारे विश्व को एक परिवार के रूप में समझें।"[2]

---

[1] डॉ॰ लोहिया इतिहास चक्र, पृष्ठ – ७६–७७

[2] डॉ॰ लोहिया इन्टरवल ड्युरिंग पालिटिक्स, पृष्ठ – २३

सम्पूर्ण विश्व के राष्ट्रो को एक परिवार के भाइयो की तरह एक दूसरे को सहयोग देने के लिए उन्होने विश्व–विकास सस्था के निर्माण का आदर्श रखा। इस विश्व–विकास सस्था को प्रत्येक राष्ट्र अपनी क्षमता के अनुसार चन्दा देगा और आवश्यकता के अनुसार सहयोग ले सकेगा। उनका मत था कि जब तक इस सस्था का निर्माण नहीं होता तब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद ऐसी आदर्श योजनाओ को लागू करने का प्रयत्न करेगा जो कि व्यापारिक सघो सहकारी समितियो, कृषक सगठनो तथा अन्य सब इच्छुक व्यक्तियो, द्वारा एकत्रित सयुक्त पूँजी पर अवलम्बित होगी। उदारवादी, शान्तिवादी और धार्मिक सगठन भी शुरूआत मे हाथ बँटाकर शामिल हो सकते हैं।[1]

विदेशी सहायता अथवा कर्ज नीति–उन्मूलन सम्बन्धी डॉ॰ लोहिया का विचार राष्ट्रो मे स्वावलम्बन और स्वाभिमान का भाव भरता है। उनका यह विचार भी उचित है कि राष्ट्र अपने हितो को ध्यान मे रखकर ही अन्य राष्ट्रो को सहायता देते हैं। किन्तु उनका यह कहना गलत है कि इससे सहायता पाने वाले राष्ट्र का हित नहीं होता और यदि हित नहीं होता तो इसमे सहयोग प्राप्त करने वाले राष्ट्र की अकुशलता का दोष है न कि सहयोग देने वाले राष्ट्र का। सहयोग देने वाला राष्ट्र तो उसी समय दोषी ठहराया जा सकता है जबकि वह अनुचित लाभ उठाये। अब यह सहयोग प्राप्त करने वाले राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह इस सबध मे सचेत रहे। आधुनिक युग मे यदि विदेशी सहयोग की व्यवस्था बन्द हो जाए तो विकासशील राष्ट्रो का विकास भी कम से कम आशिक रूप मे आबद्ध हो सकता है। जहॉ तक डॉ॰ लोहिया की **विश्व-विकास-समिति** की योजना का प्रश्न है, यह नि सन्देह सराहनीय है। इस योजना मे कोई दोष नहीं प्रतीत होता, सिवाय इसके कि उसे सभव किस तरीके से बनाया जाए। विश्व–विकास समिति की स्थापना तक डॉ॰ लोहिया ने विभिन्न सघों द्वारा विभिन्न राष्ट्रों के सहयोग के लिए जिस सयुक्त पूँजी के निर्माण की योजना दी है, मतैक्य के अभाव में, उसकी सम्भाव्यता पर भी सदेह होता है।

डॉ॰ लोहिया ने **विश्व सरकार** की स्थापना के स्वप्न को साकार बनाने के लिए राष्ट्रों मे मतैक्य की आवश्यकता पर बल दिया। उनके मतानुसार सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था ग्राम, मण्डल, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व जैसे पाँच खम्भों पर आधारित होगी। इन पाँच इकाइयो के अपने–अपने क्षेत्र में निश्चित अधिकार होंगे। विश्व–सरकार की ससद में दो सदन होगे। निम्न सदन के सदस्यो का चुनाव सीधे व्यस्क मतदाताओ द्वारा जनसख्या के आधार पर होगा और उच्च सदन में प्रत्येक छोटे–बड़े राज्य को

[1] डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ – ४६७

सामान प्रतिनिधित्व प्रदान होगा। विश्व–सरन्द वर्ग और वर्णहीन होगी तथा उसमे मानवीय निर्णय मानव जाति की जागृति के लिए होगे। प्रत्येक राष्ट्र के प्रतिरक्षा व्यय का कुछ हिस्सा विश्व–सरकार को देकर उसकी एक सेना खडी की जाएगी और अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय सेनाओ पर अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण स्थापित किया जाएगा।[1] डॉ॰ लोहिया ने कहा कि विश्व 'कार गुणो के आधार पर विवादो का समाधान करेगी न कि सैन्य अथवा अन्य प्रकार की शक्ति के आधार पर। मानव जाति के निर्णयो को कोई एक देश भग न कर सकेगा।

डॉ॰ लोहिया की विश्व सरकार की कल्पना प्लेटो के आदर्श राज्य के समान अव्यवहारिक प्रतीत होती है। आज तो छोटे से घर के भाई आपस मे मिल कर नहीं रह पाते तो हम यह आशा किस प्रकार करे कि आज के सप्रभुता सम्पन्न विशाल राज्य अपनी सर्वोच्च सत्ता और अह का त्याग करके विश्व व्यवस्था मे सम्मिलित हो जाएगे।

डॉ॰ लोहिया ने नि शस्त्रीकरण का सशक्त समर्थन किया, ताकि विभिन्न देशो के बीच युद्ध न हो। उनके मत मे शस्त्रास्त्रो के निर्माण से विश्व का तन, मन धन व्यर्थ जा रहा है और विश्व मे भय–आशका की स्थिति उत्पन्न हो रही है।[2] उनकी सलाह थी कि हथियारो के निर्माण मे व्यय होने वाली विश्व की राशि रचनात्मक कार्यो मे लगायी जानी चाहिए।

डॉ॰ लोहिया की दृष्टि मे अच्छे कार्यो को सम्पन्न करने के लिए भी हथियारो का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हथियार शक्ति को केन्द्रीकृत करते हैं। ये मानव के दिल को कमजोर बनाते हैं। इसके प्रयोग से मनुष्य इनका दास हो जाता है। यही कारण है कि महान् व्यक्तियो ने सदैव हथियारो को घृणा की दृष्टि से देखा है। उनका कहना था कि **"कठोरता और पशुता जनता और शासन दोनों के लिए त्याज्य है। इसलिए इस प्रकार का विश्व मस्तिष्क निर्मित करना चाहिए जो हिंसा से घृणा करे, किन्तु अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिकार करना सीखे।"**[3] डॉ॰ लोहिया के विचार में सच्चा और सफल नि शस्त्रीकरण तभी हो सकता है जब कि विश्व मे समानता स्थापित हो। मानव समाज के विकसित एक तिहाई और अविकसित दो तिहाई भागो की उत्पादन–शक्ति मे विशाल असमानता गभीर आर्थिक असन्तुलन उत्पन्न करती है जिससे विभिन्न प्रकार के सघर्ष उत्पन्न होते हैं और सम्पन्न भागों की निधियो की रक्षा के लिए शास्त्रास्त्रो की पागल होड प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए डॉ॰ लोहिया ने

---

1 इन्दूमती केलकर लोहिया सिद्धान्त और कर्म, पृष्ठ – ४०२

2 डॉ॰ लोहिया समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, पृष्ठ – १०७

3 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ – ३४

कहा "जब तक सम्पूर्ण ससार मे सभव समानता नहीं लायी जाती तब तक नि शस्त्रीकरण असभव है।"[1]

डॉ॰ लोहिया का मत था कि शस्त्रीकरण मे वृद्धि सफल सामूहिक सुरक्षा के अभाव का परिणाम है क्योकि सामूहिक सुरक्षा के अभाव मे अन्याय करने और अन्याय के प्रतिकार हेतु शस्त्रो का सृजन होता है। अत अन्याय शस्त्रो का जनक है। इसलिए उन्होने सुझाव दिया कि सफल नि शस्त्रीकरण हेतु विवेक सम्मत सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।[2]

डॉ॰ लोहिया का मानना था कि विषमता और अन्याय को समाप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सत्याग्रह किए जाने चाहिए। न्याय और समता की स्थापना के लिए यदि अहिंसात्मक उपाय नहीं किए जाते तो फिर हिंसा के द्वारा उसका प्रतिकार होगा और वह स्थिति भयावह तथा ससार नाशक होगी। विश्व के कोने-कोने मे अन्याय और विषमता के विरूद्ध सत्याग्रह छेडने पर जोर देकर उन्होने नि शस्त्रीकरण की कल्पना को व्यवहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया।

डॉ॰ लोहिया का विश्व-समाजवादी चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना से ओत-प्रोत है। इसका अर्थ है व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य राष्ट्रो से भी प्रेम करे। अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना विश्व के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग और परस्पर सद्भाव की वृद्धि करती है। डॉ॰ लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना को समृद्ध बनाने के लिए, नवीन विश्व-व्यवस्था के सृजन हेतु चार सूत्री योजना प्रस्तुत की – (१) एक देश की जो पूँजी आर्थिक शोषण के लिए लगी है उसे जब्त करना (२) विश्व भर के लोगो को ससार मे कहीं भी जाने और बसने का अधिकार हो, (३) विश्व के सभी राष्ट्रो की स्वतत्रता कायम रहे, और (४) विश्व-नागरिकता का प्रावधान सबको सुलभ हो।[3] साथ ही डॉ॰ लोहिया ने अपने अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विचार को साकार बनाने के लिए राष्ट्रों की सर्वांगीण समानता, जाति-प्रथा का उन्मूलन, रग-भेद की नीति की समाप्ति और विश्व-सरकार पर अत्याधिक बल दिया। सक्षेप मे, उनका अन्तर्राष्ट्रीयवाद सम्यक् दृष्टि, शान्ति और आशावाद का प्रतीक है।

---

1 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गॉधी एण्ड सोशलिज्म पृष्ठ – ४६६

2 डॉ॰ लोहिया आजाद हिन्दुस्तान मे नये रूझहान, पृष्ठ – १४

3 डॉ॰ लोहिया मार्क्स, गॉधी एण्ड सोशलिज्म, पृष्ठ – १५२-१५३

तृतीय खण्ड : पं० दीनदयाल उपाध्याय

षष्ठ अध्याय   प० दीनदयाल उपाध्याय का व्यक्तित्व एव कृतित्व

सप्तम् अध्याय   प० दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिन्तन

अष्टम् अध्याय   प० दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक चिन्तन

३ ६ पं॰ दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व एव कृतित्व

६ १ *जीवन-परिचय -*

भारतीय राष्ट्रवाद के महान चिन्तक प॰ दीनदयाल उपाध्याय का जन्म २५ सितम्बर सन् १६१६ को राजस्थान के धनकिया ग्राम मे हुआ था। यह स्थान उनके नाना का था जहॉ इनका पालन पोषण हुआ था।[1] उनके पिता का नाम भगवतीप्रसाद उपाध्याय तथा माता का नाम रामाप्यारी था। उनके पिता उत्तर प्रदेश मे जलेसर रोड रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर थे। जब दीनदयालजी तीन वर्ष की आयु के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया और सात वर्ष की आयु मे उनकी माता भी दिवगत हो गयीं। इसलिए उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उनके नाना के घर ही हुई। जब वे दस वर्ष के हुए तो इनके नाना का भी देहान्त हो गया। इस प्रकार इनका बचपन अनेक [illegible]त्तियो के साथ व्यतीत हुआ। धैर्य अनवरत अध्यवसाय और कष्ट–सहिष्णुता की अत्यधिक मात्रा का विकास भी उनके चरित्र मे उन प्रारम्भिक आपदाओ के साथ सघर्ष करने से ही हुआ था। यही कारण था कि एक के बाद एक आने वाले आघातो को वे सह सके और टूटे नहीं।

विद्यार्थी के रूप मे प॰ दीनदयाल उपाध्याय प्रतिभाशाली छात्र थे। बाल्यकाल मे ही दीनदयालजी मे तेजस्विता और मेधा के उदाहरण मिलने लगे। सभी कठिनाइयो के बावजूद दीनदयालजी की प्रतिभा हीरे की तरह चमकती–दमकती सामने आयी। उन्होने हाईस्कूल की परीक्षा १६३५ मे अजमेर बोर्ड से प्रथमश्रेणी मे उत्तीर्ण किया। उनका स्थान भी बोर्ड मे प्रथम था। उनकी रेखागणित की उत्तर–पुस्तिका इतनी श्रेष्ठ थी कि राजस्थान बोर्ड ने उसे कई वर्षो तक सुरक्षित रखा। उनकी तीव्र बुद्धि एव तेजस्विता से प्रभावित होकर सीकर महाराज ने उन्हे ढाई सौ रूपये नकद पुरस्कार सोने के दो मॉडल और दस रूपये मासिक छात्र वृत्ति प्रदान की।[2] इनके मामा प॰ राधारमण शुक्ल ने इण्टर करने के लिए उन्हे बिरला कॉलेज पिलानी भेज दिया। पिलानी मे वे छात्रावास में रहते थे। उन्होने सन् १६३७ की इण्टर परीक्षा मे भी बोर्ड मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर श्यामदास बिरला ने उन्हे ढाई सौ रूपये नकद दो स्वर्णपदक तथा दस रूपये मासिक छात्रवृत्ति प्रदान की। ये दोनो स्वर्णपदक आज भी इनके ममेरे भाई श्री प्रभुदयाल शुक्ल के पास सुरक्षित पड़े हैं।[3]

---

[1] देवधर विश्वनाथ नारायण उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड ७, पृष्ठ – ७–८ १६६१

[2] गुप्त तनसुखराय, प॰ दीनदयाल उपाध्याय सूर्य भारती प्रकाशन, पृष्ठ – ११ नई सड़क दिल्ली १६६२

[3] गुप्त तनसुखराय प॰ दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ – ११, १६६२

प॰ दीनदयाल उपाध्याय बी॰ ए॰ मे प्रवेश लेने के लिए कानपुर गए और वहाँ उन्होने सनातन धर्म कॉलेज मे प्रवेश लिया। गणित, सस्कृत के प्रति उनका तीव्र अनुराग था। अत बी॰ ए॰ मे उन्होने उपरोक्त विषयो को लिया। पढने मे उ।की अत्यधिक रूचि थी इसलिए वे रात को लालटेन जलाकर भी पढा करते थे। इस प्रकार उन्होने बी॰ ए॰ भी प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण किया तथा प्रथम स्थान प्राप्त किया।[1] सन् १६३६ मे वे एम॰ ए॰ मे अध्ययन करने के लिए सेण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा गए। उन्होने एम॰ ए॰ मे अग्रेजी विषय लिया। परन्तु दुर्भाग्यवश वे एम॰ ए॰ की उपाधि नहीं ले पाए क्योकि उनकी ममेरी बहन रोगग्रस्त हो गयी। यद्यपि उन्होने एम॰ ए॰ प्रथम वर्ष की परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त किया ' । उनकी ममेरी बहन की देखरेख करने वाला कोई नहीं था। उनकी ममेरी बहन की मृत्यु हो जान के कारण वे एम॰ ए॰ अन्तिम वर्ष की परीक्षा नहीं दे पाए। इसलिए दीनदयालजी एम॰ ए॰ की उपाधि ग्रहण नहीं कर पाए।

कॉलेज मे पढते समय उपाध्याय जी का हृदय देशभक्ति से भर चुका था। अत वे प्रशासनिक परीक्षा देना नहीं चाहते थे। परन्तु अपनी मामी के आग्रह से प्रशासनिक परीक्षा मे सम्मिलित हुए और प्रथम स्थान प्राप्त किया। मौखिक परीक्षा अथवा साक्षात्कार देने के लिए वे भारतीय वेश–भूषा मे ही गए क्योकि उनके पास सूट नहीं था। इस प्रतियोगिता मे भी उन्होने सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया परन्तु देश–सेवा की भावना से अभिभूत होकर वे प्रशासनिक सेवा मे जाना अस्वीकार कर दिए। वे अ।ने मामा की आज्ञा से एल॰ टी॰ परीक्षा गवर्नमेट कॉलेज से उत्तीर्ण किए। उपाध्याय जी केवल एक मघावी छात्र ही नहीं थे, अपितु एक अच्छे खिलाडी भी थे। उनके अन्दर नेतृत्व शक्ति छात्र जीवन से थी। प॰ दीनदयाल उपाध्याय का सम्बन्ध छात्र–जीवन मे ही कई क्षेत्रो से हो गया था। इसलिए उनका व्यक्तित्व बहुआयामी हो गया था। गगा के पावन प्रवाह के तट पर, क्रान्तिकारियो की भूमि कानपुर राजस्थान के उज्जवल इतिहास का प्रतीक सीकर व भारत का तीर्थराज प्रयाग, इन सभी स्थानो ने उनके जीवन प्रवाह को गतिमान किया। क्रान्तिकारियो की देशभक्ति, राजस्थान का पराक्रम एव पावन प्रयाग की पवित्र त्रिवेणी दीनदयालजी के व्यक्तित्व मे प्रकट हुई। उनके ऊपर जैसे–जैसे दायित्व आने लगे उनका व्यक्तित्व वैसे ही निखरने लगा।

६:२ प्रभावशाली अध्यापक -

प॰ दीनदयाल उपाध्याय का शिक्षा के प्रति विशेष अनुराग था। वे एक उच्चकोटि के विचारक । लखनपुर जिले मे एक हाईस्कूल था जहॉ वे निःशुल्क अध्यापन का कार्य करते थे।[2] उनकी

---

[1] उपाध्याय दीनदयाल, राष्ट्र जीवन की दिशा, पृष्ठ – २१०, लखनऊ १६७६

[2] उपाध्याय, दीनदयाल, राष्ट्र जीवन की दिशा, पृष्ठ – २११, लखलऊ १६७६

प्रतिभा से प्रभावित होकर उस विद्यालय के प्रबधक ने उन्हे प्रधानाध्यापक के पद पर आसीन करने की इच्छा प्रकट की परन्तु दीनदयालजी ने उसे अस्वीकार कर दिया।

६ ३ *कुशल पत्रकार एव रचनाकार* -

दीनदयालजी एक सतत अध्येता विद्वान और प्रखर चिन्तक थे। वे कर्मवीर थे न कि निरपेक्ष सिद्धान्तवादी। वे एक कुशल पत्रकार एव रचनाकार भी थे। उन्होने कई पत्रो का सम्पादन एव प्रकाशन किया। वे एक अच्छे लेखक के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त करने लगे। उनके लेखो की चर्चा प्राय हर बौद्धिक क्षेत्रो मे होने लगी। अत उन्होने दैनिक स्वदेश नाम का भी पत्र प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार वे एक कुशल पत्रकार के रूप मे भी हमारे सामने आते हैं।

उपाध्याय जी एक प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। उनके लेख प्राय पाञ्चजन्य राष्ट्रधर्म तथा ऑर्गनाइजर मे छपते थे। ऑर्गनाइजर मे वे नियमित लिखा करते थे। उनके लेख देश की सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक नीतियो से सम्बन्धित रहते थे। उनके लेख एक पथ–प्रदर्शक का काम करते थे।

दीनदयालजी ने लेखो के अतिरिक्त कई पुस्तके भी लिखी हैं। उनकी पुस्तको मे "सम्राट चन्द्रगुप्त" तथा "जगद्गुरू श्री शकराचार्य" विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।[1] यद्यपि उन्होने केवल इन पुस्तको मे जीवन–परिचय ही लिखा है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उन पुस्तको का अपना विशिष्ट स्थान है। "सम्राट चन्द्रगुप्त" की भूमिका मे उन्होने उन ऐतिहासिक तथ्यो को मानने से इन्कार किया है जो पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर पाश्चात्य चिन्तको के प्रभाव से प्रभावित होकर लिखे गए हैं। उन्होने प्राचीन ग्रन्थो को आधार बनाकर इस पुस्तक मे ऐतिहासिक तथ्यो को लिखा है।

"जगद्गुरू श्री शकराचार्य" नामक पुस्तक मे दीनदयालजी ने उनके पावन चरित्र का वर्णन करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि वे एक कुशल सगठनकर्त्ता एव हिन्दू राष्ट्र को नवीन चेतना पैदा करने वाले महान सत थे। उनकी आज भी उतनी ही उपादेयता है जितनी प्राचीन समय मे थी।

इसके अतिरिक्त उन्होने कई अन्य महत्वपूर्ण पुस्तको को भी लिखा। "भारतीय अर्थनीति", "विकास की दिशा" नामक पुस्तको का विशेष महत्व है।[2] क्योकि आर्थिक चिन्तन के क्षेत्र में उन्होने

---

[1] प. दीनदयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खण्ड–१, पृष्ठ – ३६
सुरूचि प्रकाशन, नयी दिल्ली

[2] प. दीनदयाल उपाध्याय, विचार–दर्शन खण्ड–१ पृष्ठ – ३६
सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली

भारतीय अर्थनीति की उपादेयता को बतलाने का प्रयास किया है। "राष्ट्र चिन्तन" तथा "राष्ट्र जीवन की दिशा नामक पुस्तको मे उनके कई निबन्ध सग्रहित हैं।

पचवर्षीय योजनाओ पर भी उन्होने अग्रेजी मे **"दी टू प्लेन्स प्रामिसेस तथा परफार्मेन्स एण्ड प्रासपेक्ट्स"** नामक पुस्तक लिखी जो आर्थिक क्षेत्रो मे एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप मे प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त हमारा काश्मीर, महान विश्वासघात अखण्ड भारत टैक्स या लूट इन्ट्रेगल ह्यूमैनिज्म" "एकात्ममानववाद", "जनसघ सिद्धान्त और नीति "अमेरिकी अनाज पी एल ४८०" "बेकारी की समस्या और उसका हल" आदि उनकी अनेक पुस्तके हैं जिनका सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक साहित्य मे अमूल्य योगदान है।

६'४ सामाजिक कार्यकर्त्ता -

दीनदयालजी का छात्र–जीवन मे ही राष्ट्रीय स्वय सेवक राघ से सम्बन्ध स्थापित हो गया था। अत उनके जीवन पर इसका विशेष प्रभाव पडा। बी॰ ए॰ मे ही व जिस छात्रावास मे रहते थे उसके गणनायक बना दिए गए। वे १६३७ मे ही इसके पदाधिकारी बन गए। सघ की विचारधारा को उन्होने केवल सिद्धान्त के ही रूप मे ग्रहण नहीं किया अपितु इसको उन्होने अपने जीवन मे भी उतारा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सघ की विचारधारा उनके जीवन का दर्शन बन गयी।[1]

सन् १६३६ मे एम॰ ए॰ मे अध्ययन करने के लिए वे आगरा गए। वहॉ पर "राजा की मण्डी" मे सघ की शाखा लगाना प्रारम्भ कर दी। कानपुर के स्वय सेवक रहते हुए उन्होने सघ के अधिकारी शिक्षण शिविर (ओ॰ टी॰ सी॰) मे भाग लिया। उन दिनो ४० दिवसीय शिक्षण शिविर केवल नागपुर में ही लगता था। शिक्षण के अन्त मे अन्यान्य विषयो की परीक्षाओ के अतिरिक्त "बौद्धिक" का (सामान्य ज्ञान) लिखित पत्र होता था। दीनदयालजी ने उत्तर के अधिकाश भाग पद्य मे लिखे।[2] इस प्रकार शिक्षण और सध कार्य साथ–साथ चलते रहे।

शिक्षण कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात्, जीवन में सघ की विचारधारा को पूर्णतः आत्मसात कर लेने के कारण, उन्होंने देश के हित के लिए राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का प्रचारक बनना स्वीकार किया। वे उत्तर प्रदेश के लखीमपुर जिले की एक तहसील मे प्रचारक के रूप में सन् १६४२ मे

---

[1] गोलवलकर, ठेगडी दत्तोपन्त, दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति और विचार पृष्ठ – ३, जागृति प्रकाशन व्यक्तिवाद १६६२

[2] गुप्त, तनसुखराम प॰ दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ – १४

नियुक्त हुए। अपनी स्वाभाविक प्रतिभा महानता और कार्यकुशलता के प्रचार कार्य के तीन वर्षो मे ही सन् १६४५ मे वे सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के सह प्रान्त प्रचारक बना दिए गए। जैसे-जैसे उनके ऊपर व्यापक जिम्मेदारियॉ आती गयीं, उनका व्यक्तित्व अधिकाधिक निखरने लगा किन्तु बहुविध प्रतिभा सम्पन्न दीनदयालजी केवल सगठन कार्य तक ही सीमित नहीं रहे। जो भी नया कार्य करने का उनको अवसर मिला, उसी मे वे अग्रणी सिद्ध हुए। सन् १६४८ मे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ की बढती हुई लोकप्रियता से काग्रेसी सरकार विद्वेष करने लगी। शासन का दमन चक्र तेजी से चलने लगा। उसने सघ पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सरकार ने राष्ट्रधर्म प्रकाशन के सभी अखबार बन्द कर दिए। किन्तु चाणक्य जैसी कुशाग्र बुद्धि वाले दीनदयालजी को यह कैसे सहन हो सकता था। एक पत्र बन्द होने पर वे दूसरा पत्र निकाल देते थे। सरकार परेशान हो गई किन्तु उनकी कलम को सरकार रोक नहीं सकी।

राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ पर से प्रतिबन्ध हटाने के लिए दीनदयालजी के नेतृत्व मे एक बहुत बडा अहिसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन पूर्णत अहिंसात्मक था। सघ को हिंसावादी सिद्ध करने के लिए सरकार ने प्रत्येक स्थानो पर सत्याग्रही स्वय सेवको को उत्तेजित करने के लिए बर्बर अत्याचार किया लेकिन सत्याग्रह का सचालन इतनी कुशलता के साथ वे कर रहे थे कि एक भी दुर्धटना नहीं हो सकी सत्याग्रह प्रारम्भ से अन्त तक पूर्णतया शक्तिमय रहा। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के सभी दायित्वो को अपने कधो पर लेकर प. दीनदयालजी ने उसे पूर्णतया सम्पन्न बनाया। इस सत्याग्रह आन्दोलन ने उनकी छवि को इतना निखारा कि उनकी राजनैतिक क्षेत्रो मे चर्चा होने लगी। काग्रेसी सरकार यह चाहती थी कि आन्दोलन को हिंसात्मक रूप मे परिणत करवा दिया जाए जिससे यह सिद्ध करने मे सफलता मिल जाए कि राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ एक हिंसात्मक सगठन है

६:५ राजनीतिक क्षितिज पर युगचेता का नेतृत्व -

भारत के विभाजन से क्षुब्ध होकर डॉ. श्याम प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व मे सन् १६५१ में 'भारतीय जनसघ' की स्थापना हुई। जो हिन्दू राजनीतिक विचारो और आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व करता था। इस दल को हिन्दू सस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। इस दल ने हिन्दुओ की एकता को अधिक महत्व दिया। २१ सितम्बर १६५१ को प. दीनदयाल उपाध्याय ने लखनऊ मे उत्तर-प्रदेश का सम्मेलन बुलाकर प्रादेशिक जनसघ की स्थापना की। सन् १६५२ मे प. दीनदयाल उपाध्याय जी की प्रतिभा एव

सगठन की कुशलता को देखकर उन्हे अखिल भारतीय महामत्री बनाया गया। इस पद पर वे निरन्तर १९६७ तक रहकर राजनैतिक दूरदर्शिता के साथ सचालन किया।[1]

काग्रस सरकार द्वारा कश्मीर समस्या की उपेक्षा देखकर जनसघ ने "एक देश मे एक प्रधान", "एक विधान और एक निशान" का लक्ष्य रखकर सत्याग्रह छेड दिया। इस सत्याग्रह का नेतृत्व ५. दीनदयाल उपाध्याय कर रहे थे। इस सत्याग्रह मे डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी को बलिदान देना पडा।

दीनदयालजी जब इग्लैण्ड गए तो उन्हे लगा कि यहॉ के सहस्त्रो भारतीय विद्यार्थियो और एक लाख से अधिक इग्लैण्ड मे बसे भारतीय परिवार मे जनतत्र की विचारधारा फैलनी चाहिए, उन्हे जनसघ की यह कल्पना होनी चाहिए। क्योकि जनसघ के बारे मे वहॉ के भारतीय दूतावास को भी गलतफहमी थी और वे उसे "जनसघ – एक हिन्दू सम्प्रदायवादी सस्था" के माध्यम से ही जानते थे। इन सभी गलतफहमियो को दूर करने के लिए और इग्लैण्ड से लौटने पर भारत मे आने वाले भारतीय के ह्रदय मे मातृभूमि और पितृभूमि, पुण्यभूमि के प्रति स्वाभाविक प्रेम जागृत करने हेतु कृष्ण मेनन की "इण्डिया लीग" की तरह लदन मे "जनसघ फोरम" की स्थापना की।[2]

भारत की राजनीति को नई दिशा देने के लिए जनसघ की स्थापना हुई थी। दीनदयालजी जनतत्र के उद्देश्य की चचा करते हुए लिखा था – "हमारा कर्त्तव्य व्यक्तिगत हो या सामाजिक, उसका आधार जब तक धर्म नहीं बन जाता, मनुष्य की मूल प्रवृत्ति मे न तो परिवर्तन होगा, न ही समाज की आवश्यकताओ तथा व्यक्ति की आकाक्षाओ मे सामजस्य निर्माण किया जा सकेगा। भारतीय सत्तारूढ दल हो या विपक्ष, दोनो ने ही आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा की है। इसलिए भारतीय जनसघ को इसी काम के लिए जन्म लेना पडा है। स्वधर्म और स्वराज्य एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। उपाध्याय जी के 'धर्म' शब्द का अर्थ उपासना, पथ या सम्प्रदाय आदि नहीं है। समाज की धारणा करने वाला दर्शन ही इसका अर्थ है। इसलिए जनसघ तात्कालिक सत्तानीति के लिए पैदा नहीं हुआ है। भारत के प्राचीन सास्कृतिक मूल्यो का आधार लेकर युग के अनुकूल परिवर्तन वह करना चाहता है।"[3]

---

1 भारत विति आर्थिक लोकतत्र विशेषाक पृष्ठ – २४ लखनऊ १९७९

2 गुप्त तनसुखराम प. दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ – २२

3 पाचजन्य २५ जनवरी, १९६०

सस्कृतिनिष्ठा जनसघ के राष्ट्रीय जीवन दर्शन का पहला सूत्र है। दूसरा सूत्र यह है कि भारतीय सस्कृति की एकात्मवादिता के कारण भारत का जीवन–दृष्टिकोण भी एकात्मवादी है। इसलिए मानव या समाज के विकास का विचार भी जनसघ इसी दृष्टि से करता है। उनका तीसरा सूत्र यह है कि व्यक्ति और समाज के हितो का विचार सघर्ष की दृष्टि से न करते हुए समन्वय की भावना से करना चाहिए। चौथे सूत्र के अनुसार, व्यक्ति समाज का साधन है, ज्ञानतत्तु है। व्यक्ति का नाश हो गया तो समाज पगु हो जाएगा। व्यक्ति की पूर्णता ही समाज की पूर्णता का माप है। इसलिए व्यक्ति स्वातत्र्य एव समाजहित परस्पर विरोधी नहीं है। पॉचवा सूत्र मे ऐसा मानना है कि, व्यक्ति के विकास के लिए भारतीय सामाजिक दर्शन मे स्वीकार किए गए चारो पुरूषार्थ–धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष आवश्यक है। छठॉ सूत्र, जनसघ का यह विश्वास है कि धर्म राज्य ही आदर्श राज्य हुआ करता है।[1]

काग्रेस सरकार ने तीन महत्वपूर्ण निर्णय लिए थे। पहला निर्णय – किसी भी सत्ता गुट मे या सैनिक सन्धि मे सहभागी न होते हुए तपस्या की नीति पर चलना, दूसरा निर्णय – आर्थिक नियोजन तथा तीसरा निर्णय – मिश्रित अर्थव्यवस्था का था। जनसघ ने इन तीनो के बारे मे विचार कर अपनी भूमिका पक्की की थी। इन सभी विचारो का सूत्रपात दीनदयालजी ही करते थे। वही इसके प्रतिपादक थे। सभी अर्थो मे दीनदयालजी ही जनसघ के गुरू थे। विजयवाडा मे सन् १९५५ में हुए जनसघ के अधिवेशन मे दीनदयालजी के "एकात्ममानववाद" को प्रकट रूप मे स्वीकार किया गया। भाषा सस्कृति, भारत–पाक सम्बन्ध, "सविद सरकारे", चुनाव नीति, आर्थिक नीति, पचवर्षीय योजना विकेन्द्रीकरण आदि विषयों के बारे मे जनसघ की नीति एव विचार दीनदयालजी के ही विचार होते थे। जनसघ की आर्थिक नीतियो के बारे मे पारित प्रस्तावो की सकलन पुस्तिका की प्रस्तावना मे श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने स्पष्ट शब्दो मे उनको "जनसघ की आर्थिक नीति का रचनाकार" बताया।[2] जनसघ के आर्थिक प्रस्ताव तैयार करने का दायित्व दीनदयालजी पर ही होने के कारण वे स्वय सामान्य जन के दु खों तथा समस्याओं को प्रत्यक्ष मे उनसे मिलकर समझ लेने का प्रयास करते थे। उस प्रकार वे सच्चे अर्थो में जनता के सजग प्रहरी थे।

---

1 केलकर, भारतचन्द्र कृष्णाजी उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड–३, पृष्ठ – ४१, ४२, केशव कुन्ज झण्डेवाला, नई दिल्ली, १९९०

2 Economic Policy Resotutions of B J S
Published by B.J S Bombay, April 1964

काग्रेस के अत्यधिक प्रचार के कारण सबको यह सदेह था कि जनसघ की जडे जनमानस मे जाएगीं या नहीं। किन्तु निष्ठा, दीर्घ परिश्रम के कारण जनसघ ने पूरे देश मे अपना सिद्धान्त फैलाया। डॉ॰ श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व मे उसे राजनीतिक प्रसिद्धि शीघ्र प्राप्त हो गयी। डॉ॰ मुखर्जी विनोद से कहा करते थे "पडित नेहरू जनसघ के उत्तम प्रचारक है, क्योकि वे जनसघ पर प्रत्यक्ष आरोप लगाते रहते हैं जिसके फलस्वरूप जनसघ को अपने आप प्रसिद्धि प्राप्त होती है।[1] जनसघ का प्रसार करने वाली "आर्गनाइजर" जैसी कुछ साप्ताहिक पत्रिकाए और कुछ दैनिक भी थे। जनसघ के सदस्य लोकसभा मे पहुँचे तो श्री अटल बिहारी बाजपेयी जैसा प्रभावी वक्ता के कारण जनसघ का मत जनता के सामने आने लगा। स्वय दीनदयालजी राजनैतिक दैनदिनी आर्गनाइजर मे लिखा करते थे। वह एक प्रकार से, कार्यकर्त्ताओ एव जनता के साथ उनका सैद्धातिक सवाद होता था। शोभा–यात्रा जनसघ की विशेषता थी। जनसघ के राष्ट्रीय एव स्थानीय प्रश्नो को लेकर होने वाले आन्दोलनो का प्रसार करने के लिए उनका उपयोग होता था।[2] प्रतिकूल परिस्थिति म भी चुनाव लडकर १९५२ से १९६७ तक स्वतत्र विचारधारा वाले राजनीतिक दल के रूप ने जनसघ ने नाम अर्जित किया। दिसम्बर १९६७ के अन्त मे वे जनसघ के अखिल भारतीय अध्यक्ष बने। अध्यक्ष के रूप मे उन्होने जनसघ के इतिहास मे एक महान परिवर्तन किया जिसके परिणामस्वरूप सगठन मे एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई। उनके कुशल नेतृत्व के कारण पहले ही चुनाव मे जनसघ को सारे देश मे ३१ प्रतिशत मत मिले थे। अत चुनाव आयोग ने जनसघ को अखिल भारतीय दल के रूप मे मान्यता दी। बाद के १६ वर्षो मे जनसघ ने चुनाव मे जो मत प्राप्त किए वे सब उसके राजनीतिक प्रभाव के कारण मिले थे। इन सारे प्रसार और प्रचार मे दीनदयालजी का बड़ा योगदान था। दिल्ली के राजनीतिक सूत्रो में जनसघ के राष्ट्रवादी विचारो का सुप्त प्रभाव था। राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप मे जनसघ मे उन्होने राजनीतिक प्रतिष्ठा तो अर्जित की ही थी, भारतीय राजनीति मे एक स्थिर ध्रुव (स्टेबल पोल) के नाते भी वह जाना जाने लगे थे। जनसघ के प्रचार, प्रसार एव वैचारिक प्रभाव का यह उत्तम फल था। दीनदयालजी ने दल के लिए जो आदर्श रखा था, वह मात्र जनसंघ के लिए नहीं, बल्कि भारतीय राजनीति के लिए भी आदर्श था। उनका मार्गदर्शक सूत्र यही था कि अनुशासित दल ही अनुशासनबद्ध शासन का निर्माण कर सकता है।

---

[1] केलकर, भालचन्द्र, कृष्णा जी प॰ दीनदयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खण्ड–३ पृष्ठ – ७४, दिल्ली १९२०

[2] केलकर भालचन्द्र, कृष्णा जी, प॰ दीनदयाल उपाध्याय विचार–दर्शन, खण्ड–३ पृष्ठ – ७४ दिल्ली १९२०

६ ६ *महामानव की महायात्रा -*

११ फरवरी १९६८ रविवार को सभी भारतवासियो ने यह दुखद समाचार सुना कि प. दीनदयालजी की हत्या रात्रि को मुगलसराय मे कर दी गई। भारत का जनमानस हिल गया और भारत शोक सागर मे डूब गया। भगवान् श्री कृष्ण की मृत्यु तीर लगने से हुई थी स्वामी श्रद्धानन्द का दिल्ली के चॉदनी चौक मे कत्ल हुआ, महात्मा गॉधी पर गोली चलायी गई थी जॉन कनेडी को भी गोली का निशाना बनाया गया था। उन्हीं महापुरूषो की माला मे एक मनका और जुड गया – प. दीनदयाल उपाध्याय। रात्रि के अन्धकार मे चलती गाडी मे इनकी नृशस हत्या कर दी गयी। प. अटल बिहारी बाजपेयी ने श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहा कि – "सूर्य ढल गया। अब हमे तारो के प्रकाश मे मार्ग खोजना होगा।" रात्रि को दीनदयालजी के पार्थिव शरीर को लेकर विमान दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पर उतरा। कडाके की सर्दी मे भी हवाई अड्डे पर हजारो नागरिक, सघ और जनसघ के कार्यकर्ता नगर निगम के सदस्य, महानगर परिषद के पार्षद तथा नेतागण उपस्थित थे। बम्बई से सर्वश्री नानाजी देशमुख, तच्छराज व्यास, रामभाऊ गोडबोले (प्रदेश सगठन मत्री) हवाई अड्डे पर पहुँचे थे। आन्ध्र के जनसघ नेता श्री जुपुडी यज्ञ नारायण काग्रेस ससदीय दल के सचिव श्री चन्द्रशेखर तथा श्री वेकटसुआई भी उपस्थित थे।

रात्रि लगभग एक बजे पडित दीनदयालजी का पार्थिव शरीर अपने निवास स्थल पर पहुँचा। अटल बिहारी बाजपेयी अपने साथी, मित्र, नेता को घर वापस तो ले आए किन्तु उसमे आत्मा न थी, न ही जीवन था। इस युग की महान विभूति, भारतीयता के ज्वलत प्रतीक, श्रम, सौजन्य और शालीनता के देवता एव अजातशत्रु का पार्थिव शरीर बर्फ की सिल्लियो पर व्यवस्थित एव सुसज्जित स्थान मे दर्शनार्थ एव श्रद्धाजलि अर्पणार्थ रख दिया गया।

अरूणोदय हो रहा था। भगवान सूर्य भी उस तपस्वी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए रक्त–रश्मि–माला लिए क्षितिज से ऊपर उठ रहे थे। भारत के उपप्रधानमत्री मोरारजी देसाई सबसे पहले अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने पहुँचे। उनके जाने के पश्चात् भारत की महामान्य श्रीमती इन्दिरा गाँधी दिवगत नेता के दर्शनार्थ और श्रद्धाजलि देने के लिए पहुँची। फिर थोड़ी ही देर में राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन ने प. दीनदयालजी को अपनी भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की। तत्पश्चात् क्रम से लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री नीलम सजीव रेड्डी, श्री सत्यनारायण सिह, श्री फखरूद्दीन अलीअहमद, आचार्य जे. वी. कृपलानी, श्रमती सुवेना कृपलानी, श्री हुमॉयू कबीर, जम्मू काश्मीर के तत्कालीन मुख्यमत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद आदि उच्च नेताओ ने उस महान आत्मा को अपनी श्रद्धाजलि दी।

प्रात लोक सभा और राज्यसभा के दोनो सदना के एकत्र बजट अधिवेशन के प्रारम्भ होने से पूर्व पडित दीनदयाल उपाध्याय जी को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की गयी। ११३० पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री श्री चरण सिह पजाब के मुख्यमत्री श्री लक्ष्मण सिह गिल श्री जय प्रकाश नारायण एव उनकी धर्म पत्नी लाल बहादुर शास्त्री के सुपुत्र श्री हरिकृष्ण जी ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

एक ओर श्रद्धाजलि अर्पित करने का कार्य निरन्तर अबाध गति से चल रहा था दूसरी ओर बाहर शवयात्रा के लिए विमान की तैयारी चल रही थी। भगवे वस्त्रो तथा जनसघ के ध्वजो से चारो ओर से सजायी गयी पुष्प सैय्या दिवगत नेता को लिटाकर अन्तिम विदाई देने के लिए बनायी जा रही थी। जनपथ के कनाट प्लेस चौराहे पर विभिन्न व्यावसायिक एसोसिएशनो द्वारा माल्यार्पण किया गया। इसी समय ससद के बजट अधिवेशन से लौटकर आए जनसघ नेताओ सर्वश्री अटल बिहारी बाजपेयी, बलराज माधोक, कवर लाल गुप्त, एम॰ एल॰ सोधी आदि ने जुलूस मे प्रवेश किया।

अजमेरी गेट, जनसघ का दिल्ली कार्यालय जहॉ के कण–कण मे प॰ दीनदयाल उपाध्याय की स्मृतियॉ बिखरी थी, जहॉ बैठकर उन्होने विश्व को एकमात्र मानववाद का सदेश दिया था, जहॉ उन्होने विस्मृत "चिति" और "विराट" का पुनरूद्धार किया था डॉ॰ श्याम प्रसाद मुखर्जी के उत्तराधिकारी के नाते अपने रक्त की एक–एक बूॅद से उनके स्वप्नो को साकार करने के लिए अहर्निश कार्य किया था। आज वही अजमेरी डोर अपने निर्माता, मत्र दृष्टा को अपनी अतिम विदाई देने भाव विह्वल होकर प्रस्तुत था।

दिल्ली के कट्टर धार्मिक व्यक्तित्वो तथा महापुरूषो का दाह सस्कार करने के लिए यमुना तट स्थित निगम बोध घाट श्मशान को ही महत्व दिया जाता है।[1] ११ फरवरी से ही प॰ दीनदयाल उपाध्याय की अतिम क्रिया के लिए निगम बोध घाट की व्यवस्था की गई थी। दीनदयालजी के ममेरे भाई श्री प्रभु दयाल शुक्ल ने मन्त्रोच्चारण के बीच चिता की तीन बार परिक्रमा कर के अग्नि प्रज्वलित कर दी। हिन्दू सस्कृति के अनुसार पण्डित जी की अस्थियों को सगम में प्रवाहित करने का निश्चय किया गया।[2] उनके अस्थि कलश को दिल्ली से प्रयाग लाने की तैयारी की गई। जब इनका अस्थि–कलश प्रयाग पहुॅचा तो हजारों लोग अश्रुपूरित नेत्रों से माल्यार्पण करने के लिए सगम आ

---

[1] भारत चिति, लखनऊ, १६७६, पृष्ठ – ३६

[2] भारत चिति, लखनऊ, १६७६, पृष्ठ – ४०

पहुँचे। कुछ धटो के पश्चात् अस्थियॉ त्रिवेणी सगम मे प्रवाहित कर दी गई। इस हुतात्मा को गगा–यमुना ने एक साथ अपने ऑचल मे समेट लिया। इस प्रकार इस सामाजिक एव राजनैतिक दार्शनिक की अन्तिम यात्रा समाप्त हुई।

६ ७ दीनदयाल के चिन्तन का दार्शनिक आधार -

दीनदयालजी हिन्दू विचारधारा के अनुयायी थे। उनका कथन था कि हिन्दू सस्कृति की विशेषता यह है कि वह सपूर्ण जीवन का, सपूर्ण सृष्टि का सकलित विचार करती है। उसकी दृष्टि एकात्मवादी है। वे कहते हैं कि टुकडे–टुकडो मे विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं। उनका कथन है कि पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के सम्बन्ध मे टुकडे–टुकडो मे विचार और फिर उन सबको थेजली लगा–लगाकर जोडने का प्रयत्न है।[1] वे कहते हैं "हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन मे अनेकता अर्थात् विविधता है किन्तु उसके मूल मे निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पूर्णत वैज्ञानिक है। विज्ञानवेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत् मे देखने वाली अव्यवस्था मे से व्यवस्था ढूढकर निकाले।[2] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दीनदयालजी के चिन्तन के लिए प्रेरणा हिन्दू ग्रन्थो से ही मिली। उनके प्रेरणा के स्रोत आदिगुरू शकराचार्य मुख्य रूप से रहे हैं।

दीनदयालजी को केवल हिन्दू साहित्य का ही ज्ञान नहीं था अपितु पश्चिमी साहित्य में भी उनकी अद्भुत गति थी। उनका कथन था कि धर्म भारत के इतिहास मे महत्वपूर्ण नियामक सिद्धान्त रहा है। अत भारत का तत्व धर्म है। इसे वे हिन्दू ऋषियो की विशिष्ट देन मानते हैं तथा अपने दर्शन की नींव का निर्माण इसी पर करते हैं। धर्म मूल्यो का समन्वय और अनुभूतियो का सगठन है। उसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करता है।

दीनदयाल उपाध्याय मानतावादी चिन्तक हैं। वे अपने मानववाद को **"एकात्म मानववाद"** कहते हैं। एकात्म मानव दर्शन का अर्थ है मानव जीवन तथा सम्पूर्ण प्रकृति के एकात्म सबधों का दर्शन।[3]

[1] सागर कृष्णानन्द दीनदयाल उपाध्याय की वाणी, पृष्ठ – १४, नयी दिल्ली १९९२

[2] भारत – चिति पृष्ठ – १४५

[3] नेने विनायक वासुदेव, प. दीनदयाल उपाध्याय, विचार दर्शन खण्ड–२, पृष्ठ – ११

एकात्म मानववाद मानव का सर्वांगीण विकास उसके सभी अगो यथा शरीर मन बुद्धि और आत्मा को ध्यान मे रखते हुए करता है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास मे उसकी भौतिक प्रगति के साथ-साथ नैतिक एव आध्यात्मिक उन्नति भी समाविष्ट है।

दीनदयाल के अनुसार "व्यक्ति-जीवन का सर्वांगीण तथा चारो पुरूषार्थो के अनुसार विचार करने वाला उसके लिए प्रयत्नशील रहने वाला और साथ ही व्यक्ति से लेकर विश्वमानव तक परिवार राष्ट्र आदि विविध एकात्म समूहो और उनसे भी परे जाकर परमेष्ठी से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता रखने वाला एकात्म मानव ही इस दर्शन का आदर्श है। मानव का इस प्रकार समग्र एव समन्वित विचार करते हुए – जीवन के सभी अगो का और व्यवस्थाओ का विचार कर सरचना की जाए तो सभवत राष्ट्रीयता, मानवता, विश्व-शान्ति आदि श्रेष्ठ आदर्शो की दिशा मे अन्तर्विरोध दूर होकर के एक दूसरे के पूरक बनेगे और मानव को उद्देश्यपूर्ण सुखी जीवन प्राप्त होकर एकात्म मानव दर्शन साकार होगा।"[1] वे आशा करते थे कि मानव चेतना सर्वव्यापक चेतना मे विकसित हो न कि एक केन्द्रिता मे। उनकी कल्पना एक पूर्ण सासारिक राज्य की थी जिसमे सभी राष्ट्रो एव सस्कृतियो का योगदान हो और एक मानव-धर्म की जो सारे धर्मो के योग से परिपूर्ण हो। वे कहते थे कि मानव मे जितनी अधिक चेतना विकसित होगी उतने ही उच्च और बडी प्रणाली से वह सबधित होगा। मानव चेतना के विकास के बिना कोई भी सामाजिक प्रणाली कितनी भी गुणसम्पन्न हो, इच्छित परिणाम नहीं दे सकती।

दीनदयालजी का कथन है कि हिन्दू- सस्कृति मे मानव के शरीर, मस्तिष्क बुद्धि और आत्मा के एक ही साथ विकसित होने का योग निहित है। उसमे मानव के सपूर्ण विकास के लिए शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा चारो की आवश्यकता के लिए चार उत्तरदायित्वो का आदर्श हमारे सामने रखा है। वह आदर्श कर्म, अर्थ, कर्म और मोक्ष है जिनका सम्मिलित रूप से पालन करना ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम ध्येय है।

दीनदयालजी के एकात्ममानव दर्शन का आधार वेद, उपनिषद, गीता एव अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थ हैं। वे कहा करते थे कि ईशोपनिषद् का यह श्लोक[2] एकात्म दर्शन का साक्षात् कराता है जिसका अर्थ यह है कि जो समस्त प्राणियों को अपने में और अपने को समस्त प्राणियों मे देखता है,

[1] नेने, विनायक वासुदेव, प. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड-२ पृष्ठ – १३

[2] यस्तु सर्वाणि भूतान्याम्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते।। (ईशोपनिषद्-६)

वह किसी को घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं समझता। अर्थात् वह सबके हित मे ही अपने हित को समझता है। वे इसी प्रकार ऋग्वेद के एक श्लोक को उद्‌घृत करते है और कहते हैं कि यह भी एकात्मता का दर्शन कराता है। "हे मनुष्यो ! तुम्हारे सकल्प एक समान हो तुम्हारे हृदय एक से हो तुम्हारे मानसिक भाव एक से हो जिससे तुम लोग अच्छी तरह से सुखपूर्वक समाज मे एक साथ रह सको।"[1] इसी प्रकार अथर्ववेद मे भी कहा गया है कि "मत्रणाये समान हो सभाये समान हो चित्त के साथ मन भी समान हो।"[2] इन ऋचाओ के द्वारा एकात्मता को ही दिखाया गया है।

दीलदयाल उपाध्याय का मानवतावाद अन्य मानवतावादियो से भिन्न है। मार्क्स भी मानवतावादी हैं। उनके अनुसार "मनुष्य का ध्येय उसकी अपनी मानवता और मानव प्रकृति का पात्र है और इसका स्पष्ट निश्चित आदेश उन परिस्थितियो को नष्ट करता है जिनमे मनुष्य जलील, दास, लाचार और घृणित जीव हो जाता है।" मार्क्स का कथन है कि जीवन चेतना से निर्मित नहीं होता वरन् चेतना जीवन से उत्पन्न होती है। मार्क्स का यह चिन्तन दीनदयालजी के चिन्तन से बिल्कुल ही पृथक् है। वैज्ञानिक मानवतावाद[3] मानव की व्याख्या उसकी इच्छाओ, आकाक्षाओ एव प्रेरणाओ के आधार पर करता है। दीनदयालजी के अनुसार इस प्रकार का मानववाद पूर्णरूप से इहलौकिकवादी हो जाता है।

दीनदयालजी का मानवतावाद एम॰ एन॰ राय के मानवतावाद से भी भिन्न है। राय ने मानवतावाद के नाम पर सुखवाद की नींव को मजबूत करने का प्रयत्न किया है। भौतिकतावादी होने के कारण वे जीवन को ही साध्य मानते हैं। वे कहते हैं, "इच्छाओ की पूर्ति ही जीवन का आत्म साक्षात्कार है, उपदेश देने के लिए किसी सिद्धान्त को गढने का कोई औचित्य नहीं है।"[4] राय हिन्दू चिन्तन की उस मुख्य परम्परा का विरोध करते हैं जो इच्छाओ को जीतने का उपदेश देती है। इस दृष्टि से राय का मानवतावादी चिन्तन एकाकी है। दीनदयालजी की तरह समग्र मानव का चिन्तन राय ने नहीं किया है।

---

1 समानी व आकूति॰ समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व॰ सुसहासति ।। (ऋग्वेद)

2 समानो मन्त्र॰ समिति समानी।
समान मन॰ सह चित्तमेषाम्।। (अथर्ववेद)

3 वैज्ञानिक मानवतावाद का कथन है कि मनुष्य अपने भविष्य को स्वय रूप दे सकता है। वैज्ञानिक सफलताये मनुष्य में अपनी क्षमता के प्रति आत्म–विश्वास पैदा करा देती है।

4 राय एम॰ एन॰, द प्राब्लम ऑफ फ्रीडम पृष्ठ – ६१

रवीन्द्रनाथ टैगोर एव राधाकृष्णन भी मानवतावादी चिन्तक हैं। टैगोर केवल भौतिक जगत का ही नहीं अपितु ईश्वर का भी मानवीकरण कर देते हैं। वे कहते है कि मानववाद भावनाओ के साथ विश्व को अपनाता है तथा निकट से देखता है। उनका कवि हृदय विश्व के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित करता है। डॉ॰ राधाकृष्णन धार्मिक मानवतावाद के प्रतिवादक हैं। उन्होने सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठापित कर मानव एकता का समर्थन किया। उनका कथन है कि यूरोप के मानवतावादी चिन्तन तथा एशिया के धार्मिक विश्व–दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।[1] उनकी दृष्टि मे मानवतावाद मे धर्म एव विज्ञान का समन्वय आवश्यक है।[2] दीनदयालजी उपरोक्त दोनो चिन्तको के मतो से कुछ अर्थो मे सहमति रखते हुए भी अपने मानवतावादी चिन्तन मे एकात्मता जोडकर भिन्नता प्रकट करते है। दीनदयालजी का एकात्म मानववाद प्रत्येक राष्ट्र को अपनी–अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतत्रता का पक्षपाती है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने गुण–कर्म के अनुसार विकास कर, विकास का सपूर्ण फल समाज–पुरुष को अर्पित करता है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अग समझेगा। उनके मानवतावाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि प्रत्येक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपने विकास के साथ–साथ विश्वात्मा का भाव मन मे रखने के कारण एक–दूसरे का पोषक एव समस्त मानवता का पोषक है। उनके इस एकात्मवादी कल्पना मे व्यक्ति का व्यक्तित्व विभक्त नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक क्षमताओ के अनुसार अपने जीवन का आदर्श चुनने का अवसर मिलता है।

सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि दीनदयालजी के एकात्म मानवतावादी दर्शन को शरीर के साथ ही मन–बुद्धि–आत्मा का, उपभोग के साथ–साथ सयम और समर्थन का, अधिकारो के साथ–साथ कर्तव्य का, व्यक्ति के साथ–साथ समष्टि–सृष्टि–परमेष्ठी का निरतर मान रखकर चलने वाला एकात्म सुख ही अभिप्रेत है।

६:८ *डॉ. लोहिया और दीनदयाल -*

भारत के लोकतंत्र के इतिहास में विरोध पक्ष को विकसित करने में जिन दो महापुरूषों का निर्णायक योगदान है वे हैं डॉ॰ राम मनोहर लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय। दोनों ही राष्ट्रवादी, समतावादी तथा लोकतत्रवादी थे। डॉ॰ लोहिया ने समाजवादियो को सफलतापूर्वक नेतृत्व देकर

1 एस॰ राधाकृष्णन, इर्स्टन रिलीजन्स एण्ड वेर्स्टन थॉट, पृष्ठ – २५८–५६

2 एस॰ राधाकृष्णन इर्स्टन रिलीजन्स एण्ड वेर्स्टन थॉट, पृष्ठ – २६४

सगठित किया व नवयुवा समाजवादी पीढी के नायक बन गए तो दीनदयाल पश्चिमवादी राजनीति व सत्ता के सब प्रहारो के बावजूद जनसघ को आगे बढा राष्ट्रवादी युवा पीढी के प्रेरणा स्रोत बन गए।

क्या दीनदयाल व लोहिया के मिलन मे सिद्धान्तहीनता थी तथा गैर—काग्रेसवाद के नकारात्मक विचार मे कुछ सैद्धान्तिक निष्ठावाद की सम्भावनाए भी थी या नहीं ? इस सन्दर्भ मे डॉ. मुरली मनोहर जोशी व दत्तोपन्त ठेगडी के विचार उल्लेखनीय हैं। डॉ. जोशी का मानना है, " सिद्धान्तो की दृष्टि से डॉ. लोहिया व दीनदयाल पूरक थे। सामान्यत माना जाता है कि दीनदयाल राष्ट्रवादी थे व डॉ. लोहिया समाजवादी। लेकिन राम मनोहर लोहिया समाजवादी मन्च के राष्ट्रवादी प्रवक्ता थे तथा दीनदयाल राष्ट्रवादी मन्च के समाजवादी विचारक थे। समाजवादी मन्च से डॉ. लोहिया ने 'गगा—यमुना को प्रदूषण से बचाओ, 'रामायण मेला तथा 'हिमालय बचाओ' जैसे कार्यक्रम दिए तो दीनदयालजी ने 'सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व 'अधिकतम—न्यूनतम आय के अनुपात निर्धारण आदि विषयो को जनसघ के मञ्च पर रखा। दुर्भाग्यवश दोनो ही जल्दी चले गए, अन्यथा डॉ. लोहिया व दीनदयाल के नेतृत्व मे गैर—काग्रेसवाद एक विधायक एव सिद्धान्तवादी राजनीतिक दर्शन उत्पन्न करता।[1]

इसी प्रकार दत्तोपन्त ठेगडी की मान्यता है कि १९४७ की राजनीतिक परिस्थितियो मे सत्ता सघर्ष के परिणाम्स्वरूप गैर—काग्रेसवाद ने, नकारात्मक रूप से ही अपने को प्रस्तुत किया, लेकिन ठेगडी कहते हैं कि गैर—काग्रेसवाद की एक राष्ट्रवादी धारा रही है, जिसका एक पुराना इतिहास है। गैर—काग्रेसी राजनीतिक विकल्प की तलाश बहुत पहले शुरू हो चुकी थी। जब मैं जनसघ मे काम करता था, तब पञ्चमढी अधिवेशन के तुरन्त बाद की बात है कि प. द्वारिका प्रसाद मिश्र ने मुझे बुलाकर श्री गुरूजी को एक सदेश देने के लिए कहा। उन्होने कहा, "छोटे—छोटे घरौदो मे रहने से काग्रेस को पराजित नहीं किया जा सकता। मैने बहुत से समाजवादियो से बातचीत की है। उन्हे भारतीय जनसघ का सास्कृतिक राष्ट्रवाद स्वीकार हो सकता है, जनसघ को भी समाजवादी आर्थिक कार्यक्रम मानने मे कठिनाई न होगी। श्री गुरूजी स्वय नेतृत्व करने को तैयार हों तो मैं और मेरे साथी काग्रेस छोडकर समर्पित सिपाही के नाते उनके साथ कार्य करने को तैयार हैं।" ठेगड़ी ने कहा, "श्री गुरूजी का स्वभाव हम जानते थे, अत बातचीत आगे बढ़ने का सवाल नहीं था। श्री दीनदयाल व डॉ. लोहिया ने जो कुछ किया वह उपरी तौर पर सिद्धान्तहीन लग सकता है, पर वह एक काग्रेस का

डॉ. महेश शर्मा 'दीनदयाल उपाध्याय कर्त्तव्य एव विचार' वसुधा पब्लि. प्रा. लि. नयी दिल्ली, १९९४ पृष्ठ – १०९

सकारात्मक विकल्प निर्माण करने का प्रथम चरण था। यदि वे जिन्दा रहते तो गैर–काग्रेसवाद को एक नकारात्मक अभिधारणा न रहने देते लेकिन नियति को यह मन्जूर नहीं था।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण मे दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न चरणो की विचारात्मक व व्यावहारिक आधारो पर विवेचना की गई है। उनके राजनीतिक कर्म से बहुतो की असहमति हो सकती है, लेकिन उनका आदर्शवादी व निष्ठापूर्ण व्यवहार भारतीय राजनीति के अनुपम इतिहास की अनुपम निधि है। लोकतत्र के विकास मे विपक्ष को विकसित करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सत्ता पक्ष का दायित्व सम्भालना। भारतीय परिस्थितियो मे प्रथम कार्य और भी कठिन था इस कठिन कार्य की साधना मे दीनदयाल का निर्णायक व अमर योगदान रहा है।

[1] वही वहीं पृष्ठ – १०६

३·७ पं॰ दीनदयाल उपाध्याय · आर्थिक चिन्तन

७ १ आर्थिक-व्यवस्था का महत्व -

दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक विचार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनकी आर्थिक विचारधारा भी हिन्दू सस्कृति पर ही आधारित है। वे अर्थ को मूल्यो की प्राप्ति मे एक साधन मानते हैं। अर्थ स्वत सुख नहीं है परन्तु सुख सम्पत्ति पर निर्भर है। अर्थ का उद्देश्य मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना है। दीनदयालजी का कथन है कि हिन्दू सस्कृति हमे यह बताती है कि मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओ और इच्छाओ का पिण्ड नहीं बल्कि वह एक आध्यात्मिक तत्त्व है जिसने भौतिक शरीर धारण कर रखा है। वे कहते हैं कि हमे इस तथ्य को कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि मन्दिर की सब प्रकार से चिन्ता करते हुए भी उसका मन्दिरत्व उसमे प्रतिष्ठित मूर्ति के कारण है तथा मूर्ति का श्रृगार धूप–दीप नैवेद्य, अर्चन आदि उसमे आरोपित देवत्व के कारण है। यदि हम मन्दिर की रक्षा और निर्माण मे मूर्ति को भूल गए तो हमारा सम्पूर्ण परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए उपाध्याय जी का कथन है कि पश्चिम की आर्थिक प्रणाली भारत के लिए अनुकूल नहीं है क्योकि उसमे जीवन के सर्वसग्राही भाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

उपाध्याय जी के अनुसार जगत् कभी अर्थ से शून्य नहीं रहा। अर्थ की उपादेयता सर्वदा रही। वे कहते थे कि यदि अर्थ का अभाव होगा तो धर्म भी समाप्त हो जाएगा। जिसके पास अर्थ नहीं, उसको कोई नहीं पूछता। लेकिन यदि अर्थ मे धर्म का भाव नहीं रहेगा तो अनर्थ हो जाएगा। इसलिए उनका कथन था कि धर्मानुसार चलने से ही अर्थ पैदा होता है और अर्थ बढता भी है। इस प्रकार धर्म से अर्थ एव अर्थ से धर्म का सम्बन्ध है। वे अर्थ को अपने दर्शन मे विशेष महत्व देते हैं क्योकि अर्थ से ही धर्म टिकता है। यदि धन प्रचुर मात्रा मे होता है तो धर्म का भी ठीक प्रकार से पालन होता है। अर्थ के अभाव मे ही आपस मे सघर्ष एव अधर्म होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपाध्याय जी केवल अर्थ को ही महत्व देते हैं एव अन्य पुरुषार्थो की उपेक्षा कर देते हैं। वे चारों पुरुषार्थो को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। वे कहते हैं कि **अर्थ** पुरुषार्थ शरीर के लिए, **धर्म** पुरुषार्थ समाज के लिए, **काम** पुरुषार्थ कामना के लिए और **मोक्ष** पुरुषार्थ आत्मा के लिए होता है। वे अपनी अर्थनीति में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थो को महत्व देते थे। इन चारों पुरुषार्थो के समावेश से ही मानव की उन्नति हो सकती है।[1]

उपाध्याय, दीनदयाल, राष्ट्र–जीवन की दिशा, पृष्ठ – १६२

७ २ मानव ही सर्वोपरि -

उपाध्याय जी के दर्शन का केन्द्र–बिन्दु मानव है। उनका चिन्तन **'सम्पूर्ण मानव"** को इकाई मानकर चलता है। वे कहते हैं कि पूँजीवाद का आधार **"आर्थिक मनुष्य"** है तथा समाजवाद का आधार **"सामूहिक मनुष्य"** है। दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्य का विचार परिमाणात्मक आधार पर होता है, गुणात्मक आधार पर नहीं होता है। दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्य का विचार नहीं है। दोनो ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का पुर्जा मात्र बना डाला। इन व्यवस्थाओं मे मानव की विविधताओ और विशेषताओ के लिए कोई स्थान नहीं है। उपाध्याय जी कहते हैं कि ये व्यवस्थाये मनुष्य को ऊँचा उठाने के स्थान पर मशीन का पुर्जा मात्र बना देती हैं। उसका अपना व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। मनुष्य का अमानवीकरण हो जाता है। इन दोनो व्यवस्थाओ ने मनुष्य को नगण्य माना है।

प॰ दीनदयालजी के अनुसार उपर्युक्त दोनो व्यवस्था अधोगामी मार्ग की ओर ले जाने वाली हैं। अत वे कहते हैं कि मानव की मर्यादा के लिए आत्मिक बल के प्रति आनुगत्य अपेक्षित है। प्रयास करने पर मनुष्य मानव से देवता बन सकता है। वे मानव–जीवन का विचार समग्र दृष्टि से करते हैं। उनका कहना है कि मानव–जीवन को टुकडे–टुकडे मे करके विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के विचार से मानव विकास सम्भव नहीं हो सकता।[1] उपाध्याय जी मानव का विचार सर्वांगीण दृष्टि से करते हैं तथा अपने दर्शन का केन्द्र इसी मानव को मानते हैं।

७ ३ अर्थनीति का भारतीयकरण -

उपाध्याय जी के अनुसार अर्थनीति का विचार करते समय आर्थिक बातो के साथ ही कुछ अनार्थिक बाते भी महत्व की होती हैं, किन्तु अधिसख्य पश्चिमी अर्थशास्त्रज्ञो ने इन आर्थिकेतर बातो को कोई महत्व नहीं दिया। लेकिन कुछ पश्चिमी विचारको को यह कमी अवश्य खलने लगी है। जे॰एस॰ मिल कहते हैं कि "यह नहीं कहा जा सकता कि सभी आर्थिक प्रश्नो का केवल अर्थशास्त्र के आधार पर ही समाधान ढूँढा जा सकता है अनेक आर्थिक प्रश्न ऐसे होते हैं जिनके महत्वपूर्ण राजनीतिक एव नैतिक पक्ष भी होते हैं। जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।" प्रो॰ जेकब विनट लिखते हैं, "केवल अधिक पूँजी, अधिक भूमि, कोयले की अधिक खानें आदि बातो के आधार पर आर्थिक प्रगति नहीं की जा सकती। अच्छी शिक्षा, सस्कार, राजनीतिक एव सामाजिक सगठन एव श्रम की प्रतिष्ठा को सजोये रखना भी उसके लिए आवश्यक होता है।"[2]

---

[1] उपाध्याय दीनदयाल, राष्ट्र–जीवन की दिशा पृष्ठ – १६२

[2] गुप्त तनसुखराम, प॰ दीनदयाल उपाध्याय महाप्रस्थान और जीवन दर्शन सूर्य भारती प्रकाशन नई सड़क दिल्ली, पृष्ठ – १३२ १९९२

यह बात स्पष्ट करते हुए कि आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने की धुन मे हमने इस सीख को भुला दिया है, प॰ दीनदयालजी कहते हैं – "स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व हम हर प्रश्न को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा करते थे। अब प्रत्येक प्रश्न की ओर केवल आर्थिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। कारण साध्य–साधना का विवेक ही शेष नहीं रहा है। पैसा अर्जित करना जीवन का एक महत्वपूर्ण बात न रहकर उसने सारा जीवन व्याप्य लिया है। पैसा प्राप्त करने के परे भी जीवन मे अधिक महत्वपूर्ण कुछ होता है इसका बोध ही हमारे मानस से नष्ट हो गया है।"

यह कहते हुए कि "मानव जीवन के उद्देश्य और जीवन मे सम्पत्ति के स्थान सम्बन्धी परिकल्पनाओ को निश्चित किए बिना आर्थिक विकास एव उसके लिए आवश्यक साधनो को निश्चित नहीं किया जा सकेगा।" प॰ दीनदयालजी कहा करते थे – "मदिर के वाह्य स्वरूप का सम्पूर्ण विचार करते हुए भी निश्चित रूप से यही कहना पडेगा कि मदिर को उसके वाह्य स्वरूप के कारण नहीं, वरन उसके भीतरी भाग मे स्थापित भगवान की मूर्ति के कारण मदिरत्व प्राप्त होता है। पश्चिमी दृष्टिकोण मे जिसका अधानुकरण कर हम अपने अर्थनीतिक मूल्यो की प्रतिष्ठापना करने चले हैं, ऐसे मे सर्वांगीण विचार का कोई स्थान नहीं होता।"[1]

उपाध्याय जी का कहना है कि अर्थव्यवस्था की कसौटी मानव का सर्वांगीण विकास ही होना चाहिए। मानव का सुख अर्थोत्पादन का प्रमुख साध्य है और मानवीय शक्ति उसका प्रमुख साधन। मानव की शक्ति को बेकार रखते हुए उसका विकास नहीं होगा, इसे ध्यान मे रखकर ही उत्पादन तत्र का विकास करना चाहिए। जिस अर्थव्यवस्था के कारण समृद्धि तो बढती है किन्तु मानवता एव अन्य अगोपागो का विकास कुठित हो जाता है। वह कल्याणकारी नहीं हो सकती। मानव का सर्वांगीण विकास हमारी अर्थनीति का लक्ष्य होना चाहिए।[2]

दीनदयालजी के अनुसार वर्तमान युग मे आर्थिक समस्या विषम हो उठी है। अत इस समस्या को हल करने के विविध प्रकार पश्चिम के विद्वानो ने रखे हैं। किन्तु इन सभी का दृष्टिकोण एकागी ही रहा है। उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशो मे पूँजीवाद का प्रसार हुआ। नवाविष्कृत यन्त्र इस बुद्धिगत उत्पादन के कारण बने और इन यत्रो के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गए। लाभ में जब श्रमिकों को भाग नहीं मिला तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, और उन्होंने

---

1 उपाध्याय, विचार दर्शन, खण्ड–४, १६६१, पृष्ठ – १५–१६

2 उपाध्याय, विचार दर्शन, खण्ड–४, १६६१, पृष्ठ – १५–१६

एक नई प्रणाली समाजवाद या साम्यवाद का विकास किया जिसमे पुन वितरण पर ही अधिक बल दिया गया और इसके लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कुचल कर भी रख दिया गया।[1] लेकिन **उपभोग** की ओर पश्चिम के विद्वानो का ध्यान नहीं गया, यद्यपि उपभोग ही उत्पादन और वितरण दोनो की धुरी है। पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धान्त को ही चलने दिया और उसमे सशोधन की जरुरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्यो के दु खो का कारण है। उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाए तो वह बढती चली जाती है। वर्ग–सघर्ष जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खडा है ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। कोई भारतीय जब वर्ग–सघर्ष का खण्डन करता है तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियन्त्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के बजाए न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्रकृति भावनाओ का सस्कार करके उसमे अधिकाधिक उत्पादन समान वितरण तथा सयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र मे सस्कृति का कार्य है। इसमे ही तीनो का सतुलन है।

७·४ आर्थिक लोकतत्र -

आर्थिक लोकतत्र के स्वरूप को महात्मा गॉधी ने बताया है कि "Mass Production by Masses" अधिक उत्पादन अधिक व्यक्तियो द्वारा। परन्तु प॰ दीनदयाल उपाध्याय ने इसी बात को दूसरी शब्दावली मे कहा है " Expansion of the Self - Employed Sector " (ऐसे क्षेत्र का विस्तार जिसमे श्रम करने वाला ही उसका स्वामी है) इस दृष्टि से गॉधीजी और उपाध्याय जी के विचार लगभग समान हैं क्योकि दोनो का चिन्तन मूलत भारतीय है। आज के नियोजक निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र के विवाद मैं फॅसे हुए हैं। किसकी क्या मर्यादा हो, इसके लिए उनके पास कोई आधार नहीं है। प॰ दीनदयालजी ने कहा है, "Public Sector where it must, Private Sector where it should and the Self-Employed Sector where it would [2]

अब्राहम लिकन के अनुसार – "जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन ही लोकतत्र है।" ठीक उसी प्रकार आर्थिक लोकतत्र उस व्यवस्था को कहा जा सकता है, जो जनता के लाभ के लिए जनता द्वारा सचालित होता हो। इससे स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था आर्थिक लोकतत्र का

---

1 भारत–चिति, आर्थिक लोकतत्र, लखनऊ, पृष्ठ – ६७

2 भारत चिती सस्थान, लखनऊ, पृष्ठ – १३८

विलोम है। केवल अर्थ–व्यवस्था मे समान साझेदारी को ही आर्थिक लोकतत्र नहीं कहा जाएगा। सम्पत्ति का समान वितरण भी आर्थिक लोकतत्र की एक अनिवार्य शर्त है। जैसा कि गॉधीजी ने "यग इडिया" मे (२३–३–२१) लिखा था "भारत की जरुरत यह नहीं कि चन्द लोगो के हाथ मे बहुत सारी पूँजी एकत्र हो जाए। पूँजी का ऐसा बॅटवारा होना चाहिए कि वह १९०० मील और १५०० मील चौडे विशाल देश को साढे सात लाख गॉवो को आसानी से मिल सके।" उपाध्याय जी का ऐसा मानना है कि भारतीय चेतना प्रकृति से प्रजातन्त्रीय है और आज का युग भी प्रजातत्र की ही ओर बढ रहा है। राजनीति के क्षेत्र मे यह प्रजातत्र का भाव बहुत कुछ स्पष्ट होकर आया है तथा अब आर्थिक क्षेत्र मे भी इस प्रजातत्र का उदय हो रहा है। राजनीतिक शक्ति का प्रजा मे विकेन्द्रीकरण करके जिस प्रकार शासन की सस्था का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा मे विकेन्द्रीकरण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण और सचालन होना चाहिए।

आर्थिक प्रजातत्र मे व्यक्ति की क्षमता को कुचल कर रख देने का नहीं अपितु उसको व्यक्त होने का पूरा अवसर प्रत्येक अवस्था मे मिलना चाहिए।[1]

प॰ दीनदयालजी के अनुसार ऐसी अर्थव्यवस्था किसी भी दशा मे स्वीकार्य नहीं, जिसमे व्यक्ति के अपने ही हितो मे उसे दबा दिया जाए, क्योकि बाद मे चलकर इस दमन के परिणाम प्रकट होते हैं और अन्तत राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर ही नहीं, आर्थिक व्यवस्था पर भी उनका कुप्रभाव पडता है। यह निसर्ग का नियम है तथा आरम्भ से ही इसका ध्यान रखकर चलना बुद्धिमत्ता कहा जायेगा।

पडित जी के विचारो मे आर्थिक लोकतत्र मे व्यक्ति को काम की गारण्टी शोषण से मुक्ति विषमता को हटाने और अन्याय को मिटाने की कार्यवाही निहित रहती है। काम प्रथम तो जीविकोपार्जन योग्य हो तथा द्वितीय, व्यक्ति को उसे चुनने की स्वतत्रता रहे। "प्रत्येक को मताधिकार" जैसे राजनैतिक प्रजातत्र का निष्कर्ष है, वैसे ही प्रत्येक को काम यह आर्थिक लोकतत्र का मापदण्ड है।

"Take Jobe to the People ınstead of brıngıng People to the Jobs" and Substıtutıng Productıon of or the masses (ı e mass Productıon) wıth Productıon by the masses

---

1 उपाध्याय, "लोक अधिकार की प्रतिष्ठा और लोक कर्त्तव्य के निर्वाह का, लोकतत्र एक साधन है। केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में भी लोकतत्र चाहिए। वास्तव में जनतत्र अविभाज्य है। किसी भी एक क्षेत्र में लोकतत्र का अभाव एक दूसरे क्षेत्र में लोकतत्र को नहीं पनपने देगा।

राजनीति मे व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति मे व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमानो पर किया गया औद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगो मे व्यक्ति स्वय भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भॉति ऐसा औद्योगीकरण भी वर्जनीय है।

आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति की यह रचना शक्ति तभी प्रकट हो सकती है जब विकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योगो की व्यवस्था हो। उपाध्याय जी का कहना है कि विकेन्द्रीकरण से मशीन का परित्याग नहीं समझना चाहिए, इसके लिए मशीनो को छोटा जरूर करना पड सकता है। बडी मशीनो का परित्याग इस अवस्था मे आवश्यक है। परन्तु कुछ ऐसे भी उद्योग हो सकते हैं जो बडी मशीनो से ही चल सकत हैं, तो उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय राजकीय स्वामित्व होना चाहिए। ऐसे उद्योग सुरक्षा उद्योग मे आते हैं।[1]

विकेन्द्रीकरण मे वे समस्याए हल होती हैं जिनका कारण अविकेन्द्रीकरण होता है। पूँजीवाद भी अविकेन्द्रीकरण के कारण ही उत्पन्न होता है। जब लोगो को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का अवसर ही नहीं मिलेगा तो पूँजी इकट्ठी कैसे हो सकेगी ? इसमे गॉव तो अधिकाधिक स्वावलम्बी होगे ही व्यक्ति को प्रेरणा मिलने के कारण वस्तु के गुण तथा उत्पादन दोनो ही बनेगे।[2] पुरातन काल के कुटीर उद्योग जितनी उत्तम श्रेणी की वस्तुए तैयार करते थे उतनी आज की मशीने नहीं तैयार कर पाती। कुटीर उद्योग मे हस्त कौशल और शिल्प को जो बहुत बडा क्षेत्र मिलता है वह मशीन उद्योग मे बिल्कुल नहीं मिल पाता। आर्थिक लोकतत्र मे ग्राम तथा कुटीर उद्योगो और इसी प्रकार विकेन्द्रीकरण के अनुसार किए जाने वाले कृषि उत्पादन केन्द्रो से उठकर लोकतत्र ऊपर जाना चाहिए।

प॰ दीनदयालजी ने शोषण–विहीन आर्थिक लोकतत्र को सफल बनाने के लिए कहा है कि इसके लिए सरकार को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ेगी। यह सरकार का काम होना चाहिए कि वह देखे, भूमि उद्योग और व्यापार के सचालन मे आम लोगों की सक्रिय भागीदारी है या नहीं। यह सरकार का कर्त्तव्य है कि सम्पत्ति के केन्द्रीकरण और शोषण को रोके। प्रकृति की सम्पदा के समान वितरण की व्यवस्था करे। इसका व्यावहारिक स्वरूप सम्भव है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज के

---

[1] उपाध्याय, भारतीय अर्थनीति, १९८० पृष्ठ – ५२

[2] भारत चिति, पृष्ठ – ६९,७०, लखनऊ १९७९

राजनीतिक दल आर्थिक लोकतत्र के सिद्धान्त मे ईमानदारी से विश्वास नहीं करते और न उसे कार्यान्वित करना चाहते हैं। अत आर्थिक लोकतत्र के आदर्श के प्रति यदि निष्ठावान होकर कार्य किया जाए तो उसे कार्य रूप मे परिणत करना असम्भव न होगा।

७ ५ पूँजीवाद, साम्यवाद एव एकात्ममानववाद -

प॰ दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिन्तन भारतीय सस्कृति पर आधारित है। ये अपने आर्थिक चिन्तन द्वारा मानव का सर्वागीण विकास करना चाहते हैं जो उसकी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। उनका कहना है कि समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता को हटाने के लिए पश्चिम के चिन्तको ने साम्यवाद ओर पूँजीवाद नामक दो प्रणालियो को जन्म दिया। दोनो आर्थिक प्रणालिया अर्थ और काम को ही मानव जीवन का लक्ष्य मानती हैं। अत दोनो के दृष्टिकोण एकागी हैं।

अपने आप को समाजवादी या साम्यवादी कहलाना आजकल का फैशल बन गया है तथा राजनीतिक दलो मे समाजवादी बनने की होड सी लगी है। यह बताकर दीनदयालजी ने कहा था – "यूरोप मे समाजवाद या साम्यवाद के अनेक प्रकार प्रचलित है। हिटलर मुसोलिनी, स्टालिन सभी अपने आपको समाजवादी कहते थो। भारत मे भी सब प्रकार के समाजवादी हैं। कुछ नेता युरोपीय साम्यवाद को भारतीय रूप देने की बात करते हैं। एम॰एन॰ राय ने जीवन के अतिम चरण मे समाजवाद को त्याग दिया।[1]

पश्चिम मे औद्योगिक क्रान्ति के बाद यत्र युग के साथ ही पूँजीवादी रचना प्रारम्भ हुई। जोसेफ शूम्पीटर ने अपने "पूँजीवाद समाजवाद" नामक अग्रेजी पुस्तक मे कहा है – "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्थिर नहीं है। और न कभी स्थिर हो सकती है। वह धीमी गति से विस्तार भी नहीं कर पाती। नये–नये औद्योगिक उपक्रमो के द्वारा उसमे भीतर से निरतर एक परिवर्तन होता जाता है, क्योकि उपभोग की नई वस्तुए बाजार में आती रहती हैं या विद्यमान औद्योगिक रचना में नये अवसर उपलब्ध होते हैं। किसी भी विद्यमान अवस्था में उद्योग के नियमो में लगातार परिवर्तन होता रहता है। एक अवस्था परिपूर्ण होने से पूर्व ही टूट जाती है। पूँजीवादी समाज में आर्थिक प्रगति का अर्थ सर्वत्र गड़बड़झाला है।"[2]

---

1 उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–३ १९९०, पृष्ठ – ५६

2 ठेगड़ी दत्तोपन्त, उपाध्याय, विचारदर्शन खण्ड–६, १९९१ पृष्ठ – ७९–८०

उपाध्याय जी के अनुसार पूँजीवादी समाज व्यवस्था मे उत्पत्ति उपभोग विनिमय और वितरण पर किसी प्रकार का नियत्रण न होने के कारण पूँजीपति किसी भी वस्तु का उत्पादन अधिकतम लाभ की दृष्टि से करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े उद्योगपति ही इस क्षेत्र मे शेष रह जाते हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था मे एकाधिकार की स्थापना हो जाती है। इस व्यवस्था के कारण समाज मे पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग स्थापित हो जाते हैं। इनके हितो मे परस्पर विरोध पाया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप उनमे निरन्तर सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस व्यवस्था मे श्रमिको का स्थान गौण होता है। अत पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मानव का विकास करने मे असमर्थ सिद्ध हुई है।

पूँजीवाद के विरोध मे समाजवादी अर्थ व्यवस्था आयी, किंतु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं द पायी। इसने पूँजी का स्वामित्व राज्य के हाथ मे देकर सतोष कर लिया।

पूँजीवाद और समाजवाद इन दोनो ही व्यवस्थाओ मे मानव के सही एव पूर्ण रूप को नहीं समझा गया।[1] एक मे उसने स्वार्थी, अर्थपरायण, सघर्षशील, मत्स्यन्याय –प्रवण प्राणी माना गया तो दूसरी मे व्यवस्थाओ और परिस्थितियो का दास अकिचन एव अनास्थामय माना गया है। शक्तियो का केन्द्रीकरण दोनो मे अभिप्रेत है। फलत दोनो का परिणाम अमानवीकरण मे हुआ है।[2] जिलास (D Jilas) के अनुसार शोषको का पुराना वर्ग समाप्त हो चला है किन्तु नौकरशाही का नया शोषक वर्ग उत्पन्न हो रहा है।[3] कार्ल मार्क्स ने इतिहास का जो विश्लेषण किया, उसमे कम्यूनिज्म को पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणति बनाया है। पूँजीवाद मे ही पूँजीवाद के विनाश के बीज छिपे हुए हैं, यह उसका प्रतिपादन है।

प॰ दीनदयालजी के अनुसार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलती है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं। मानव–श्रम, क्रय–विक्रय की वस्तु है। इस व्यवस्था मे व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। इस व्यवस्था मे भूखे और निर्धन की चिन्ता नहीं की जाती है, सम्पन्न व्यक्तियो की ही चिन्ता की जाती है।[4] इसलिए उपाध्याय जी मानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा मानव का विकास असम्भव है। वे समाजवादी अर्थव्यवस्था को

---

1 हम न समाजवाद चाहते हैं और न ही पूँजीवाद वरन् मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता चाहते हैं। इन दोनों ही दर्शनों मे मनुष्य मात्र मुहरा बन कर रह जाता है। उपाध्याय, प॰ दीनदयाल

2 उपाध्याय ठेगड़ी दत्तोपन्त गोलवलकर एकात्म मानवदर्शन १९९१ पृष्ठ – ७४–७२

3 उपाध्याय ठेंगड़ी दत्तोपन्त गोलवलकर एकात्म मानवदर्शन १९९१, पृष्ठ – ७१

4 उपाध्याय एकात्ममानववाद पृष्ठ – ७८

प्रतिक्रियावादी मानते है क्योकि इसका जन्म पूँजीवाद के विरोध मे हुआ है।[1] साम्यवादियो का यह कथन है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अधिकाधिक जनसख्या का एकत्रीकरण उत्पादन का अधिकाधिक केन्द्रीकरण एव थोडे से हाथो मे अधिकाधिक धन का सचयन करता है।[2]

मार्क्स के शब्दो मे "पूँजीपति श्रमिको के जीवन काल को कार्यकाल मे बदल देते हैं और उनकी पत्नियो तथा बच्चो को पूँजी के जगन्नाथी रथ के चक्को तले कुचल डालते हैं।"[3] परन्तु उपाध्याय जी समाजवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था को भी नाना प्रकार के दोषो से युक्त मानते हैं। "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो केवल अर्थपरायण मानव का विचार किया तथा अन्य क्षेत्रो मे उसे स्वतत्र छोड दिया। अत वह कुछ मात्रा मे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सका। किन्तु साम्यवादी व्यवस्था तो मात्र जातिवाधक मानव का ही शिकार करती है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतत्रता नाम की कोई चीज नहीं है।"[4]

उपाध्याय जी उपरोक्त दोनो व्यवस्थाओ के विरोधी हैं। क्योकि दोनो ही व्यवस्थाओ मे मनुष्य मात्र पुर्जा बनकर रह जाता है। वे कहते हैं "हमे समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं, '**मानव**' का उत्कर्ष चाहिए। '**मानव**' को दॉव पर लगाकर आज दोनो लड रहे हैं। दोनो ने न तो मानव को समझा और न उन्हे मानव की चिन्ता है।"[5] उन्होने मनुष्य को एकात्म रूप मे देखा है। उनका एकात्म मानववाद जीवन के किसी भी पक्ष को नहीं छोडता। उनका कहना है कि जहाँ एकात्मवाद है, जिस सस्कृति मे **"सर्व खल्विद ब्रह्म, नेह नानास्ति किन्चन, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म"** आदि ऐसी वेद–घोषणाए और एकात्मवाद के प्रचार विद्यमान है, वहाँ समाजवाद, साम्यवाद तो बाहरी वस्तु हो जाती है।[6] पडित जी सम्पूर्ण मानवतावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यह ऐसा सिद्धान्त है जिसमें बुद्धि सार्वभौमिकता प्राप्त कर लेती है। जो सार्वभौमिक प्रकृति के हो उनकी विचारधारा वास्तव मे केवल मानव जाति तक ही सीमित नहीं रहती। वे आशा करते थे कि मानवीय चेतना सर्वव्यापक चेतना में विकसित हो। उनकी कल्पना एक 'पूर्ण सासारिक राज्य' की थी जिसमें सब राष्ट्रों,

---

1. उपाध्याय एकात्ममानववाद, पृष्ठ – ७६
2. कम्युनिस्ट मैनोफेस्टो
3. कैपिटल, सन् १६३६, पृष्ठ – ६६०–६१
4. एकात्म मानववाद, पृष्ठ – ७६
5. उपाध्याय, एकात्म मानववाद, पृष्ठ – ८१
6. वस्तु सर्वाणि भुतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। (इशोयानिषय–६)

सस्कृतियो का योगदान हो और एक मानव धर्म की जो सारे धर्मो के योग से परिपूर्ण हो। उनका कहना था कि एक मनुष्य का विभिन्न प्रणालियो से सम्बन्ध केवल उसकी चेतना की एक वाह्य अभिव्यक्ति के विकास की है। मनुष्य मे जितनी अधिक चेतना विकसित होगी उतने ही उच्च और बडी प्रणाली से वह सम्बन्धित होगा। उपाध्याय जी का ऐसा विचार है कि एक मनुष्य को भी एकात्मता के दृष्टिकोण से ही देखा जाना चाहिए, शरीर मानस बुद्धि और आत्मा को अलग–अलग नहीं समझना चाहिए।[1]

एकात्ममानववाद की प्रणाली मे शरीर मन, बुद्धि, आत्मा समाज, राष्ट्र तथा धर्म, अर्थ काम, मोक्ष का सम्मिलित रूप से चिन्तन किया गया है। इसी प्रणाली के द्वारा समाज मे सतुलन बनाए रखते हुए आर्थिक न्याय सम्भव है। आर्थिक क्षेत्र की विविध समस्याओ का समाधान एकात्म मानवाद के द्वारा ही सम्भव है।

उपाध्याय जी का मत है कि एकात्म मानववाद पर आधारित आर्थिक विकेन्द्रीकरण के द्वारा ही हम मानव को सुखी बना सकते हैं। हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र मानव होना चाहिए जो **"यत् पिण्डे तद् ब्रह्माडे"** के न्याय के अनुसार समष्टि का जीवमान प्रतिनिधि एव उसका उपकरण है। उनके अनुसार भौतिक उपकरण मानव के सुख साधन है, साध्य नहीं। जिस व्यवस्था मे भिन्नरचिलोक का विचार केवल एक औसत मानव से अथवा शरीर–मन–बुद्धि–आत्मायुक्त अनेक एषणाओं से प्रेरित पुरूषार्थ चतुष्टयशील, पूर्ण मानव के स्थान पर एकागी मानव का ही विचार किया जाए वह अधूरी है। हमारा आधार एकात्म मानव है जो अनेक एकात्म समष्टियो का एक साथ प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। एकात्म मानववाद के आधार पर हमे जीवन की सभी व्यवस्थाओ का विकास करना होगा।[2]

७ ६ विकेन्द्रित अर्थव्यवेस्था एव उसकी विशेषताए -

दीनदयालजी मानते थे कि पूँजीवादी और साम्यवाद दोनो पर सम्पत्ति के प्रभाव की गहरी छाया पड़ी है। दोनों विचारों में जीवन के भौतिक मूल्यों की ही विवेचना है, जिसका परिणाम बहुत घातक होता है। भौतिक सम्पन्नता के अतिरिक्त अन्य मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। उपाध्याय जी व्यक्तित्व एव परिवार को आर्थिक विकेन्द्रीकरण का मूल आधार मानते हैं। "व्यक्ति एव परिवार आर्थिक विकेन्द्रीकरण के मूलभूत घटक हैं। व्यक्ति के प्रयत्नो से और परिवार के स्वामित्व के आधार पर यदि

1 भारत चिति, १६७६ पृष्ठ – ५६

2 उपाध्याय, विचार दर्शन, खण्ड–७, १६६१ पृष्ठ – ६५–६६

सम्पत्ति का निर्माण किया जाता है तो आर्थिक विषमता एव शोषण का प्रश्न ही नहीं रहेगा। मनुष्य जब उत्पादन की सीमाओ को लाघकर आगे जाते साम्यवाद सामूहिक पद्धति के अनुसार या पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की भॉति बड़े–बडे निगमो द्वारा उत्पादन करते हुए अधिकाधिक आर्थिक शक्ति को अपने हाथो मे केन्द्रित करता है तभी आर्थिक विषमता एव शोषण की प्रवृत्ति बलवती होती है। इन प्रवृत्तियो को मूल सहित नष्ट करना हो तो सामान्यत व्यक्ति एव परिवार नामक दोनो घटको को उत्पादन के मूलभूत निर्माता घटक मानकर उत्पादन करना होगा। यह सब प्रत्यक्ष मे उतारने के लिए परिवार के आधार पर चलने वाली उत्पादन प्रणाली का अवलम्बन करना होगा।[1]

उपाध्याय जी के अनुसार राष्ट्रीय एकात्मता के अधीन राजनीतिक एव आर्थिक शक्तियो का भौगोलिक एव व्यवसायात्मक दोनो ही दृष्टियो से विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। उनका कहना है कि पाश्चात्य देशो मे औद्योगीकरण की जो ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है उससे शक्तियो का केन्द्रीयकरण हुआ है। पूँजीवादी व्यवस्था के अनेक दोष केन्द्रीयकरण को रोकने की कोई चेष्टा नहीं की। अत केन्द्रीयकरण के इन सभी दोषो का निवारण विकेन्द्रीयकरण के द्वारा ही सम्भव है। आर्थिक एव सामाजिक सस्थाओ का इस उद्देश्य से पुनर्निर्धारण करना होगा। मानव व्यक्तित्व को बनाये रखने और उसके सर्वतोमुखी विकास की इस व्यवस्था मे सर्वाधिक सुविधा है।[2]

पडित जी विकेन्द्रीयकरण को भारतीय सस्कृति के अनुरूप मानते थे। इस विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था मे ही कुटुम्ब से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक आत्मीयता की भावना व्यावहारिक रूप मे विद्यमान रहती है। परन्तु केन्द्रित व्यवस्था मानव को मानव न मानकर उसे एक पूँजी मात्र बना देती है।[3] जब तक एक–एक व्यक्ति की विशिष्टता एव विविधता को ध्यान मे न रखकर हम उसके विकास की चिन्ता नहीं करेगे तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। मानवता की सेवा मे ही सामाजिक एव आर्थिक न्याय है। आर्थिक न्याय विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था द्वारा ही सम्भव है, जिसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताए हैं –

१ प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।

---

1 कुलकर्णी, शरद अनन्त प. दीनदयाल उपाध्याय–विचारदर्शन खण्ड–४, रुरुथि प्रकाशन, नयी दिल्ली, १६८७, पृष्ठ – ४५

2 देवधन विश्वनाथ नारायण उपाध्याय–विचारदर्शन खण्ड–७ १६६१ पृष्ठ – ३५

3 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – ८८–८६

२ इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि जिससे व्यक्ति व राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सके, जिनसे वह अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति मे अपना योगदान कर सके।

३ स्वस्थ व्यक्ति का अभिप्राय होना चाहिए रोजगार का उसे अवसर देना तथा प्रकृति के साधनो को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

४ राष्ट्र के उत्पादक उपादानो का विचार कर अनुकूल, प्रौद्योगिकी का विकास करना।

५ अर्थव्यवस्था **"मानव"** की अवहेलना न कर उसके विकास मे साधक हो तथा समाज के सास्कृतिक एव अन्य जीवन मूल्यो की रक्षा करे।

६ विभिन्न उद्योगो आदि मे राज्य व्यक्ति तथा उक्त सस्थाओ के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।

अत उनके अनुसार विकेन्द्रीयकरण की मौलिक इकाई है व्यक्ति और कुटुम्ब। दीनदयालजी का आग्रह रहता था कि "ऐसे विकेन्द्रित लघु यत्राधिष्ठित, छोटे उद्योगो की व्यापक नींव को आधारशिला मानकर उसके लिए आवश्यक उत्तम से उत्तम यत्रो मध्यम स्तरीय प्राविधियो (तकनीको) और विद्युत शक्ति का उपयोग करना चाहिए।"[1]

उपाध्याय जी विकेन्द्रीकरण की कसौटी को उद्योग एव खेती जैसे प्रमुख क्षेत्रो पर लागू करना चाहते थे। वे बडे–बड़े उद्योगो को भारत के विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते थे। उनका कथन था कि बडे–बडे उद्योग समस्याओ को सुलझाने के स्थान पर, पैदा अधिक कर देते हैं।[2] बडे उद्योगो मे सदैव एक स्थान पर केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रहती है। जिससे सर्वदेशिक एव विस्तृत विकास के मार्ग मे बाधा पहुँचती है।[3] बडे–बडे उद्योग विकेन्द्रीकरण तथा समान वितरण के विरोध मे जाते हैं, जिससे समाज मे शक्ति के केन्द्रीकरण एव विषमता की वृद्धि होती है। "राजनीति मे व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योग मे व्यक्ति स्वय भी मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता हैं। इसलिए तानाशाही की भॉति ऐसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है। गाँधीजी भी लिखते हैं, मैं नहीं समझता कि किसी भी देश के लिए किसी भी अवस्था मे "बड़े कल कारखानों का विकास करना आवश्यक है।"[4]

---

1 उपाध्याय विचार दर्शन, खण्ड–४, १९९१ पृष्ठ – ४५

2 बडे उद्योग में मानव एक बड़ी भारी मशीन का, हृदयहीन समष्टि का पुर्जा मात्र बन जाता है। यह मानव के लिए उपयोगी ही है। भारत की सस्कृति में कभी मानव को हटाकर विचार नहीं किया गया। गाँधी जो भी अपने चिन्तन में मानव को ही विशेष महत्व देते हैं।

3 हरिजन १ सितम्बर १९४६

4 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – ८२

७ ७ अन्तिम का उदय आवश्यक -

उपाध्याय जी आर्थिक प्रगति का मापदण्ड समाज के सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से करते हैं वे यह मानते हैं कि यदि भूखे नगे लोगो का जीवन–स्तर नहीं उठता है तो इसका तात्पर्य है कि उस समाज मे आर्थिक प्रगति नहीं हो पा रही है। ऐसे ही लोगो के जीवन–स्तर को उठाने के लिए वे नाना प्रकार के छोटे–छोटे उद्योगो को स्थापित करना चाहते हैं।

उनका कथन है कि उन्हे भगवान ने हाथ तो दिए हैं, परन्तु वे स्वत उत्पादक नहीं बन सकते। उनके लिए शासन से पूँजी का सहयोग आवश्यक है। श्रम और पूँजी के सहयोग से उसका जीवन–स्तर उन्नत हो सकता है। वे यह मानते हैं कि जैसे प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से सृष्टि होती है, उसी प्रकार उनके श्रम और पूँजी के सम्बन्ध से उनके सुखमय जीवन की भी सृष्टि हो सकती है।[१] वे कहते हैं कि हमारी उपलब्धियो का मानदण्ड वही मानव है जो अनिकेत और अपरिग्रही है। वे मानते है कि शासन आर्थिक सरचना की रूपरेखा तैयार करते समय उन लोगो को ध्यान मे नहीं रखता। अत शासन द्वारा उनको पक्के, सुन्दर घर बनाकर देने चाहिए तथा उनके बच्चो और स्त्रियो को शिक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिए। उन्हे हमे उद्योगो और धन्धो की शिक्षा देकर उनकी आय को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हम उनके जीवन को उन्नत नहीं कर पायेगे तब तक आर्थिक विषमता बनी ही रहेगी। उनका दृष्टिकोण है कि स्वदेशी एव विकेन्द्रीकरण अर्थव्यवस्था के द्वारा ही उनके जीवन को सुदृढ एव समृद्ध बनाया जा सकता है।

७ ८ मानव और मशीन -

उपाध्याय जी के अनुसार प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध मशीन से है। अत इसका चुनाव सही ढग से विचारपूर्वक करना चाहिए। योग्य मशीन रहने पर ही श्रमिक को श्रमिक की सज्ञा देकर उसे उत्पादक बना सकते हैं नहीं तो वह केवल उपभोक्ता बनकर ही रह जाएगा। जो बैल हल के लिए उपयोगी है वे ही ट्रैक्टर का प्रयोग करने पर निरर्थक सिद्ध होंगे। अत देश में उपलब्ध उत्पादन – उपकरणों के साथ मेल खाने वाली मशीन का ही प्रयोग करना चाहिए। श्रम और शक्ति, पूँजी और प्रबन्ध, माल और

---

[1] उपाध्याय जी का चितन साख्यदर्शन से पभावित लगता है। साख्य का मत है कि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से सृष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपाध्याय जी श्रम रूपी प्रकृति और पूँजी रूपी पुरुष के सम्बन्ध से उत्कर्षमय जीवन की सृष्टि करना चाहते हैं। उनका कथन है कि उनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

माग ये सब मशीन के स्वरूप को निश्चित करने वाले होने चाहिए। मनुष्य ने इनके बदलते हुए स्वरूप के साथ मशीन का अविष्कार किया। ऐसा कहा जाता है कि **"आवश्यकता आविष्कार की जननी है।"** किन्तु आज मशीन के लिए मनुष्य को ही बदलने पर विवश किया जा रहा है। सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली एक मशीन पर केन्द्रित हो गई है और आविष्कार आवश्यकताओ का निर्माण कर रहे हैं।[1]

उनके विचारो मे एक ओर श्रम बचत का माध्यम बनकर मनुष्य को बेकार बनाती है तो दूसरी ओर श्रम की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर उसे वास्तव मे कमकर बनाती है। बिना मशीन यदि मनुष्य बेकार रहता है तो वह कुछ मशीनो के सहारे अर्ध बेकार भी रहता है। अर्ध बेकारी को पूरा काम देकर यदि उसकी आय मे परिवर्तन कर दिया जाए तो बढी हुई आय से वह औरो को भी काम दे सकेगा। अत एक विकासशील अर्थव्यवस्था को गति देने के लिए मशीनो का प्रयोग कर मनुष्य की उत्पादकता बढाना नितान्त आवश्यक है।

किन्तु उपाध्याय जी का कहना है कि जब मशीन के प्रयोग से मजदूरो की छटनी होती है अर्थात् उनकी मात्रा घटाकर कम की जाती है तथा वे बेकार होकर समाज पर भार बन जाते हैं, या फिर वे खेती मे लगाकर खेती का विपणनीय अतिरेक कर देते हैं तो एक ओर गल्ले का दाम बढ जाता है तथा दूसरी ओर किसान की मशीनो से बने माल की मॉग कम हो जाती है। अत मॉग के कम होने के कारण उन्हे भी अधिक उत्पादकता होने के बाद भी उत्पादन माल की कम खपत होने से अपना उत्पादन कम करना पडता है। इस प्रकार वे भी एक प्रकार से अर्द्ध बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार मशीन के सुधार के कारण जब छटनी होती है तो उससे अर्थव्यवस्था मे एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है।[2]

इन उपर्युक्त कारणों से आज देश मे जहॉ कुछ लोग मशीन के पक्ष मे हैं तो वहीं दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मशीन को अपना कट्टर दुश्मन मानते हैं। एक मशीनो के अभिनवीकरण के अभाव को ही भारत की गरीबी का कारण मानकर चलते हैं तो दूसरे अमानवीकरण और यन्त्रीकरण को ही देश के विनाश के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। परन्तु उपाध्याय जी कहते हैं कि "मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है और न ही मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियो क्रिया–प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है।"[3]

---

1 उपाध्याय, भारतीय अर्थनीति, लाकहित प्रकाशन लखनऊ १९८० पृष्ठ – ७३

2 उपाध्याय भारतीय अर्थनीति, १९८० पृष्ठ – ७७

3 कुलकर्णी शरद अनन्त उपाध्याय – विचारदर्शन, खण्ड–४, १९९१, पृष्ठ – ४०

किसी भी नई मशीन के कारण अर्थ–व्यवस्था को गति प्राप्त हो सकती है यदि

(क) बढी हुई उत्पादकता से प्राप्त आय का श्रमिको और पूँजी लगाने वालो मे ठीक–ठीक वितरण हो सके।[2]

(ख) इस आय का कुछ न कुछ अश वित्तसचय तथा उपभोग दोनो के काम आए।[3]

(ग) देश मे पूँजी निर्माण की गति इतनी हो कि नई मशीनो को खरीदने मे व्यय करने के बाद भी वह इतनी बची रहे कि केवल छटनी किए हुए मजदूर ही नहीं, अन्यो को भी काम देने के लिए उद्योग धन्धे प्रारम्भ किए जा सके।[3]

प॰ दीनदयालजी का कहना है कि ऐसे बहुत से उद्योग हैं जहॉ आज भी मानव शक्ति का ही उपयोग हो सकता है। हस्त कौशल और कला की जहॉ गुजाईश है वहॉ औजारो को चलाने के लिए बिजली नहीं लगाई जा सकती। परन्तु कुछ ऐसे भी काम हैं जो मनुष्य शक्ति के साथ आज बिजली या भाप से चलाने वाली मशीनो से होने लगे हैं जैसे धान कूटना आटा पीसना दवाईयाँ बनाना, तेल निकालना आदि। माल ढोने और कोल्हू चलाने आदि के लिए पशु शक्ति के स्थान पर मशीनो की शक्ति काम मे लायी जा सकती है, किन्तु इसके साथ ही हमे उसकी मर्यादाये ध्यान मे रखनी होगी। अत उपाध्याय जी के अनुसार मनुष्य, श्रम और मशीन – इन तीनो के समन्वय से ही आर्थिक समृद्धि की जा सकती है। जिस अर्थव्यवस्था मे तीनो का समन्वय नहीं होगा, उस अर्थव्यवस्था मे समन्वयहीनता के कारण विषमताए अवश्य रहेगी। उनका दृष्टिकोण है कि मानव के श्रम को सुखकर बनाने तथा उसकी उत्पादकता एव क्षमता को बढाने के लिए ही यन्त्र का आविष्कार हुआ है। यन्त्र मानव का सहायक है, प्रतिस्पर्धी नहीं।[1] उनका मत है कि मशीन देश–काल सापेक्ष है। मशीन को आर्थिक आवश्यकताओ के अनुकूल होना चाहिए। उसे हमारे सास्कृतिक एव राजनीतिक जीवन मूल्यो का पोषक नहीं तो कम–से–कम अविरोधी अवश्य होना चाहिए।[2]

७ ६ कृषि

दीनदयालजी का कहना है कि अविकसित राष्ट्र अगर औद्योगीकरण के मार्ग पर न चलकर खेती का विकास करे तो वे आर्थिक उन्नति कर सकते हैं। खेती की उपेक्षा करते हुए विशालकाय औद्योगीकरण कई बार घातक सिद्ध होता है। ऐसा करने से खेती पिछड जाती है। भारत कृषि प्रधान

---

1 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – ८२

2 उपाध्याय, एकात्म मानववाद पृष्ठ – ५

देश है। अत भारत के राष्ट्रीय आय मे लगभग ६० प्रतिशत उत्पादन खेती से ही होता है। लगभग ७० प्रतिशत आजीविका भी कृषि क्षेत्रो से ही उपलब्ध होती है। इसलिए आवश्यक है कि खेती का सभी अगो से विकास होना चाहिए। देश के औद्योगीकरण को विस्तृत करने के लिए भी कृषि विकास को सुदृढ करना होगा। किसान केवल अनाज का और उद्योगो के लिए आवश्यक कच्चे माल का ही उत्पादक नहीं है वह कारखानो मे निर्मित होने वाले पक्के माल का बडा ग्राहक भी है।[1] यद्यपि भारत ने अमेरिका की नकल करके सिचाई के लिए बडे–बडे बाध बनाने का कार्यक्रम हाथ मे लिया किन्तु उपाध्याय जी का कहना है कि सर्वतोमुखी रूप से विचार किया जाए तो भारत के किसानो के लिए छोटे–छोटे सिचाई के साधन ही अधिक उपयोगी है। उनका कहना है कि बडे बाधो की योजनाये पूँजी–प्रधान हैं और इनसे खाद्योत्पादन मे भी छोटी योजनाओ की तुलना मे कम लाभ हुआ है।

उपाध्याय जी बडी योजनाओ की खराबी बताते हुए कहते है कि ये योजनाए थोडे दिनो मे भूमिगत जल की ऊचाई बढाकर खेतो और आबादी को नुकसान पहुँचा देती है साथ ही मे भूमि के क्षार तल पर आ जाने से जमीन बजर, अनुपजाऊ हो जाती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से पीने का पानी भी खराब हो जाता है।[2] ये योजनाए पानी के बहाव के प्राकृतिक मार्ग मे बाधा डालकर तथा जमीन की सोखने की शक्ति को नष्ट करके वे थोडी सी भी वर्षा मे आस–पास के क्षेत्रो मे बाढ की स्थिति पैदा कर देती हैं। अत भारत के किसानो के लिए छाटी योजनाए ही उपयोगी हैं। इनकी निम्न उपयोगिता है --

(१) कम खर्च होने के कारण ये भारत के किसानों के आर्थिक सामर्थ्य के अन्दर है।

(२) इनकी आयात – निर्भरता न्यूनतम है। न तो बाहर से मशीनो और न विशेषज्ञो के लिए इन्हे रुकना पड़ता है।

(३) इनकी पूर्ति मे समय कम लगता है। अत वे आशु फलदाई हैं।

(४) बडे बाधों की भाँति ये पहले से ही कृषित भूमि के बडे–बड़े क्षेत्रों को जलमग्न नहीं करती।

(५) जहाँ बड़ी योजनाओ मे केवल ५५% पानी ही सिचाई के काम में आता है वहाँ छोटी योजना में ९५% तक पानी काम मे लाया जा सकता है।

---

[1] गुप्त तनसुखराम प. दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – १३६
सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली १९९२

[2] उपाध्याय भारतीय अर्थनीति, १९८० पृष्ठ – ४४

भारत कृषि प्रधान देश है। कृषि द्वारा भारत का विकास अवश्य होगा।[1] सिचाई के अतिरिक्त किसान को अच्छे औजार, बैल, खाद एव उर्वरक तथा उन्नत बीज की भी आवश्यकता है। ये समान उन्हे सुलभ होने चाहिए। उपाध्याय जी कृषि के क्षेत्र मे ट्रैक्टरो को अनुपयोगी मानते हैं। किसान के पास खेत बहुत छोटे हैं। अत उसमे ट्रैक्टर चलाना असभव है। वे सामूहिक खेती के भी पक्षधर नहीं हैं। बैल ही हमारी खेती का धुरा है। उनका विश्वास है कि ट्रैक्टर द्वारा खेती का विकास नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जब से लोहा तथा अन्य कृषि प्रधान औजार गॉव के बढई और लुहार के हाथ से निकलकर कारखाने वालो के हाथ मे चला गया तबसे वे सुलभ और सस्ते नहीं रहे।[2] वे इसे पुन गॉव मे ही स्थापित करना चाहते हैं। पशुधन को उत्पाद बनाकर आर्थिक ढॉचे को सुदृढ किया जा सकता है। वे गोबर, मल, मूत्र आदि को खाद के रूप मे उपयोग करने के लिए प्रोत्साहन देते थे।

वे अधिकतम जोत की सीमा का निर्धारण करना चाहते थे जिससे भूमि जोतने वाले का जीवन स्तर उन्नत हो सके। भूमि की उन अधिकतम जोत द्वारा अतिरिक्त भूमि लेकर भूमिहीनो को दिया जा सकता है। उपाध्याय जी सहकारी खेती के भी विरुद्ध थे। उन्होने सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए खेतिहर दासता को समाप्त करने के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। उनकी गॉव की असीम शक्तियो मे आस्था थी। उनको विश्वास था कि गॉव अन्न और दूध के अतिरिक्त हजारो उपयोगी वस्तुओ का उत्पादन व्यवस्थित ढग से करके आर्थिक एव सामाजिक दृष्टि से समृद्ध हो सकता है। वामन गोविन्द काले ने भी कहा था कि भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही आर्थिक सम्पन्नता को प्राप्त किया जा सकता है।[3] गोपाल कृष्ण गोखले का भी लगाव गाँव के प्रति विशेष रहा। कृषि सम्बन्धी समस्याओ के विषय मे उन्हे विशेष चिन्ता थी।[4]

७ १० औद्योगीकरण की आवश्यकता -

उपाध्याय जी भारत के औद्योगीकरण को सभी दृष्टि से आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि खेती पर निर्भर व्यक्तियों की सख्या को औद्योगीकरण के द्वारा ही कम किया जा सकता है।

---

1 रानडे गोविन्द एसेज ऑन इण्डियन पोलिटिकल कोनामी

2 उपाध्याय भारतीय अर्थनीति, पृष्ठ – ४७

3 काले वामन गोविन्द एन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन इकोनामिक्स १९२३, पृष्ठ – ३४

4 गोखले जी के, ' स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ जी के गोखले, जिल्द, पूना दक्कन सभा, १९६२, पृष्ठ – ३३५

सुरक्षा की दृष्टि से भी अनेक प्रकार के शास्त्रास्त्र व युद्ध सामग्री तैयार करने के लिए उद्योगो का विकास होना चाहिए। उपाध्याय जी प्रो॰ विश्वेश्वरैय्या के इस मत से सहमत थे कि औद्योगिक नीति का विचार करते समय हमे सात बातो का विचार करना चाहिए।[1] ये सात प्रकार हैं

(१) मैंन (Man)

(२) मैटीरियल (Material)

(३) मनी (Money)

(४) मोटिव पावर (Motive Power)

(५) मैनेजमेन्ट (Management)

(६) मार्केट और (Market) and

(७) मशीन (Machine)

हमे अपने उद्योग–धन्धो को सही ढग से चलाने के लिए इन सातो का ठीक–ठीक मेल बिठाना पडेगा। इन सातो उपादानो को सुव्यवस्थित करते समय कई बार उनमे से एक या दो को आधार मानकर अन्य शेष को उनके अनुरूप बदलना पडता है और कई बार ऐसा होता है कि हमे अपने अन्तिम लक्ष्य का विचार करके भी इसमे एक से अधिक को प्रमुखता देनी पडती है।

प॰ जी कहते हैं कि जब एक व्यक्ति किसी उद्योग के स्वरूप का विचार करता है तो वह इस बात पर महत्व देता है कि सभी उत्पादनो का इस प्रकार उपयोग होना चाहिए कि उत्पादित माल बाजार मे सस्ता एव अच्छा होने के साथ–साथ प्रतिस्पर्धा मे भी टिक सके। ऐसा सोचते समय उसे इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि अन्य व्यक्तियो और उद्योगो पर इसका क्या परिणाम पड़ेगा। उनके अनुसार समाज को अपनी उद्योगनीति का निर्धारण व्यापक सामाजिक उद्देश्यो एव लक्ष्यो के हित को ध्यान में रखकर करना चाहिए। उपाध्याय जी सामाजिक लक्ष्य का तात्पर्य – "राष्ट्र की सुरक्षा–सामर्थ्य को बढ़ाना, उपभोग एव उत्पादक वस्तुओं की वृद्धि, प्रत्येक को काम, न्यूनतम जीवन स्तर की आवाप्ति, विषमताओ की कमी तथा विकेन्द्रीकरण से मानते हैं। खुले व्यापार तथा उन्मुक्त प्रतिस्पर्धा के आधार पर देश के उद्योग धन्धो को बढ़ाया नहीं जा सकता। राज्य का सरक्षण तथा स्वदेशी भावनाओं के सहारे जन–बल का सरक्षण प्राप्त करके ही देश के कुछ उद्योग–धन्धों का विकास हुआ है। प॰ जी सर्वांगीण विकास का विचार करते समय सरक्षण की अनिवार्यता को महत्वपूर्ण

[1] उपाध्याय, दीनदयाल भारतीय अर्थनीति तिकास की एक दिशा, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १६८०, पृष्ठ – ६४

मानते है। यह सरक्षण देश के उद्योगो को विदेशी उद्योगो की प्रतिस्पर्धा से तथा छोटे उद्योगो को बडो की प्रतिस्पर्धा से देना होगा।

इसके अतिरिक्त बढती हुई जनसख्या की नित्योपयोगी वस्तुओ की आवश्यकता पूरी करने के लिए औद्योगीकरण की आवश्यकता पडती है। दीनदयालजी छोटे उद्योगो को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। भारत देश के जीवन – मूल्यो परम्परा एव परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए बडे उद्योग को सुविधाजनक नहीं मानते हुए दीनदयालजी ने इसके कुछ प्रमुख कारणों को बताया है। जो निम्न हैं

(१) बड़े उद्योगो की स्थापना करने का अर्थ हे हमारे देश मे पहले से ही चल रहे छोटे उद्योगों का निर्मूलन।

(२) भारत मे बेकारी की समस्या बहुत बडी है। यन्त्र प्रधान बडे उद्योग देश के हर हाथ को काम नहीं दे सकेगे, प्रत्युत् ऐसे धन्धो के कारण बेकारी मे वृद्धि होगी।

(३) बडे उद्योग आयात पर निर्भर होते हैं।

(४) बडे उद्योग के कारण उनमे काम करने वाले श्रमिक अपने गॉव तथा परिवार से अलग हो जाते हैं। वे भूमि से कट जाते हैं। मानवीय मूल्यो से दूर के वातावरण मे ये श्रमिक केवल "मजदूर" ही रह जाते है। केवल "पैसे कमाने" के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्यो का नाश हो जाने के कारण उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।

(५) छोटे उद्योगो की तुलना मे बडे उद्योगो मे लगी पूँजी का गुणक प्रभाव कम होता है।

(६) बडे उद्योगो से खेती का प्रत्यक्ष एव निकट सम्बन्ध स्थापित करना कठिन होता है, अत इन दो प्रमुख उद्योगो मे अनेक प्रकार के बिचौलिये खडे हो जाते हैं।

(७) भारत मे खेती श्रम प्रधान है, अत खेती के विभिन्न कामो के लिए समय–समय पर बहुत बड़ी मात्रा मे श्रमिको की आवश्यकता पड़ती है। गॉवो के खेतिहर श्रमिक उद्योगो के लिए अपना गॉव छोड़कर नगरो मे आ जाते हैं तो खेती की दुरवस्था होती है।

(८) औद्योगिक केन्द्रीकरण के कारण परिवहन पर बहुत अधिक तनाव पड़ता है। इससे उत्पादन व्यय मे भी वृद्धि हो जाने के कारण कच्चे और पक्के माल के भावो में असतुलन अधिक बढ़ जाता है और वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं।

(९) बड़े–बड़े उद्योगों के सचालन के लिए अपरिहार्य माने जाने वाले श्रमिक सगठनों के कार्य और उनके द्वारा बनाए गए विधानों के कारण पारिश्रमिक की दर बढ़ी है और श्रमिक कुछ मात्रा में अनुत्तरदायी हो गया है। पारिश्रमिक की दर बढ़ाने का औचित्य तो स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु देश के उत्पादन में वृद्धि हुए बिना ही मजदूरी की दर बढ़ायी गई तो उसका भार उद्योगपति की अपेक्षा सामान्य ग्राहक पर ही पड़ता है।[1]

कुलकर्णी शरद अनन्त, प. दीनदयाल उपाध्याय विचारदर्शन, एकात्म अर्थनीति खण्ड–४, नई दिल्ली, १९९१, पृष्ठ – ६१–६२

जिस अर्थव्यवस्था मे आवश्यक उपभोग्य वस्तुओ के निर्माण के लिए आवश्यकता से अधिक उत्पादक वस्तुओ का निर्माण करना पडता है और नियोजन की गलत दिशा एव त्रुटिपूर्ण कार्यवाही के कारण धन सत्ता का केन्द्रीकरण होने से उत्पादक या विलास वस्तुओ का उत्पादन अधिक होता है तो ऐसी अर्थव्यवस्था को उपाध्याय जी हितकारी नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि अर्थव्यवस्था मे गति एव कुशलता लाने के लिए देश की निर्धन जनता की क्रय शक्ति को बढाना होगा। उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन का नियमन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जीवन मे आवश्यक उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन तेजी से निरतर बढता रहे। साथ ही किसान को उसकी कृषि उपज का समुचित मूल्य देकर उसकी क्रय शक्ति को भी बढाना चाहिए और गॉवो मे छोटे–छोटे उद्योग बढाकर वहॉ पर्याप्त रूपया प्रचलन मे लाना चाहिए। प॰ दीनदयालजी कहते हैं – "इस प्रकार बढाई गई क्रय शक्ति ापने गुणक प्रभाव से अनेक उद्योग एव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को गतिमान करेगी।"[1] दीनदयालजी का प्रतिपादन यह था कि इसी मे देश की राष्ट्रीय आय एव राष्ट्रीय उत्पादन, दोनो मे ही वृद्धि होकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर एव गतिमान होगी।

७ ११ लघु एव कुटीर उद्योगो मे विश्वास -

औद्योगिक नीति का उद्‌देश्य प्रत्येक समय प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को लाभकारी काम देता है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब छोटे–छोटे उद्योगो का विकास हो। कुछ ऐसे कुटीर और छोटे–छोटे उद्योग हैं जो घर मे ही चलाए जा सकते हैं। उपाध्याय जी चाहते थे कि ऐसे उद्योगो मे भी बिजली और अच्छी मशीन का उपयोग हो।[2] विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि मशीनो का पूर्णत त्याग कर दिया जाए, बल्कि उन मशीनो का प्रयोग किया जाए जो मनुष्य को बेकार न कर दे। वे ऐसा मानते थे कि उन उद्योगो के द्वारा ही बेकारी की समस्या का निदान हो सकता है। गॉधीजी का भी ऐसा ही मत था। वे छोटे–छोटे उद्योग, जो वर्तमान जीवन की अनेक आवश्यकताओ को आधुनिक उत्पादन पद्धति से पूरा कर सकते हैं, अभी तक उपेक्षित हैं। उनका उपयोग होना चाहिए।

उपाध्याय जी छोटे और बडे उद्योगों के गठबन्धन के पक्षधर थे। उनका कथन है कि बड़े उद्योगो और छोटे उद्योगों का सम्बन्ध दो प्रकार से हो सकता है – प्रथम, उत्पादक वस्तुए बडे

---

1 कुलकर्णी, शरद अनन्त, उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–४, पृष्ठ – ६५

2 उपाध्याय, भारतीय अर्थ–नीति, पृष्ठ – ११६

उद्योगो द्वारा बनाई जाए तथा उपभोग वस्तुए छोटे उद्योगो द्वारा तैयार की जाए। जैसे – प्लास्टिक का चूर्ण रेयन के तन्तु इस्पात की चद्दरे लोहे का तार आदि सामान बडे पैमाने पर तैयार करके इनके द्वारा उपभोग की हजारो प्रकार की वस्तुए छोटे पैमाने पर बनानी चाहिए। द्वितीय पद्धति मे उपभोग वस्तु के उत्पादन मे काम आने वाली वस्तुओ को अलग–अलग छोटे पैमाने पर तैयार करना तथा उनका बडे कारखानो मे एकत्रीकरण करना। जैसे – स्विटजरलैण्ड मे घडियो के पुर्जे छोटे–छोटे शिल्पियो द्वारा तैयार होकर उनको इकट्ठा करके घडी के रूप मे बडे कारखानो मे तैयार किया जाता है। वे कहत हैं कि मोटर आदि जितनी बडी–बडी चीजे हैं उनके बहुत से भाग इस प्रकार तैयार किए जा सकते हैं। जापान मे इस दृष्टि से बहुत काम होते हैं। वहाँ रेलगाडियो जहाज एव मोटर के निर्माण मे छोटे उद्योगो द्वारा निर्मित सामान प्रयुक्त होता है। उपाध्याय जी इस क्षेत्र मे हाथ–करघा उद्योग को विशेष महत्व देते हैं। वे यह मानते हैं कि खादी और चरखा के चक्कर को छोडकर यदि हाथ–करघा उद्योग पर ही शासन अपनी शक्ति और धन का व्यय करेगा तो निकट भविष्य मे ही वह अपने पैरो पर खडा होकर देश के कपडा उद्योग का एक सबल सहयोगी बन जाएगा।[1]

उपाध्याय जी के औद्योगिक कार्यक्रम का आधार छोटे–छोटे उद्योग हैं। वे उद्योग निश्चित ही व्यक्तिगत स्वामित्व मे रहेगे। स्वामित्व एव उपभोग मे सामजस्य आवश्यक है। "जिस वस्तु का मैं स्वामी हूँ, उसका उपभोग समाज हित मे करने का ही मुझे अधिकार है।" व्यक्ति मे समाजहित की भावना बनाए रखने के लिए ही भारतीय मनीषियो ने कुटुम्ब की एक व्यवहारिक इकाई रखी, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति कमाने का अधिकारी है तथा सम्पत्ति का स्वामी कुटुम्ब है। सम्पत्ति का उपभोग कुटुम्ब मे होता है, मनमाने ढग से नहीं। गाँधीजी ने ट्रस्टीशिप का यही सिद्धान्त समाज के सम्मुख रखा है।

उपाध्याय जी भारत की परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार ग्राम को बनाते हैं। उनका विश्वास था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ और समृद्ध होने से सामाजिक तथा आर्थिक न्याय स्थापित हो सकता है। वे गाँधी की तरह शहरो में अत्यधिक बड़े–बड़े उद्योगों के पक्ष मे नहीं थे। क्योंकि इससे नगरो की सख्या तथा आबादी बढती जा रही है। पश्चिमी अर्थशास्त्रियो द्वारा भी विशाल शहरी केन्द्रो की वृद्धि की भर्त्सना की गई है। शहरो ने पश्चिम के जीवन में अनेक सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। अत उपाध्याय जी गाँवों से शहरों की ओर जाने वाले लोगों को रोकने के लिए ग्रामीण जीवन को

उपाध्याय भारतीय अर्थ–नीति, पृष्ठ – ११६–१२०

राजनैतिक एव आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाना चाहते थे। गॉधीजी ने तो **गॉवो को लौटो"** का नारा ही दिया था। उपाध्याय जी की दृष्टि मे आवश्यकता नए शहरो की नहीं अपितु गॉवो के औद्योगीकरण की है। हैनरी फोर्ड ने अपने विशाल कारखानो को ग्रामो मे स्थित छोटी विकेन्द्रित इकाईयो मे विभक्त कर दिया है।[1] उनका मत है कि "जहॉ भी सम्भव हो, वहॉ विकेन्द्रीकरण की नीति अपनायी जानी चाहिए। सामान्य नियम यही है कि विशाल कारखानो मे किफायत नहीं होती।"[2]

उपाध्याय जी के व्यापक औद्योगीकरण के कार्यक्रम के अन्तर्गत कुटीर और छोटे–छोटे उद्योग आते हैं। कुछ ऐसे भी उद्योग हैं, जिन्हे घरो मे भी चलाया जा सकता है।[3] प्रमुख अर्थशास्त्री गोविन्द रानाडे का भी मत है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास कुटीर उद्योगो द्वारा होना चाहिए।[4] उपाध्याय जी का मत है कि छोटे और कुटीर उद्योगो मे अच्छी से अच्छी मशीन और बिजली का उपयोग होना चाहिए।

उपाध्याय जी कृषक, लुहार बढई, कुम्हार, तेली नाई धोबी गडेरिया, चर्मकार आदि को आर्थिक व्यवस्था की प्राथमिक इकाई मानते थे। नगरो की तरफ जाने से रोकने के लिए वे गॉवो मे कुछ ऐसे लघु एव कुटीर उद्योगो को स्थापित करना चाहते थे, जिससे गाँवो को पुनर्जीवित किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में निम्नलिखित उद्योगो द्वारा गाँव एव राष्ट्र का ढ़ाचा बदला जा सकता है – हाथ करघा रस्सी बनाना, कृषिपालन डलिया बनाना, खिलौने, अॅचार–मुरब्बे, कागज के लिफाफे आदि बनाना, रगाई, छपाई, बर्तन बनाने का काम, ईटे तैयार करना, होजरी के कारखाने, साइकिल के पुर्जे रेशम और सूती वस्त्र, सिलाई की मशीने, धान कूटना, गुड़ आदि का निर्माण, चूड़ियो आदि का निर्माण।[5] इससे सामाजिक तथा आर्थिक विषमता को मिटाने मे सहायता मिलेगी।

७ १२ प्रत्येक को काम -

भारतीय सस्कृति मे कर्म (श्रम) को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। गीता ने तो कर्मयोग का ही उपदेश दिया है।[6] कर्म करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। उपाध्याय जी के अनुसार भारत की आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि भोजन एव वस्त्र के अभाव का कष्ट किसी को न हो। उनका

---

1 हैनरी फोर्ड अमेरिका के जाने–माने प्रमुख उद्योगपति रहे हैं। ग्रेज रिचार्ड बी, इकनॉमिक्स ऑंख खद्दर, अहमदाबाद, पृष्ठ – ५१

2 हैनरी फोर्ड अमेरिका के जाने–माने प्रमुख उद्योगपति रहे हैं। ग्रेज रिचार्ड बी, इकनॉमिक्स ऑंख खद्दर, अहमदाबाद, पृष्ठ – ५१

3 उपाध्याय, भारतीय अर्थ–नीति, पृष्ठ – ११६

4 रानाडे, महादेव गोविन्द एसेज ऑन इण्डियन पॉलिटिकल इकोनामी

5 उपाध्याय, भारतीय अर्थनीति, पृष्ठ – ११८

6 गीता का कर्मयोग मोक्ष प्राप्त करने तथा ससार मे कर्म करने का एक मार्ग है।

तिलक की तरह कथन था कि देश के कल्याण के लिए सतत् कर्म और परिश्रम करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है। उपाध्याय जी का कहना था कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को काम मिलना चाहिए।[1] शासन को भी प्रत्येक को श्रम का अवसर उपलब्ध कराना चाहिए। उनका मत था कि प्रत्येक निर्बल एव लाचार को रोटी की व्यवस्था शासन द्वारा होनी चाहिए। वे चाहते थे कि समाज का कोई भी व्यक्ति। बेकार भूखा नगा न रहे। वे बेकारी एव दरिद्रता का कारण शासन को मानते थे। वे कहते हैं – "जब मैं यह देखता हूँ कि दस वर्ष का बालक और सत्तर वर्ष का बूढा काम मे जुटा हुआ है और पच्चीस वर्ष का नौजवान बेकारी से ऊबकर आत्महत्या कर बैठता है तो मुझे अपार पीडा होती है। इस अव्यवस्था को दूर करना होगा।"[2] वे चाहते थे कि प्रत्येक के पास अपना घर हो पर्याप्त भोजन हो और अपने को आच्छादित करने के लिए वस्त्र हो। गॉधीजी ने भी १६२८ मे ही कहा था कि प्रत्येक को इतना पर्याप्त काम मिलना चाहिए कि वह अपना भरण–पोषण कर सके।[3]

उपाध्याय जी के अनुसार – "मनुष्य, श्रम और मशीन – इन तीनो के समन्वय से ही आर्थिक समृद्धि की जा सकती है। जिस अर्थव्यवस्था मे तीनो का समन्वय नहीं होगा, उस अर्थव्यवस्था मे समन्वयहीनता के कारण विषमताए अवश्य रहेगी। उनका दृष्टिकोण है कि मानव के श्रम को सुखकर बनाने तथा उसकी उत्पादकता एव क्षमता को बढाने के लिए ही यन्त्र का अविष्कार हुआ है। यन्त्र मानव का सहायक है, प्रतिस्पर्धी नहीं।[4] उनका मत है कि – "मशीन देश–काल सापेक्ष है। मशीन को आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए। उसे हमारे सास्कृतिक एव राजनीतिक जीवन–मूल्यो की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोधी अवश्य होना चाहिए।[5]

७ १३ राष्ट्रीय आय -

समग्र राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) सम्भवत किसी राज्य की आर्थिक सामर्थ्य का उपयुक्त सूचकाक है, किन्तु मेरे विचार से अब समय आ गया है कि जिसे मैं समग्र राष्ट्रीय कल्याण (Gross National Welfare - G N W) कहता हूँ, उसे प्राथमिकता दी जाए। किसी देश का वार्षिक उत्पादन कितना है यह जानने की अपेक्षा यह जानना कहीं अधिक आवश्यक है कि उत्पादित पदार्थ नागरिकों की

---

1 उपाध्याय एकात्म मानववाद, पृष्ठ – ४७

2 उपाध्याय, एकात्म मानववाद, पृष्ठ – ४७

3 यग इण्डिया, नवम्बर, १६२८, पृष्ठ – ३८१

4 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – ८२

5 उपाध्याय, एकात्म मानववाद, पृष्ठ – ५

आवश्यकताओ की पूर्ति कितने अच्छे ढग से करता है। हॉ समग्र राष्ट्रीय कल्याण मे सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण पर सबसे पहले विचार किया जाना चाहिए।

समग्र राष्ट्रीय उत्पाद से तो किसी राष्ट्र की रचना करने वाले व्यक्तियो की आर्थिक समृद्धि का भी बोध नहीं होता। समग्र राष्ट्रीय उत्पाद को जनसख्या से विभाजित करके जो फल आता है साख्यिकीविद् उसे औसत प्रतिव्यक्ति आय कहते हैं। उपाध्याय का मत हैं कि "आजकल राष्ट्रीय आय का विचार औसत के सिद्धान्त' (Low of Average) के आधार पर किया जाता है। पर यह बहुत बडा भ्रम है। राष्ट्रीय आय बढती जाने के बाद भी देश की गरीबी बढती जा रही है। यह क्यो ? राष्ट्रीय आय के बढने का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति की आय बढे।"[1] प्रत्येक को काम दिया जाए तो गरीबी घटेगी प्रत्येक की आय मे वृद्धि होगी। इससे उत्पादन मे भी वृद्धि होगी। यह सत्य है कि कम मनुष्यो का उपयोग करने वाली बडी मशीनो के द्वारा भी उत्पादन बढ सकता है, परन्तु वह हमारे देश के लिए उपयोगी नहीं। गाँधीजी कहा करते थे, "मैं विशाल उत्पादन चाहता हूँ परन्तु विशाल जनसमूह के द्वारा उत्पादन चाहता हूँ" (I want mass production by masses as well)

वस्तुत हमारा लक्ष्य समग्र राष्ट्रीय उत्पाद नहीं अपितु समग्र राष्ट्रीय कल्याण होना चाहिए। जनकल्याण की कसौटी क्या हो ? इसके लिए उपाध्याय का मानना है कि समाज के सदस्यो के बीच कितना सामन्जस्य तथा परस्पर स्नेह है, औसत प्रतिव्यक्ति आध्यात्मिक कल्याण जिससे परस्पर सामन्जस्य तथा परस्पर स्नेह की मात्रा का निश्चय किया जा सकेगा , आत्म नियन्त्रण, जो आध्यात्मिक कल्याण की कुन्जी है , का औसत स्तर , तथा प्रदूषण के बचाव हेतु समाज किस सीमा तक आर्थिक लाभ का त्याग करने को तैयार है। अन्तिम कसौटी द्वारा इस बात की जाँच होती है कि समाज किस सीमा तक आध्यात्मिक कल्याण को भौतिक सम्पदा से श्रेष्ठ मानने मे सफल हुआ है।

उपाध्याय दीनदयाल, "भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा", लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९७५, पृष्ठ – ६५

३:८ पं॰ दीनदयाल उपाध्याय : राजनीतिक चिन्तन

प॰ दीनदयाल उपाध्याय के सामाजिक व राजनीतिक विचारो को अलग–अलग करना काफी कठिन कार्य है क्योकि उपाध्याय राजनीतिक एव राज्य को समाज की प्रतिनिधि व्यवस्था नहीं मानते, अत उनके राजनीतिक विचार भी राजनीतिक होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक हैं। उनके चिन्तन मे धर्म' तथा 'सस्कृति तत्व उसी प्रकार अन्तर्निहित हैं जैसे शरीर मे 'प्राण। अत वे चाहे सामाजिक विषयो का प्रतिपादन हो या राजनीतिक उन्हे सास्कृतिक आयाम दे देते हैं और उनका अधिष्ठान धर्म ही रहत। है। यथा लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति व प्रक्रिया से अधिक, उनकी रुचि लोकतान्त्रिक–सामाजिक सस्कृति मे है राज्य–व्यवस्था से अधिक उनकी रुचि समाज की धर्म–चेतना मे है। अत उनके सामाजिक व राजनीतिक विचार परस्पर गुँथे हुए हैं।

प॰ दीनदयाल उपाध्याय स्वतन्त्रता के बाद के काल के एक वर्तमान राजनीतिक दल के प्रमुख नेता एव सगठक थे। अत उनके लिए अपरिहार्य था कि देश के सम्मुख उपस्थित होने वाली समस्याओ, सरकारी नीतियो, चुनावो, आन्दोलनो विपदाओ तथा दल प्रचार आदि बातो की ओर ध्यान देते। राजनीतिक दल के कार्यकर्ताओ को इन बातो से छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु दीनदयाल कुछ सस्कारो तथा जीवनदृष्टि को आत्मसात करने के बाद ही राजनीतिक क्षेत्र मे उतरे थे। हो सकता है कि यह एक ईश्वरीय सयोग हो। किबहुना, राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्रीयत्व का विशुद्ध विचार प्रभावी करने के उद्देश्य से ही उन्होंने राजनीतिक दल का काम करना स्वीकार किया था। अतएव उन्होने अपने आपको केवल तात्कालिताओ मे ही उलझाये नहीं रखा, न ही मात्र सत्ता–प्राप्ति के सीमित सन्दर्भ मे परिस्थिति का विचार किया। अदूरदर्शी समझौतो को उन्होने कभी स्वीकार नहीं किया। वे प्रवाह–पतित नहीं बने। राजनीतिक नेता होते हुए भी उन्होने सदैव राष्ट्र निर्माण का ही समग्र विचार किया। राजनीतिक दल के कार्य को भी उन्होने राष्ट्र–निर्माण के कार्य का अग ही माना और साधन भी। इसीलिए उनके राष्ट्र–चिन्तन की परिधि तो विशाल है ही, साथ ही वह चिन्तन मूलगामी भी है। अनेक प्रचलित मान्यताओ एव धारणाओ को झकझोरते हुए उन्होने यहाँ के राष्ट्रजीवन की स्वाभाविक धारा का दर्शन कराया है।

स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक तथा अरविन्द की भाँति दीनदयाल उपाध्याय को भी हिन्दू सस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। वे राष्ट्रवाद की किसी ऐसी धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, जो हिन्दू धर्म के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तो के प्रतिकूल हो। उनके अनुसार सस्कृति

मे जीवन के सभी पहलू समाविष्ट है। राजनीति भी सस्कृति का ही एक अग है। राष्ट्र के बहुमुखी विकास के लिए समर्पण की भावना तथा पवित्र निष्ठा से देश की सेवा आवश्यक है। वे राजनीति का सास्कृतिकरण करना चाहते थे। इसलिए वे राजनीति मे धर्म को समाविष्ट करना चाहते थे। उनका कहना था कि धर्म सभी विद्यमान वस्तुओ मे एकता का दर्शन कराता है। इसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है।

८ १ राष्ट्र की सकल्पना

अपनी साम्राज्य सत्ता की सुविधा के लिए अँग्रेजो ने हेतुपूर्वक कई धारणाए प्रचारित कीं। इनमे एक धारणा यह थी कि भूतकाल मे भारत कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा, अँग्रेजो का एक छत्र साम्राज्य सम्पूर्ण देश मे स्थापित होने के पश्चात् तथा उसके फलस्वरूप भारत मे राष्ट्रभाव का उदय होने लगा, राजनीतिक शासकीय एकता के कारण ही **'एक राष्ट्र'** की भावना का निर्माण सम्भव हो सका और इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीयता भारतीयो को अँग्रेजो की देन है – जिसके लिए हमे अँग्रेजो के प्रति सदैव कृतज्ञ रहना चाहिए। हम अभी राष्ट्र बन रहे हैं। 'Nation in the Making '

ऐसा अँग्रेजो ने कहा और 'साहब वाक्य प्रमाणम्' मानने वाले भारतीय विद्वानो ने उनकी इस बात को बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया। वास्तव मे पश्चिम के ऐतिहासिक विकासक्रम मे विकसित होने वाली 'नेशन' की परिभाषा के सॉचे मे भारत राष्ट्र को बैठाना न तो बुद्धि–सगत है और न ही युक्ति–सगत।

[i] राष्ट्र की सकल्पना का पारिभाषिक दृष्टिकोण

विचारणीय बात यह है कि वस्तु या प्रक्रिया और उसकी परिभाषा मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कैसे हुआ करते हैं, इस विषय में क्या प्रकृति तथा शास्त्रीयता का मार्गदर्शन उपलब्ध है ? यदि है तो वह क्या है ? 'सोशियोलॉजी' शब्द का निर्माण ऑगस्ट कॉमटे ने सन् १८३६ मे किया। किन्तु शताब्दियों पूर्व प्लेटो के समय से समाज रचना के विषय में प्रासगिक अविकसित अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। हमारे देश में समाजशास्त्र का पर्याप्त अध्ययन ऋग्वेद के सहस्रो वर्ष पूर्व हो चुका था।

दत्तोपन्त ठेंगड़ी निसर्ग सिद्ध तथा शास्त्र सम्मत क्रम को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "प्रथम वर्ण्य वस्तु या प्रक्रिया अस्तित्व में आती है या उसका निर्माण होता है। तत्पश्चात् उसकी सवीक्षा करते हुए उसके आधार पर उसका सर्वकष वर्णन या विवरण होता है, बाद में विवरणों में ग्रन्थित तथ्यों की विश्लेषणात्मक शास्त्रीय रचना होती है उसके प्रकाश में प्रकट होने वाले गुणधर्मों तथा नियमों को

एकत्रित कर उस वस्तु या प्रक्रिया की शास्त्रीय परिभाषा दी जाती है।"[1] यह क्रम निरपवाद रूप से सभी शास्त्रीय चर्चाओ में पाया जाता है। पहले परिभाषा बनाना और फिर उस परिभाषा के अनुसार वर्ण्य वस्तु या प्रक्रिया होनी चाहिए, यह आग्रह रखना अशास्त्रीय है। किन्तु मेकाले के भारतीय मानसपुत्रो ने राष्ट्र–सकल्पना के विषय मे इसी तरह का अपरिपक्व आग्रह भारत–राष्ट्र के साथ रखा। बाद मे अनुभव के आधार पर पाश्चात्य विद्वानो के ध्यान मे आने लगा कि कई शास्त्रयुद्ध सत्य या सकल्पनाए ऐसी हैं कि जिनको परिभाषा के सॉचे मे बिठाना न सम्भव है और न व्यवहारिक दृष्टि से आवश्यक ही। भारत मे यह तथ्य प्राचीन काल से ही हमारे दृष्टाओ के ध्यान मे आया था और तथ्य को परिभाषा के सॉचे मे बिठाने की दृष्टि से अपनी असमर्थता को **'नेति'** शब्दो मे स्वीकार करने का नैतिक साहस भी उन्होने दिखाया था। उदाहरणार्थ 'राष्ट्र या 'नेशन' से अधिक विशाल आशय रखने वाली सकल्पना है मानव अधिकारो (Human Rights) की। किन्तु 'मानव अधिकार की सर्वमान्य परिभाषा आज भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु परिभाषा के अभाव के कारण यह सकल्पना अवास्तविक या अस्तित्वहीन नहीं कही जा सकती है। भारत के पूर्व मुख्य न्यायधीश श्री आर.एस. पाठक[2] ने इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यही बात 'राष्ट्र या 'नेशन' के विषय मे भी सही है। शास्त्र चर्चा मे परिभाषा का महत्व अवश्य है। किन्तु यह महत्व असीम या निरपवाद नहीं है। उसकी कुछ मान्य सीमाए है।

जीवन (Life) की परिभाषा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे जीवन के विविध पहलुओ का विवरण करने के बाद श्री जे. कृष्णमूर्ति ने कहा "Life is all things, But how do our petty, Confused minds approach life? That is important, and not the definition or description of what life is On our approach to life, all questions and answers depend "

यह अभिप्राय सभी महत्वपूर्ण तथ्यो तथा सकल्पनाओ के विषय मे इतना ही सत्य है।

'नेशन' लेटिन भाषा के शब्द नेटियो (Natio) से व्युत्पन्न है। नेटियो जन्मगत एकात्म मानव समूह की ओर सकेत करता है। किन्तु आधुनिक नेशन्स के निर्माण में केवल यह वाशिक तत्व ही

---

1 दत्तोपन्त ठेंगड़ी 'राष्ट्र' जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९२, पृष्ठ – ३१

2 Pathak R.S , "Human Rights in the Changing world," Unit Introduction
"The principle difficulty lies in the nonavailability of an adequate substantice difinition of human rights. The definition provided by Richard Wasserstorm reflecting the common general understanding of the fails as an insufficient and simplistic definition."

योगदान नहीं करता। अलग–अलग नेशन का भिन्न–भिन्न ऐतिहासिक विकास क्रम रहा है। इस कारण सभी देशो के 'नेशनहुड के घटक अवयवो मे एकरूपता नहीं है। हर एक के गुणधर्म मे अपनी कुछ विशेषता पाई जाती है। "वस्तुत गुणात्मक दृष्टि से हर एक 'नेशन की अपने ढग की अलग पहचान होती है। एक शब्द का एक ही अर्थ हो तथा हर एक भिन्न अर्थच्छाया के लिए भिन्न शब्द प्रयोग हो यह शास्त्रशुद्ध व्यवहार है।"[1]

किन्तु 'नेशनहुड' के घटक अवयवो मे भिन्नता को स्वीकार करते हुए भी मात्र सरलता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थच्छायाओ का एक ही शब्द के द्वारा प्रकट करने का अशास्त्रीय विचार स्वीकार किया गया। किन्तु इसके कारण अशास्त्रीयताजन्य सम्भ्रम का निर्माण हुआ। श्रेष्ठ विचारको के अभिप्रायो से हमे इसका दर्शन मिलता है। थॉमस मिडल्टॉन ने यह कहा है कि "परिमित और सही शब्द का सही प्रयोग न होने पर विचार का सूक्ष्म सम्प्रेषण नहीं हो पाता। केवल स्थूल भाव ही सम्प्रेषित होता है।"

वस्तुत पश्चिम के शास्त्रीय विचारक यह ढूँढ पाने मे असमर्थ रहे हैं कि किस विशिष्ट, सुस्थिर, सुनिश्चित, सुस्पष्ट वस्तु या सकल्पना को 'नेशन की सज्ञा प्रदान की जाए। सर जॉन रॉबर्ट सीली का निष्कर्ष है "We take no pains to conceive of define precisely what we call a nationality"[2] इसी प्रकार विस्कॉउन्ट जेम्स ब्राइस "Essay and Addresses in War Time" मे विनम्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि नेशनलिटी (Nationality) की परिभाषा नहीं दे सकते। इस प्रकार पश्चिमी विद्वानो का निष्कर्ष है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम मे यह भूल थी। शासकीय एकता के कारण 'नेशनहुड' का निर्माण नहीं हो सकता, यह सत्य रूस यूगोस्लाविया आदि देशो मे चले घटनाक्रम से सुस्पष्ट हो गया है।

[ii] समूहगत अस्मिता .

समूहगत अस्मिता का आविष्कार विभिन्न स्तरो पर विभिन्न इकाईयो के रूप से होता है। यथा परिवार, गोत्र, जनजाति, व्यावसायिक या गैर व्यावसायिक एव समाज (राष्ट्र) मानवता, विश्व आदि।

किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की किसी भूमि के साथ एकात्मता, सामूहिक–अस्मिता की अनुभूति का एक महत्वपूर्ण एव स्वयसिद्ध तथ्य है। इस एकात्मता की अनुभूति के लिए प्रदीर्घ साहचर्य

1 दत्तोपन्त ठेगड़ी, 'राष्ट्र', जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९२, पृष्ठ – ३५

2 दत्तोपन्त ठेंगड़ी, 'राष्ट्र', जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९२, पृष्ठ – ३५

की आवश्यकता हुआ करती है। केवल सवैधानिक प्रावधान, कानून की धारा या ससद के प्रस्ताव के आधार पर एकात्मता निर्माण नहीं हो सकती क्योकि यह सविधान आदि का प्रश्न नहीं मनोविज्ञान की बात है। भारत पर आर्यो के आक्रमण के पश्चिमी सिद्धान्त का खण्डन करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने जो तर्क प्रस्तुत किए उनमे एक यह भी था – "The Language in which reference to the seven rivers is made in the Rig Veda (X 75 5) is very significant No foreigner would ever address a river in such familiar and endearing terms as 'My Ganga, My Yamuna, My Saraswati, unless by long association he had develoed an emotion about it In the face of such statements from the Rig Veda there is obviously no room for a theory of a military conquest by the Aryan race of the non-Aryan races of Dasas and Dasyus "[1] डॉ. अम्बेडकर के इस कथन के प्रकाश मे अथव॰ के निम्नलिखित मन्त्र देखिए

मेरी माता भूमि और मैं उस मातृ भूमि का पुत्र हूँ।[2]

हे मातृभूमि। मुझे उत्तम रीति से सुरक्षित तथा कल्याणकारक परिस्थिति से युक्त रखे।[3]

हमारी मातृभूमि की धारणा धर्म से होती है।[4]

भूमि के प्रति सबकी सामूहिक एकात्मता

सा न माता भूमि।[5] (वह हमारी माता भूमि)

भारत मे भूमि के साथ लोक समूह की इस प्रकार की एकात्मता जहॉ प्राचीन काल से रही है वहॉ पश्चिम मे (यूरोप) इस प्रकार की एकात्मता का निर्माण अति अर्वाचीन है। इगलैण्ड, फ्रास आदि देशो में यह एकात्मता अभी–अभी निर्मित हुई है। वहॉ 'इगलिशमेन', 'फ्रेच' का सामूहिक भाव तो था किन्तु भूमि के साथ एकात्मता नहीं थी। इस कारण वहाँ के शासको को कहा जाता था – 'King of the England', 'King of the French' भूमि के साथ एकात्म होने के बाद 'King of England', 'King of French' ऐसी शब्दावली प्रारम्भ हुई। किग जान प्रथम 'King of England' था।

---

[1] दत्तोपन्त ठेगड़ी, 'राष्ट्र', स भानु प्रताप शुक्ल, जानकी प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९२, डॉ. अम्बेडकर द्वारा "आर्यो का मूल निवास स्थान भारत था" विषय पर दिए प्रमाणों में से एक। पृष्ठ – ९०

[2] माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या। अथर्व. १२/१/१२

[3] भूमे मात नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्। अथर्व. १२/१/६३

[4] मातरं धर्मणा धृताम। अथर्व. १२/१/१७

[5] अथर्व. १२/१/९०

भूमि के साथ एकात्मता निर्माण होने के पूर्व यूरोप मे जितने युद्ध हुए उनका आधार रिलीजन या राजवश था। उदाहरणार्थ चौदहवे लुई के साथ हुए इगलिश लोगो के युद्ध नेशन्स के युद्ध नहीं थे 'King's wars' (सम्राटो के युद्ध) थे। इगलैण्ड का विशुद्ध नेशन के स्तर का पहला युद्ध अठारहवीं शताब्दी का 'जेन्कीन्स इअर्स वार' था।

[iii] राष्ट्र की हिन्दू सकल्पना

अब यह सोचने का उपयुक्त समय आ गया है कि क्या पश्चिम की 'नेशन्स' अवधारणा और भारत की 'राष्ट्र' सकल्पना दोनो की जाति एक ही है, क्या दोनो एक ही सकल्पना के नाम हैं ? क्या नेशन और राष्ट्र को पर्यायवाची माना जा सकता है ? श्री स्नायडर के 'वैरायटीज ऑफ नेशनलिज्म' से तो यह स्पष्ट होता है कि पश्चिम मे भी विभिन्न देशो के राष्ट्रीयता के मनोवैज्ञानिक अवयव तत्व एक जैसे नहीं है। अलग–अलग देशो का ऐतिहासिक विकास क्रम अलग–अलग ढग का रहा है और अपने–अपने ऐतिहासिक विकासक्रमो के अनुसार अलग–अलग देशो मे गुणात्मक दृष्टि से भिन्नता रखने वाली राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। किन्तु उस भावना को एक ही नाम दिया गया – **'राष्ट्रीयता'**। ऐतिहासिक परिस्थितियॉ भिन्न–भिन्न होने के कारण यद्यपि यह भावना देश–सीमा तक मर्यादित रही तो भी इसके अवयव विभिन्न देशो मे एक जैसे नहीं रहे। उनमें गुणात्मक भेद है। उसकी मनोवैज्ञानिक रचना और हमारी मनोरचना के तत्व एक समान ही होने चाहिए यह आग्रह अनुचित है ? इस सन्दर्भ मे अब तक चलती आई शब्दो की गुलामी के बारे मे पुनर्विचार आवश्यक है।

भारत मे विकास का क्रम इस तरह का रहा कि बिल्कुल प्रारम्भ मे यहॉ लोग तो थे, लेकिन सस्थाऐ नहीं थी। ऐसा कहा गया है कि **'विराड्वा इदमग्र आसीत्'**। जो लोग थे वे भी तरह–तरह के थे। अथर्ववेद हमे बताता है, "विभिन्न भाषाए बोलने वाले, विभिन्न धर्मो अर्थात् स्वभाव–धर्म के लोगो को, विभिन्न प्रकार से एक ही मकान मे रहने वाले एक परिवार के लोगों के समान जो धारण करती है वह हमारी मातृभूमि बिना हिचकिचाहट के दूध देने वाली गाय के समान धन की सहस्रो धाराए हमे प्रदान करे।[1] पहले अलग–अलग व्यक्ति थे। अथर्ववेद के अनुसार सर्वप्रथम परिवार सस्था का निर्माण हुआ। "इसके पश्चात् विराट स्थिति से उत्क्रान्ति हुई गार्हपत्य स्थिति मे, अर्थात् विवाह सस्था तथा

---

[1] जन बिभ्रती बहुधा विवाचस
नाना धर्माण पृथिवी यथौकसम्।
सहस्र धारा द्रविणस्य में दुहा
ध्रुवेव धेनु रनप्रस्फुरन्ती।। अथर्व. १२–१–४५

परिवार सस्था का निर्माण हुआ। तो पहले गृहपति का निर्माण हुआ।[1] उत्क्रान्ति की अगली अवस्था आह्वनीय सस्था में हुई, जहाँ एक ही क्षेत्र मे रहने वाले सब परिवारो के लोग एकत्र सामूहिक कार्य, यज्ञ आदि करने लगे तथा एकत्रित विचार–विमर्श करने लगे।[2] "इससे अगली अवस्था सभा की थी जिसके सदस्य को 'सभ्य कहा जाता था इस तरह स्थान–स्थान पर ग्राम सभाओ का निर्माण हुआ।"[3] "इसकी उत्क्रान्ति राष्ट्र समिति मे हुई। जो राष्ट्र समिति का सदस्य था उसे सामित्य की सज्ञा दी गई।"[4] "जो राष्ट्र समिति थी उसकी उत्क्रान्ति आमन्त्रण–परिषद् मे हुई। उसमे से मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ उसके सदस्यो को 'आमन्त्रणीय की सज्ञा दी गई।"[5]

इसके पश्चात् विभिन्न शासन प्रणालियो का हमारे यहाँ निर्माण हुआ। पश्चिम मे दुराग्रह रहता है कि यदि कोई एक शासन प्रणाली चुन लेता है तो वही सारी दुनिया मे सभी परिस्थितियो और सभी कालखण्डो के लिए उपयुक्त पद्धति है लेकिन भारत–वर्ष मे ऐसा नहीं माना गया। यहाँ यह सोचा गया कि परिस्थितियो और मनोरचनाओ को देखकर अलग–अलग कालखण्डो मे अलग–अलग शासन प्रणालियाँ रहे। एक ही कालखण्ड मे देश के अलग–अलग विभागो मे अलग–अलग शासन प्रणालियाँ भी चल सकती हैं और इस तरह बारह तेरह शासन प्रणालियाँ भारत मे प्राचीन काल मे चलती थीं। उसमे अब और पद्धतियाँ भी जोडी जा सकती हैं।

"स्वरित–साम्राज्य भौज्य स्वराज्य वैराज्य पारमेष्टय राज्य, माहाराज्यमाधिपत्यम् समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौम सार्वयेषु, आन्तापधापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताय एकराटिति"[6]। ये तरह–तरह की शासनप्रणालियाँ अलग–अलग समय तथा क्षेत्र मे निर्माण हुई। लेकिन इन शासन प्रणालियों का विकास किसने किया ? हमारे देश की विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण पहल राजनीतिक नेताओं ने नहीं की। इनका विकास उन लोगो ने किया जो सत्ता से दूर थे, अर्थात् आत्मज्ञानी ऋषि। इस प्रकार

---

1. सा उदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्। अथर्व. ८–१०–२
2. सा उदक्रामत् सा आहवनीये न्यक्रामत्। अथर्व. ८–१०–४
3. सा उदक्रामत् सा सभाया न्यक्रामत्।
   यन्ति अस्य सभा सभ्यो भवति।। अथर्व. ८–१०–८,६
4. सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्।
   यन्ति अस्य समितिं सामित्यो भवति।। अथर्व. ८–१०–१०,११
5. साउदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्।
   यन्ति अस्य आमन्त्रण आमन्त्रणीयो भवति।। अथर्व. ८–१०–१२,१३
6. ठेंगड़ी दत्तापन्त, 'सकेत रेखा', सम्पा. भानुप्रताप शुक्ल, जानकी प्रकाशन नई दिल्ली, (ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत), पृष्ठ – १४२

इन ऋषियो द्वारा किये गए तप से राष्ट्र बल और ओज का निर्माण हुआ। ऋग्वेद मे उदाहरण मिलता है कि जब यह राष्ट्र बिखरा हुआ था, कोई किसी को नहीं मानता था। तब विश्रृखलित अवस्था मे से राष्ट्र निर्माण का यह कार्य महर्षियो ने किया "गायो को आगे बढाने के लिए प्रयोग की जाने वाली लाठिया जिस तरह निर्बल तथा पृथक- पृथक हुआ करती हैं वैसे ही निर्बल तथा पृथक–पृथक लोग शिशुवत तथा परिच्छिन्न थे किन्तु उनके नेता जब ऋषि वशिष्ठ बने तब वे ही भारत के लोग प्रख्यात तथा समृद्ध हुए।"[1] सत्ताकाक्षा से जो अलग हैं, 'पद्मपत्रमिवाम्भसि' वाली भूमिका वाले लोगो ने जनकल्याण के लिए स्वय आकाक्षा न रखते हुए कौन–सी व्यवस्था उचित हो सकती है, इसका वस्तुनिष्ठ बुद्धि से निष्पक्ष विचार करते हुए अलग–अलग विभागो मे अलग–अलग शासन प्रणालियो का निर्माण किया था। राजतन्त्र अनेको प्रणालियो मे से एक प्रणाली थी और वह राजा भी सर्वसत्तावादी नहीं था। राजतन्त्र के अन्तर्गत जो बाद मे दोष आए वे आधुनिक काल के हैं। हिन्दुस्थान मे अहिन्दुओ का शासन होने के पश्चात्, जिसमे ब्रिटिशो का भी समावेश होता है, वहॉ की शासन प्रणाली के जो दोष थे वे सर्वसत्तावाद के दोष थे, उनका प्रतिबिम्ब हमारे देश की राज्य–रचना पर पड़ा। यह विकृति अभी–अभी की, कुछ शताब्दियो की है। प्रारम्भ मे यह सतर्कता बरती गई थी कि इस तरह की सर्वसत्ता या एकाधिकार का निर्माण न हो। इस दृष्टि से राजा के बारे में गहन रूप से विचार किया गया था। राज्याभिषेक के मन्त्र इसे प्रकट करते हैं। राज्याभिषेक के समय जनता राजा को कहती थी, **"तेरे कारण राष्ट्र भ्रष्ट न हो। सब दिशाओ में रहने वाले प्रजाजन से तुझे राज्यपद पर रखने की इच्छा रखें। तेरे राज्यपद को स्थिर रखने में वह राष्ट्र समिति समर्थ हो।"**[2] अर्थात् वह सर्वेसर्वा नहीं था। प्रजा सर्वेसर्वा थी। सर्वेसर्वा प्रजा तथा राजा के बीच में राष्ट्र समिति थी। राजा को राष्ट्र समिति के मार्ग दर्शन मे कार्य करना पडता था। इसे यूरोपीय मानदण्ड से नापा नहीं जा सकता। प्रारम्भ मे राजा का निर्वाचन होता था यहाँ आनुवशिक राजपद काफी देर बाद आया। प्रजा यदि नाराज हो जाती थी तो राजा टिक नहीं सकता था। इसके कई उदाहरण हैं। एक उदाहरण राजा प्रजापति का है उन्होंने उस समय की राष्ट्र समिति को अपमानित करने का प्रयास किया तो उसे जनता ने अति निर्ममता के साथ हटा दिया। दूसरा सुप्रसिद्ध वर्णन आता है, "वेण राजा

---

[1] दण्डा इवेद् गो अजनास आसन्
परिच्छिन्ना भरता अर्भकास।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ
आदृत्सुना विशो अप्रथन्त।। ऋग्वेद ७–३३–६

[2] आत्वा हार्षमन्तर भूर ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विषस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मात्वद्राष्ट्र अधिभृशत्। अर्थवेद ६–८७–१

का उसने जनता विरोधी कुछ व्यवहार किया तो उसको हटाया गया।"[1] उसको हटाने के बाद उसके लड़के को कहा गया – "बेटा तुमको हम राजा तो बनाते हैं लेकिन हमारी कुछ शर्तें हैं जो तुमको स्वीकार करनी होगीं।" वे शर्ते ध्यान मे रखने योग्य है। उसको यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने को बाध्य किया गया कि – 'प्रजाजन जो कुछ भी कहेगे, वही मैं करूँगा। मैं दूसरा कुछ नहीं करूँगा। आपको खुशी हो, ऐसा ही करूँगा।[2] और यह प्रतिज्ञा करने के बाद ही उसको राजपद सौंपा। राजाओ को पहले यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी – "अपनी इच्छाओ पर मैं नहीं चलूँगा। [3]

समाज मे सर्वोच्च सत्ता धर्मदण्ड और नैतिक नेताओ की थी। राजदण्ड–शासकीय सत्ता धर्मदण्ड से नियन्त्रित रहती थी। इस पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर जो रचना होगी वही भारतीय ढग की मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे उपाध्याय का कहना है पश्चिमी देशो मे राष्ट्रीय जीवन मे जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान शासन सस्था को दिया जाता है वह भारत मे कभी भी नहीं रहा। शासन सस्था के माध्यम से राष्ट्र निर्माण की कल्पना अहिन्दू कल्पना है। इस कारण अपने राष्ट्र का विचार करते समय हिन्दू पद्धति के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण आधार मानना पडेगा सर्वसाधारण नागरिक की राष्ट्र चेतना को। इस चेतना का स्तर जितना ऊँचा रहेगा राष्ट्र का स्तर भी उतना ही ऊँचा हो सकेगा। केवल शासको की या कुछ नेताओ की उच्च छवि निर्माण करने के सहारे देश बहुत बडा नहीं हो सकता।"[4]

विचारणीय बात यह है कि समूहगत अस्मिता का प्रवास पश्चिम और भारत मे एक ही प्रकार का होता रहा है क्या ? स्पष्टत पश्चिमी वैश्विक दर्शन मे 'नेशन' का स्थान और पश्चिमी मनोरचना मे 'नेशनलिज्म का महत्व और हिन्दू वैश्विक दर्शन मे 'राष्ट्र का स्थान और हिन्दू मनोरचना मे 'राष्ट्रीयता का महत्व दोनो को एकरूप या समान नहीं माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन की मौलिक धारणाओ और अभारतीय चिन्तकों के विचारो मे कुछ मौलिक अन्तर है। पश्चिम मे सभी इकाईयो और सकल्पनाओ का विचार पृथक–पृथक ढग से टुकडों मे किया जाता है। समझने की सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पश्चिम की यह सारी रचना सकेद्रित,

---

1 उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', जागृति प्रकाशन, नोएडा, १९९०, पृष्ठ – ६६

2 ठेंगड़ी दत्तोपन्त, 'सकेत रेखा', सम्पा. भानुप्रताप शुक्ल जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली (ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत) पृष्ठ – १४४

3 वही, वहीं

4 उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', अध्याय ३'व्यष्टि–समष्टि में समरसता, जागृति प्रकाशन, नोएडा, १९९०, पृष्ठ – ४६–४७

(Concentric) है। जबकि सनातन काल से हमारी सम्पूर्ण रचना कुण्डलित सर्पित या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली (Spiral) अखण्ड मडलाकार रही है।

अत किसी भी समूहगत अस्मिता का जो स्थान पश्चिमी दर्शन मे हो सकता है वह हिन्दू वैश्विक दर्शन मे नहीं हो सकता। किसी भी समूहगत सकल्पना का जो महत्व पश्चिमी मनोरचना मे हो सकता है वह हिन्दू मनोरचना मे नहीं हो सकता। इस कारण पश्चिम की किसी भी सस्था की तुलना (जिसमे 'नेशन भी है इधर की किसी भी सस्था के साथ जिसमे 'राष्ट्र भी है) करना अनुपयुक्त है। इसी प्रकार पश्चिम की किसी भी सकल्पना की तुलना ('नेशनलिज्म भी है) इधर की किसी भी सकल्पना के साथ (जिसमे 'राष्ट्रीयता भी है) करना अनुचित है।

८ २ *राष्ट्रवाद*

प० दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र को राजनीतिक नहीं वरन् सास्कृतिक इकाई मानते हैं, लेकिन राजनीतिक रूप से राष्ट्रीय अखण्डता के वे प्रबलतम् समर्थक हैं।

मजहबी तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद के खिलाफ जिस भू–सास्कृतिक–मानवतावादी राष्ट्रवाद की कल्पना की गई थी, वह तो ससार मे कहीं भी साकार नहीं हुई। 'यूरोपीय राष्ट्रवाद' आकार ग्रहण नहीं कर सका। 'अरब राष्ट्रवाद आज भी छिन्न–विच्छिन्न है। भारतीय–राष्ट्रवाद भी विभक्त हुआ। राजनीतिक इकाईयो को ही राष्ट्रीय राज्य मानने की दुनिया मे आज प्रथा है। राष्ट्रवाद की व्याख्या 'अभौतिक भावनाओ की सजातीयता के रूप मे की जाती है, लेकिन राजनीतिक बॅटवारों को न केवल राष्ट्रो का विभाजन माना जाता है वरन् एक ही प्रजातीय व सास्कृतिक इकाई परस्पर शत्रुवत व्यवहार करने लगती है, आधुनिक विश्व का यह अनुभव है। उपाध्याय की राष्ट्रवाद अवधारणा भी, इस व्यवहार का अपवाद नहीं थी। एक ओर वे अखण्ड भारत के समर्थक थे, ता दूसरी ओर पाकिस्तान को भारत का 'प्राकृत शत्रु' घोषित करते थे।

राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति के विषय मे उपाध्याय लिखते हैं "यूरोप के इन विचारों में राष्ट्रवाद सबसे पुराना व बलशाली है। रोम के साम्राज्य के पतन के बाद तथा रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति विद्रोह अथवा उसके प्रभाव मे कमी के कारण, यूरोप में राष्ट्रों का उदय हुआ। यूरोप का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास, इन राष्ट्रों के आविर्भाव तथा परस्पर सघर्ष का ही इतिहास है। इन राष्ट्रों ने, यूरोप महाद्वीप से बाहर जाकर, अपने उपनिवेश बनाए तथा दूसरे स्वतन्त्र देशों को गुलाम बनाया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण राष्ट्र और राज्य की एकता की प्रवृत्ति भी बढ़ी तथा 'राष्ट्रीय राज्य' का

यूरोप मे उदय हुआ। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के केन्द्रीय प्रभाव मे कमी होकर या तो राष्ट्रीय चर्च का निर्माण हुआ या मजहब का। मजहबी गुरुओ का राजनीति मे कोई विशेष स्थान नहीं रहा। सेक्युलर स्टेट की कल्पना का इस प्रकार जन्म हुआ।"[1]

यूरोप मे राष्ट्रीय राज्यो का निर्माण, यूरोप के 'बलकनाईजेशन' का परिणाम था जो राष्ट्रवाद के पुरुस्कर्ताओ को स्वीकार नहीं था। राष्ट्रवाद की कल्पना मूलत राजनीतिक नहीं थी लेकिन राष्ट्रीय–राज्य की व्यावहारिक अवधारणा ने, उसे राजनीतिक बना दिया।

उपाध्याय ने पश्चिम के 'राष्ट्रवाद की अवधारणा को विश्व शान्ति के प्रतिकूल विवेचित किया है तथा उसमे अवस्थित राजनीतिक तत्व की भी आलोचना की है। सिद्धान्तत 'राष्ट्र की व्याख्या सस्कृति परक करते हुए भी वे भारत मे एक व अविभाज्य 'राष्ट्रीय राज्य के समर्थक थे। इसलिए उनका राष्ट्रवाद का विचार राजनीति के दायरे मे ही आता है।

यूरोपीय पुनर्जागरण के समय कल्पित राष्ट्रवाद की यात्रा तो आगे बढ नहीं सकी। द्वितीय महायुद्ध के समय स्थापित हुई, राजनीतिक इकाईयो को ही आजकल हम 'राष्ट्रीय राज्य के नाते पहचानते हैं। आज अफ्रीकन व एशियन महाद्वीपो की राजनीतिक अशान्ति का यह बडा कारण है। पुरानी सास्कृतिक इकाईयॉ अपने सहज राष्ट्रवाद को अभी तक प्राप्त नहीं कर सकीं, लेकिन सयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत सघ जैसे विभिन्न राष्ट्रीयताओ को समावेशित करने वाले देश, आज सबल राष्ट्रीय इकाई बने हुए दिखाई दे रहे हैं। अफ्रीकन राष्ट्रवाद, अखिल अरब राष्ट्रवाद, अखण्ड भारतीय राष्ट्रवाद अथवा यूरोपीय राष्ट्रवाद, अभी व्यावहारिक इकाई नहीं बन सके हैं। उपाध्याय 'अखण्ड भारत के पक्षधर थे। 'सास्कृतिक राष्ट्र अवधारणा की 'हिन्दू राष्ट्रवादी व्याख्या ने उनको अधिक विवादास्पद ही बनाया।

८.३ राज्य की उत्पत्ति :

दीनदयाल उपाध्याय की मान्यता है कि समाज स्वयम्भू इकाई है तथा 'राज्य' की उत्पत्ति, समाज की एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए की गई। वे समाज व राज्य की उत्पत्ति एक साथ हुई नहीं मानते वरन् समाज पहले उत्पन्न हुआ तथा राज्य बाद में। समाज का सहोदर 'धर्म' है, 'धर्म' के आधार पर समाज चलता था। उपाध्याय, इस भारतीय मान्यता से सहमत हैं कि कृतयुग में राज्य व

---

[1] उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', अध्याय–१ राष्ट्रवाद की सही कल्पना जागृति प्रकाशन, नोएडा १६६०, पृष्ठ – १६

दण्ड व्यवस्था नहीं थी। धर्म के आधार पर सचालित स्वायत समाज था। कालान्तर मे समाज मे विकृति आई। उस विकृति से धर्म के सरक्षण के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सन्दर्भ मे दीनदयाल कहते है

" राज्य का निर्माण हमारे यहॉ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत मे वर्णन है कि कृतयुग मे न राज्य था न राजा था न दण्ड देने वाला था , सब प्रजा धर्म के आधार पर एक दूसरे की रक्षा करती थी।"[1]

बाद मे अव्यवस्था आई लोभ आया, क्रोध आया, धर्म की ग्लानि हुई, और "मात्स्य न्याय" प्रारम्भ हो गया। सारे ऋषि घबराये कि कैसे काम चलेगा ? सभी ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्माजी ने स्वय रचा हुआ एक ग्रन्थ इन ऋषियो को दिया जो 'दण्ड नीति' या 'राज्य शास्त्र के सम्बन्ध का ग्रन्थ था। उन्होने साथ–साथ आकर मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। मनु ने कहा मैं राजा नहीं होता क्योकि राजा बनने के बाद मुझे दण्डित करना पड़ेगा और कुछ लोगो को मारना होगा कुछ को पीटना होगा, कुछ को कारागृह में डालना होगा, व अन्य कई कठोर कर्म करने पडेंगे। मैं यह पाप क्यो करूँ ? इस पर ब्रह्माजी न कहा, ऐसी कुछ बात नहीं है। यह पाप नहीं बल्कि अन्य लोग धर्म का आचरण करे, इसके लिए तुम यह काम करोगे, अत यह भी धर्म ही गिना जाएगा। इतना ही नहीं, प्रजा के जितने कर्म होगे, उन कर्मो का एक भाग तुम्हे मिल जाएगा और इसलिए ये जितना धर्म करेगे उसका एक भाग स्वय मिल जाएगा। इसमे बताया तो नहीं है, पर मैं समझता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके तो उस पाप का भाग भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि "मीठा–मीठा गप्प और कडवा–कडवा थू।" दोनो ही मिलने चाहिए।

"यह 'समझौता सिद्धान्त' राज्य पर लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। परन्तु पश्चिम मे कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि से समझौते में से पैदा हुआ, परन्तु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उल्टी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि–समय से पैदा हुआ माना गया, परन्तु समाज को तो 'स्वयम्भू' माना है तथा राज्य एक सस्था के नाते है।"[2]

1 न राज्यम् न च राजासीत् न दण्डा न च दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्।।महा. शा. २६/१४।।

2 उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', जागृति प्रकाशन, नोएडा, १९९०, पृष्ठ – ४८

उपर्युक्त उदाहरण मे मुख्यत तीन बातो पर उपाध्याय ने अपना मत प्रस्तुत किया है (१) राज्योत्पत्ति पूर्व समाज की स्थिति (२) राज्य की उत्पत्ति तथा (३) पश्चिम की तत्सम्बन्धी अवधारणा। प्रथम दो बातो मे से निम्न निष्पत्तियॉ निकाली जा सकती हैं

(१) राज्य की उत्पत्ति समाज के बाद हुई।

(२) राज्योत्पत्ति पूर्व समाज सहज धर्म का पालक था, धर्म–विधायक ऋषि व प्रजापति ब्रह्मा स्वय राजा नहीं थे।

(३) राज्य मानवी विकारो की उत्पत्ति है वह प्रजा मे उत्पन्न हुए लोभ, क्रोध आदि धर्म को हानि पहुँचाने वाले तत्वो के खिलाफ निरूपित हुआ। अत राज्य का प्रारम्भिक स्वरूप 'दण्ड–नीति के रूप मे नकारात्मक था।

(४) भारतीय राज्य कल्पना वैधानिक राज्य कल्पना है। प्रजा के प्रतिनिधि ब्रह्मा द्वारा राजा मनु को स्वनिर्मित 'विधान' प्रदान किया गया।

(५) राज्य , राजा और प्रजा के दोहरे समझौते मे से उत्पन्न हुआ। धर्म स्थापना का कार्य ऋषियो तथा धर्म सरक्षण का कार्य राजा का माना गया (विधायिका व कार्यपालिका मे पृथक्करण)।

(६) प्रजा के 'धर्म' का एक भाग राजा को मिलेगा, यह विचार प्रजा द्वारा स्वीकृत राज्य व्यवस्था तथा कराधान की जिम्मेदारी की ओर सकेत करता है।

(७) पाप का भाग भी राजा को मिलेगा अर्थात् धर्मरक्षण मे असमर्थ राजा को हटाने का अधिकार प्रजा एव उनके प्रतिनिधि ऋषियो का रहेगा।'

(८) राज्य, समाज की एक सस्था है सम्पूर्ण समाज नहीं।

राज्योत्पत्ति की यह कल्पना आधुनिक लोकतान्त्रिक सवैधानिक शासन के बहुत निकट है। सम्भवत इसी परम्परा के कारण तृतीय विश्व मे केवल भारत ही ऐसा देश है, जहॉ आधुनिक सवैधानिक लोकतन्त्र सहज रूप से अपनी जड़े जमा सका।

पश्चिम के विचारों के बारे में जो टिप्पणी दीनदयाल उपाध्याय ने की है, उसे बहुत सयत नहीं कहा जा सकता, क्योकि हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, समाजोत्पत्ति का नहीं वरन् राज्योत्पत्ति का ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त, को सामाजिक समझौते का

... अत्याचारी राजा वेण को राज सिहासत से हटाकर फिर से पृथु को गद्‌दी पर बिठाने का कार्य ऋषियों ने किया। ...... यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो राजा का हटाना धर्म है" वही पृष्ठ – ६६

सिद्धान्त अवश्य कहते हैं लेकिन यह वस्तुत राज्य स्थापना के लिए समाज द्वारा किए गए समझौते का सिद्धान्त है।

द्वितीयत पश्चिम के 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादको ने इस सिद्धान्त को 'राजा की ईश्वरीय सत्ता' के खिलाफ ही प्रतिपादित किया था अत यह उल्टी बात नहीं हुई वरन् सीधी बात हुई कि पश्चिम के ये विचारक भी प्राचीन भारतीय कल्पना के समझौता–सिद्धान्त की सत्यता का साक्षात्कार कर सके। अत इस समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक को उपालम्भ देने के बजाय उनका साधुवाद करना चाहिए कि उन्होने पश्चिम की एक गलत अवधारणा को ठीक करने का प्रयत्न किया।

८'४ राष्ट्र का स्वरूप

प॰ दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक वस्तु है। वे राष्ट्र को भूमि, जन सस्कृति का सघात मानते थे।[1] महर्षि अरविन्द ने भी राष्ट्र की कल्पना आध्यात्मिक रूप मे की थी। उनके अनुसार "मातृभूमि खण्ड नहीं है, वाक विलास नहीं है और न ही मन की कोरी कल्पना है। यह एक ऐसी महाशक्ति है, जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि–कोटि जनता की व्यक्तिगत शक्तियो का समाविष्ट रूप है।" वे राष्ट्र को सात्विक धर्म मानते थे किन्तु लोकमान्य तिलक की राष्ट्र की अवधारणा उपरोक्त दोनो विचारको से भिन्न थी। तिलक के अनुसार कोई भी जन समूह तभी राष्ट्र बन सकता है जब उसके सदस्यों मे परस्पर सम्बद्ध होने की चेतना व्यक्त हो।[2]

दीनदयालजी के अनुसार राष्ट्र एक जीवमान इकाई है। वे राष्ट्र को परिभाषित करते हुए कहते हैं, "किसी निश्चित भू–भाग मे निवास करने वाला मानव समुदाय जब उस भूमि के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, जीवन के विशिष्ट गुणो को आचरित करता हुआ समान परम्परा और महत्वाकाक्षाओ से युक्त होता है, सुख–दुख की समान स्मृतियाँ राज–भिज्ञ की समान अनुभूतियाँ प्राप्त कर परस्पर हित सम्बन्धों मे ग्रथित होता है, सगठित होकर अपने श्रेष्ठ जीवन मूल्यो की स्थापना के लिए सचेष्ट होता है और उस परम्परा का निर्वाह करने वाले तथा उसे अधिकाधिक तेजस्वी बनाने के लिए महान् तप, त्याग, परिश्रम करने वाले महापुरुषो की श्रृखला निर्माण होती है, तब पृथ्वी के अन्य मानव समुदायो से भिन्न एक सास्कृतिक जीवन प्रकट होता है। इस भावात्मक स्वरूप को ही राष्ट्र कहा जाता है।[3]

---

1 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – १३०

2 केलकर, एन.सी.. लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ तिलक, पृष्ठ – ४८६–४८७

3 राष्ट्र जीवन की दिशा, पृष्ठ – ४५–४६

केवल भूमि और उस भूमि पर रहने वाले लोग ही राष्ट्र हैं इस अवधारणा को वे गलत मानते हैं।[1] स्वाधीनता के आन्दोलन मे यही माना गया था कि हिन्दुस्तान मे रहने वाले सब लोगो को मिलाकर यह राष्ट्र है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो के दिमाग पर प्रादेशिक राष्ट्र स्वरूप की कल्पना आरुढ हो गई। इस प्रादेशिक राष्ट्रीयता की अवधारणा की अशास्त्रीयता एव अनैतिहासिकता स्पष्ट रूप से लोगो के ध्यान मे लाना प॰ दीनदयालजी के चिन्तन का प्रमुख भाग था। परन्तु प्रादेशिक राष्ट्र कल्पना को केवल गलत बनाना उचित नहीं था इसलिए उन्हे यह भावात्मक रचना भी प्रस्तुत करनी पडी की राष्ट्र कैसे बनता है और राष्ट्र शरीर को सक्षम रखने के लिए उसके आत्मा का अवधान कैसे रखना पडता है ? सामान्यत लोग ऐसी गलती करते हैं कि राज्य को ही राष्ट्र समझ लेते हैं। राज्य राष्ट्र की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला एक अग है। राज्य अनेक अवसरो पर राष्ट्र का प्रतिनिधित्व भी करता है और इसी कारण राज्य को ऐसा महत्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है कि उसकी उपेक्षा कर नहीं चला जा सकता, फिर भी इन कारणो से हम "राज्य" को ही राष्ट्र समझ बैठने की भूल नहीं कर सकते, क्योकि राष्ट्र एक जीवमान इकाई है, जो स्वय प्रकट होता है और जो अपनी आवश्कता की पूर्ति के लिए राज्य सहित अनेक छोटी बडी इकाइयो का निर्माण करता है। ये विभिन्न इकाइयॉ राष्ट्र के लिए पोषक बनकर कार्य करे, और इनमे कभी किसी प्रकार का टकराव न हो, इसके लिए आवश्यक होता है कि राष्ट्र को, जाग्रत रखा जाए। यजुर्वेद मे **"वय राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता "** मत्र द्वारा यही मनीषा व्यक्त की गई है कि हम जागते रहेगे यानि राष्ट्र को जाग्रत रखेंगे।[2]

उपाध्याय जी का कहना है कि राष्ट्र का स्वरूप जिस तत्व के अस्तित्व पर निर्भर करता है वह अदृश्यमान होते हुए भी ऐसा विलक्षण तत्व है जिसका अनुभव सर्वाधिक तीव्रता से होता है। जो महत्व व्यक्ति के जीवन मे व्यक्ति अस्मिता का है, वैसा ही महत्व राष्ट्रीय अस्मिता का भी है। राष्ट्रीय अस्मिता रहने से राष्ट्र जीवित रहता है, उसके क्षीण पडने से राष्ट्र कमजोर हो जाता है और उसके लोप अथवा विस्मरण होने से सम्पूर्ण राष्ट्र का ही विनाश होने लगता है। विश्व पटल पर आज कितने ही राष्ट्र अतीत की स्मृति मात्र बनकर रह गए। इसका कारण भी यही है।[3] राष्ट्र का स्वरूप उसकी अस्मिता मे ही निवास करता है।

1 उपाध्याय, विचार दर्शन, खण्ड–५, पृष्ठ – १०

2 उपाध्याय राष्ट्र जीवन की दिशा, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १६७६, पृष्ठ – ५४

3 उपाध्याय, राष्ट्र जीवन की दिशा, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १६७६, पृष्ठ – ५६

ऐसा मानने पर कि व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी एक अस्मिता होती है तो हमारे समक्ष भूमिखण्ड मे निवास करने वाला एक मानव समुदाय उपस्थित होता है। वास्तव मे राष्ट्र जिसके अस्मिता के अर्थ को हम समझने का प्रयास करते हैं एक समूहवाची राष्ट्र ही है। राष्ट्र कहते ही हमे समूह का बोध होता है। राष्ट्र के समूह को "जन" कहते हैं। जनसमूह ही निश्चित भू–भाग मे राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है।

किन्तु वह कौन सा जनसमूह है ? अधिकतर लोग राज्य को ही आधार मानकर राज्य मे रहने वाले सभी व्यक्ति को ही राष्ट्र के "जन" मान लेते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो देश को आधार मानकर जन की कल्पना करते हैं परन्तु राष्ट्र के जिस "जन का भाव अभिप्रेत है उसे ये दोनो विचार ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते।

"राष्ट्र" से जिस समूह का बोध होता है, उसे हम "एक जन" कहते हैं। किन्तु जन एक जीवमान इकाई है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, बनाया नहीं जाता उसी प्रकार "जन" की भी एक स्वतत्र स्वयभू सत्ता है। व्यक्तियो के समूह कृत्रिम रूप से भी बनाए जाते है किन्तु "जन" सत्ता कृत्रिम रूप से नहीं बनाया जा सकता। "जन" का कोई रजिस्टर नहीं होता। न ही उनका कोई निर्माता, जनक अथवा सर्जक होता है। यह जीवमान चीज है और स्वय पैदा होती है। इसके अन्दर एक जीवन है एक प्राणशक्ति है।

उपाध्याय जी के अनुसार जब "राष्ट्र-निर्माण" शब्द का प्रयोग होता है तो इसका मतलब यह नहीं की कृत्रिम रूप से राष्ट्र को बनाया जा सकता है। जैसे मकान बनता है वैसे राष्ट्र नहीं बन सकता। राष्ट्र निर्माण का अर्थ है उसे मजबूत करना। राष्ट्र उत्पन्न होना एक लम्बी प्रक्रिया है जो स्वय सम्पन्न होती है। राष्ट्र का सृजन, अभ्युदय, पुनरुत्थान अथवा पतन सृष्टि रचना के द्वारा निर्धारित होता है। क्योकि सृष्टि मे राष्ट्र का भी जीवनोद्देश्य होता है। सृष्टि द्वारा निर्धारित जीवनोद्देश्य को जब तक राष्ट्र निभाता है तब तक वह अस्तित्व मे बना रहता है।

वे राष्ट्र के निर्माण मे श्रद्धा को विशेष महत्व देते हैं। जब तक भूमि विशेष में रहने वाले लोगों के हृदय मे मातृभूमि के प्रति अविचल श्रद्धा का भाव उत्पन्न नहीं होगा तब तक राष्ट्र का निर्माण भी नहीं हो सकता, इसलिए दीनदयालजी कहते हैं, " राष्ट्र केवल मात्र नदियो, पहाडों, मैदानों, ककड़ों के ढेर से नहीं बनता। यह केवल भौतिक इकाई नहीं। इसके लिए देश में रहने वाले लोगों के हृदयों में उसके प्रति असीम श्रद्धा की अनुभूति होना प्रथम आवश्यकता है। इसी श्रद्धा के कारण हम अपने देश को मातृभूमि कहते हैं।"[1] अपने इस पक्ष के तर्क में लक्ष्मी–सूत्र के मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं –

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा, पृष्ठ – ७२

"प्रादुर्भूतो सुराष्ट्रेडस्मिन कीर्तिमृद्धि ददातु मे"। इसका तात्पर्य है कि क्यो मैं इस उत्तम राष्ट्र मे जन्मा हूँ, मुझे कीर्ति एव समृद्धि प्राप्त हो। उपाध्याय जी इस उदाहरण को प्रस्तुत कर यह बताना चाहते हैं कि मातृभूमि के प्रति श्रद्धा आवश्यक है। राष्ट्र के प्रति श्रद्धा की भावना पैदा करने का श्रेय वे हिन्दू ऋषियो एव चिन्तको को देते हैं।

उपाध्याय जी के अनुसार भारत का राष्ट्र स्वरूप हिन्दू है। हिन्दू शब्द हिन्दुस्तान के उन सभी लोगो का, जो इसकी सस्कृति, परम्परा, इतिहास और जीवन–पद्धति के प्रति अपनत्व का भाव रखते हैं और इसे अपनी मातृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, का साझा नाम है। वे सभी भारतीय जिन्होने हिन्दुत्व की भावना से प्रेरित होकर शताब्दियो तक विदेशी आक्रान्ताओ और शासको के साथ सघर्ष किया जिन्होने इस देश के गौरव, स्वराज्य और स्वधर्म की रक्षा के लिए उच्चतम बलिदान दिए जो हिन्दुस्तान की मुख्य राष्ट्रीय धारा और रीढ की हड्डी है, हिन्दू हैं। यह मातृभूमि उनका जीवनस्रोत है और वे इस भूमि के सम्बल हैं। उनका भूतकाल वर्तमान और भविष्य इसी भूमि से जुड़ा हुआ है। **हिन्दुत्व की विशिष्टता को बताते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं "हिन्दुत्व मुख्यत एक जीवन–पद्धति है। यह चिन्तन और विचार के मामले मे सबको पूरी छूट देती है परन्तु आचरण के मामले में यह सबको आचार–सहिता मे बॉंधती है जिसे हिन्दू धर्म कहा जाता है कोई आस्तिक हो या नास्तिक, कोई सदेहवादी हो या पलायनवादी, यदि वे इस सस्कृति और जीवन- पद्धति को अपनाते हों, तो वे सभी हिन्दू हैं। हिन्दुइज्म मजहबी एकता पर बल न देकर आध्यात्मिकता और नैतिक आचरण पर बल देता है। इसका आग्रह किसी विशेष पूजा–पद्धति या मतवाद पर न होकर श्रेष्ठ व्यवहार और नैतिक मूल्यों पर है। "सत्य वद धर्म चर" का उपदेश इसी सत्य का द्योतक है। वे सभी लोग जो उन नैतिक मूल्यो को अपनाने को तैयार हो, हिन्दुइज्म की परिधि मे आ सकते हैं। हिन्दुइज्म कोई एक सम्प्रदाय या पथ न होकर उन सब व्यक्तियो और पथो का समाहार है जो ठीक मार्ग को अपनाने और सत्य को ग्रहण करने को उद्यत हो।"[1]** इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दू राष्ट्र मानने में किसी प्रकार का कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं है।

उपाध्याय जी के अनुसार हिन्दू राष्ट्र का प्राकृतिक स्वभाव एक है और उस पर ही राष्ट्रीय एकता एव एकता की निरतरता निर्भर है। जिसके कारण राष्ट्र की धारणा होती है, उस मूल तत्त्व को वे "चिति" नाम से सम्बोधित करते हैं। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। काल और परिस्थिति के अनुसार बाहरी ढॉंचे में चाहे जो परिवर्तन होता रहे, किन्तु राष्ट्र की मूल प्रकृति नहीं

---

[1] **एस. राधाकृष्णन् हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ**

बदलती। जिन सिद्धान्तो को चरितार्थ करने के लिए राष्ट्र का अविर्भाव हुआ है उनका पालन होते रहने तक चिति विद्यमान रहती है। राष्ट्र मे चैतन्य बना रहता है। राष्ट्र बडे से बडा त्याग करने को उद्यत रहता है।

८ ५ *चिति की अवधारणा*

उपाध्याय जी के अनुसार व्यक्ति की आत्मा की तरह राष्ट्र की भी आत्मा होती है। राष्ट्र की इसी आत्मा को उपाध्याय जी "चिति" कहते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर इसे "चित्त" कहते हैं। "चिति" के प्रकाश से ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास होता है। "चिति" को लेकर ही प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की सस्कृति की दिशा का निर्धारण "चिति" ही करती है।[1] चिति से ही चेतना उत्पन्न होती है।[2] चिति ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। इसी के कारण राष्ट्र मे एकात्मता जागृत होती है। इसी एकात्मता के द्वारा ही समाज मे न्याय सभव है। उपाध्याय जी के अनुसार "चिति" की एकता ही समान परम्परा इतिहास और सभ्यता का निर्माण करती है। अत किसी भी राष्ट्र की एकता के लिए मूल कारण सस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा आदि की एकता नहीं, ये तो मूल कारण एक "चिति" के व्यक्त परिणाम है। अत ऊपर से प्रत्येक को आरोपित करके भिन्न–भिन्न "चिति" के लोगो मे भाषा, धर्म सभ्यता आदि की एकता निर्माण करने पर भी राष्ट्रीय एकता नहीं हो सकती। राष्ट्र की सम्पूर्ण एकता, उसका समष्टि जीवन राष्ट्र की आत्मा चिति के परिणामस्वरूप ही होता है।"[3] यह चिति राष्ट्र का केन्द्र–बिन्दू है। चिति वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है, और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।

उपाध्याय जी का ऐसा मानना है कि राष्ट्र का अस्तित्व उसकी "चिति" के कारण होता है। चिति के ही उदयावपात से राष्ट्र का उदयावपात होता है। भारतीय राष्ट्र के भी उत्थान और पतन का वास्तविक कारण "चिति" का प्रकाश अथवा उसका अभाव है। भारत ससार मे बलशाली एव वैभवशाली राष्ट्र बनना चाहता है। ऐसी दशा मे हमको अपने "चिति" का ज्ञान करना आवश्यक है। बिना "चिति" के ज्ञान के प्रथम तो हमारे प्रयत्नों में प्रेरक शक्ति का अभाव रहने के कारण वे फलीभूत नहीं होगे।

---

[1] उपाध्याय, एकात्म मानववाद, पृष्ठ – १४४

[2] भारत चिति १९७६ पृष्ठ – ५३

[3] उपाध्याय राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – ११६

द्वितीयत मन मे जो भारत के कल्याण की इच्छा है उसके लिए जी तोड परिश्रम करके भी हम भारत को भव्य बनाने के स्थान पर उसको नष्ट कर देगे। स्वप्रकृति क प्रतिकूल हुए कार्य के परिणामस्वरूप जीवन मे जो परिवर्तन दिखाई देता है वह विकास के स्थान पर विनाश का द्योतक है और इस प्रकार – **"विनायक प्रकुवीणो रचयामास वानरम्"** की उक्ति चरितार्थ होती है।[1]

उपाध्याय जी का कहना है कि राष्ट्र की चिति के स्वरूप की व्याख्या असभव है। उसका साक्षात्कार ही सभव है। किन्तु जिन महापुरुषो ने राष्ट्रात्मा का साक्षात्कार किया उनके जीवन मे चिति का प्रकाश उज्जवलतम् रहा, उनके जीवन की ओर देखने से, हम अपने चिति के स्वरूप की कुछ झलक पा सकते हैं।

चिति के प्रकाश से जागृत होती है और हम कह सकते हैं कि राष्ट्र जाग उठा है। विराट् राष्ट्र का प्राण है तो चिति आत्मा है।[2] जब विराट् जागा हुआ रहता है तो विभिन्नता पारस्परिक सघर्ष उत्पन्न नहीं करती तथा राष्ट्र के लोग एक दूसरे का सहयोग करते है जैसे मानव शरीर के विभिन्न अग या किसी परिवार के विभिन्न सदस्य एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। चिति के प्रकाश से जागृत एकात्म जनमानस की सगठित कार्यशक्ति विराट् की प्रेरणा लेकर प्रकट होते ही राष्ट्र मातृभूमि की अराधना करता हुआ ऐहिक एव पारलौकिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर विश्व मे अजेय स्वरूप मे खडा होता है। यदि चिति जागृत नहीं रहती तो विराट् भी निराधार हो जाता है। इसलिए विराट् स्वरूप प्राणशक्ति राष्ट्र की सगठित प्रतिकार, शक्ति मानी जाती है। चिति के कारण राष्ट्र मन ही मन अपने जीवन लक्ष्य का बोध करता रहता है और विराट् की सहायता से उस जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

उपाध्याय जी का कहना है कि जैसे राष्ट्र का अवलम्बन चिति होती है, वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की अवधारणा होती है उसे "विराट्" कहते हैं। विराट् राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से ही जागृत एव सगठित होती है। विराट् का राष्ट्र जीवन में वही स्थान है जो शरीर में प्राण का है। प्राण से ही सभी इन्द्रियों को शक्ति मिलती है, बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है और आत्मा शरीरस्थ रहता है। राष्ट्र मे विराट् के सबल होने पर ही उसके भिन्न–भिन्न अवयव अर्थात् सस्थाए बलशाली और समर्थ होती है। अन्यथा सस्थागत व्यवस्थाए केवल दिखावा मात्र रह जाती हैं। विराट के आधार पर

---

1 भारत चिति, पृष्ठ – ४१

2 उपाध्याय दीनदयाल, राष्ट्र जीवन की दिशा १९७६, पृष्ठ – ६१

ही प्रजातन्त्र सफल होता है और राज्य बलशाली बनता है। इसी अवस्था मे राष्ट्र की विविधता उसकी एकता के लिए बाधक नहीं होती।[1]

वर्तमान समय मे उपाध्याय जी राष्ट्रीयता को कमजोर मानते हैं। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि राष्ट्र की चिति सुप्त है। सुप्त चिति के कारण ही राष्ट्रीय जीवन अस्त–व्यस्त है। उनका कहना है कि राष्ट्र जीवन की विकृति को समाप्त करने के लिए चिति को बलवान बनाना होगा। उनके ही शब्दो मे "हम अपने जातीय जीवन की चिति को पहचानकर उसको प्राकृत सस्कारो द्वारा बलवती करने का प्रयत्न करे। इसी मे हमारे राष्ट्र का चिरमत्याज है। उसी के द्वारा हम मानवता की सेवा करने मे समर्थ हो सकेगे और तभी सफल होगा हमारा चिराकाक्षित ध्येय" –

"सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभागृभवेत्।।[2]

उपाध्याय जी राष्ट्र के विराट को फिर से जगाना चाहते हैं। क्योकि शक्तिशाली विराट् के रहने से ही राष्ट्र का चुतुर्दिक विकास हो सकता है एव लोकतत्र सफल हो सकता है।

८.६ *राज्य एव राष्ट्र*

कुछ पाश्चात्य चिन्तक राष्ट्र और राज्य को एक मानते हैं। यद्यपि राष्ट्र और राज्य अनेक बार सम व्याप्त रहते हैं परन्तु राष्ट्र का अर्थ राज्य नहीं है। महर्षि अरविन्द ने कहा है कि राज्य कभी राष्ट्र नहीं होता। राष्ट्र भिन्न है और राज्य भिन्न है। राज्य एक निर्जीव अस्तित्व है, जबकि राष्ट्र एक जीवमान अस्तित्व है।[3]

प. दीनदयालजी ने असदिग्ध शब्दो मे कहा है कि राष्ट्र और राज्य दो भिन्न तत्व हैं। उन्होने राष्ट्र और राज्य के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि हमारे देश के इतिहास से पता चलता है कि विभिन्न कालो में यहॉ न्यूनाधिक सख्या में अनेक राज्य थे, किन्तु उन विभिन्न राज्यो के कारण भारत के राष्ट्रस्वरूप को कोई बाधा नहीं पहुँची। दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम में विभिन्न राजघरानें और उनके छोटे–बड़े स्वायत्त राज्य भले ही यहाँ रहे हों, लेकिन राष्ट्र हमेशा एक था, ऐसा विष्णु पुराण से स्पष्ट है–

---

[1] उपाध्याय दत्तोपन्त ठेंगडी मा गोलवलकर, एकात्म मानव दर्शन, १९६१, पृष्ठ – ७५

[2] उपध्याय, राष्ट्र–चिन्तन, पृष्ठ – १२०

[3] उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–५, १९६९, पृष्ठ – ५३

"उत्तर यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारत नाम भारती यत्र सतति ।।"[1]

– विष्णु पुराण २/३ १

यह राष्ट्र कल्पना स्पष्ट थी। तीर्थक्षेत्र नदी, पर्वत देवी–देवता, ऋषि–मुनि सत–सत्पुरुष आदि के साथ हमारा राष्ट्र एकात्मता की भावना से अनेक राज्यो के समवाप मे खडा था। स्नान करते समय –

"गगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु।।"

यह श्लोक सहज ही कहा जाता है। राज्य भिन्नता के कारण इसमे कोई अन्तर नहीं आया। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ, सम्मेलनो, विवादो वार्तालापो आदि मे प्रतिनिधित्व राज्य का होता है।

दीनदयालजी का कहना है कि राज्य का स्वरूप जिस प्रकार अस्थिर होता है, राष्ट्र का स्वरूप कभी वैसा अस्थिर नहीं होता। राष्ट्र एक स्थायी अवधारणा है। विशिष्ट स्वभाव वाले लोकसमूह को प्रदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया से विशिष्ट भू–प्रदेश पर राष्ट्रत्व प्राप्त होता है। यदि राष्ट्र एक जीवमान वस्तु है तो राज्य सुविधा के लिए निर्मित एक व्यवस्था (मशीनरी)। राज्य राष्ट्र की सेवा के लिए होता है। जो राज्य राष्ट्र की उचित ढग से सेवा न करता हो, उसे बदला जा सकता है।

राष्ट्र की आवश्यकताओ को पूण करने के लिए "राज्य" पैदा होता है। राज्य की उत्पत्ति दो कारणो से होती है। अर्थात् "राज्य" की आवश्यकता दो स्थितियो मे होती है। पहली आवश्यकता तब होती है जब राष्ट्र के लोगो में कोई विकृति आ जाए। उसके कारण उत्पन्न समस्याओ का नियमन करने के लिए राज्य उपस्थित किया जाता है।[2] दूसरी आवश्यकता तब पडती है जब समाज मे कोई जटिलता आ उपस्थित हो। तीसरा एक कार्य जो इन्हीं दोनों कार्यों का महत्वपूर्ण अग है, वह विश्व के अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। यानी वाह्य आक्रमण से रक्षा करने का कार्य भी राज्य का होता है। इसके लिए "राज्य" राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्र के सुप्त होने पर ही सब प्रकार की खराबियाँ घर करती हैं। राष्ट्र के सुप्त होने से उसकी विभिन्न इकाईयों का प्रतिनिधित्व

[1] उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–५, १९९१, पृष्ठ – ५३

[2] उपाध्याय, राष्ट्र जीवन की दिशा, १९७६, पृष्ठ – ४६

कारने वाली सत्ताये जैसे – राज्य पचायत परिवार आदि सभी अनियन्त्रित हो जाती हैं। राज्य भ्रष्ट हा सकता है।[1] किन्तु यदि राष्ट्र जाग्रत और दक्ष हो तो राज्य की प्रभुता मर्यादित रहती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य" का महत्व कम है। राज्य का महत्व निश्चित रूप से है। राष्ट्र की अभिवृद्धि करना सरक्षण करना वैभवशाली बनाना राष्ट्र की आवश्यकतानुसार निर्णय लेकर विश्व सम्बन्धो मे पग उठाना आदि कार्य "राज्य के हैं। फिर भी "राज्य" सदा स्थाई नहीं रहता ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब "राज्य" न हो परन्तु राष्ट्र विद्यमान रहता है। सतयुग का वर्णन करते हुए कहा गया है –

"न राज्य न च राजाऽऽसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिक ।"

इसी प्रकार की कल्पना साम्यवादी उद्घोषक कार्लमार्क्स ने भी "विदरिंग अवे ऑफ दी स्टेट" के माध्यम से स्वीकार की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र के लिए राज्य है, राज्य के लिए राष्ट्र नहीं। यही बात सुराज्य और स्वराज्य मे भी भेद स्पष्ट करती है। स्वराज्य मे यदि कष्ट हो तो भी वह उचित है बजाय उस सुराज्य के जो पराया हो।

पडित जी ने **स्वराज्य** को भी परिभाषित किया। उनका कहना था कि स्वराज्य के सम्बन्ध मे तीन बाते प्रमुख रूप से आती हैं – (१) पहली बात तो यह है कि राज्य उन लोगो के द्वारा सचालित हो जो राष्ट्र के अग हैं। (२) दूसरी विशेषता यह है कि ऐसा राज्य राष्ट्र के हित मे चलना चाहिए। (३) और तीसरी बात यह है कि ऐसे राज्य मे राष्ट्र का हित साधने का सामर्थ्य अपना स्वय का होना चाहिए अर्थात् स्वावलम्बन के बिना स्वराज्य की कल्पना करना ही गलत है। स्वराज्य तभी तक उपयोगी और सार्थक है जब तक वह स्वराष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति करता है। अत राष्ट्र की स्वराज्य से कुछ अपेक्षाए होती हैं। मुख्यत यह कि उसका कामकाज राष्ट्र के कल्याण के लिए होना चाहिए। उससे राष्ट्र का गौरव बढाना चाहिए। स्वराज्य के साथ ही प्रभुसत्ता का होना भी नितात आवश्यक है। शासन–व्यवस्था और प्रभुसत्ता के बिना स्वराज्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प. दीनदयालजी का कथन था कि अगर स्वदेशी राज्य भी राष्ट्र के लिए द्योतक बनने के स्थान पर मादक होने लगे तो उस स्वराज्य का विरोध करना राष्ट्र के लिए अपरिहार्य बन जाता है।[2] उनके विचार में "स्वराज्य और स्वतत्रता, दोनों शब्दों को समानार्थो में" प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु गहराई

---

[1] प्रभुता पाय काहि मद नाहीं

[2] भिषिकर चन्द्रशेखर परमानन्द विचार दर्शन खण्ड–५, १६६१, पृष्ठ – ५८

मे जाकर सोचन पर दिखाई देगा कि स्वराज्य मे भी राष्ट्र पराधीन हो सकता है। स्वराज्य स्वतत्रता का केवल एक अग मात्र है। अपने लोगो के राज्य को स्वराज्य कहते हैं। किन्तु स्वतत्रता का अर्थ इतना सीमित नहीं है। इसका सम्बन्ध तो हमारे सम्पूर्ण जन–जीवन के लिए उपकारक होने वाले मार्ग पर चलने से है। अर्थात् स्वराज्य जब हमारे लक्ष्यो के लिए पोषक होता है तो स्वतत्रता मे परिणत हो जाता है।"[1] राज्य को ही राष्ट्र मानना एक वैचारिक भूल है।

उपाध्याय जी के अनुसार राज्य और राष्ट्र की तरह देश और राष्ट्र भी अलग–अलग हैं। यद्यपि "राज्य" से "देश" अधिक विशाल और स्थाई सत्ता है और इसी कारण बराबर देश और राष्ट्र समान शब्दो के रूप मे ही प्रयोग किए जाते हैं। जिस प्रकार "राष्ट्र" की राज्य" से भिन्न सत्ता है उसी प्रकार "राष्ट्र" और "देश" भी एक नहीं है। भूमि और जन को मिलाकर देश बनता है। भूमिखण्ड और जनसमुदाय दोनो ही ऐसी बाते हैं जिन्हे हम देख, सुन, समझ सकते हैं। इस प्रकार देश दृश्यमान सत्ता है। इसलिए जब हम राष्ट्र का वर्णन करते हैं तो हमे इसी दृश्यमान देश का वर्णन करना पडता है। यही कारण है जिससे देश और राष्ट्र समानार्थी बनकर उपस्थित होते हैं। बिना देश के हम राष्ट्र की कल्पना भी नहीं कर सकते। अत जैसे देश दृश्यमान सत्ता है वैसे राष्ट्र अदृश्यमान सत्ता है। ठीक उसी प्रकार जैसे शरीर दिखाई पडता है, आत्मा दिखाई नहीं पड़ती और बिना शरीर के आत्मा का प्रकटीकरण नहीं हो सकता। देश और राष्ट्र अभिन्न होते हुए भी अलग–अलग सत्तायें हैं। राष्ट्र एक अदृश्य सत्ता होने के साथ–साथ अधिक गूढ़ और चिरन्तन भी है।

८ ७ सस्कृति और राष्ट्र :

उपाध्याय जी के अनुसार ससार में एकता का दर्शन कर उसके विविध रूपो के बीच परस्पर पूरकता को पहचानकर उसमें परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका सस्कार करना ही सस्कृति है। प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना सस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती। बल्कि प्रकृति में जो भाव सृष्टि की धारणा तथा उसको अधिक सुखमय एव हितकर बनाने वाले हैं, उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रवृत्तियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है।[2]

[1] १३ मई १९६५ को पुणे में उपाध्याय जी द्वारा दिया गया भाषण

[2] सागर कृष्णानन्द, दीनदयाल उपाध्याय की वाणी, जागृति प्रकाशन, १९९२, पृष्ठ – १३

राष्ट्र की सास्कृतिक स्वतत्रता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योकि सस्कृति ही राष्ट्र के सम्पूर्ण शरीर मे प्राणो के समान सचार करती है। प्रकृति के तत्व पर विजय पाने के प्रयत्न मे तथा मानवानुभूति की कल्पना मे मानव जिस जीवन दृष्टि की रचना करता है वह उसकी सस्कृति है। सस्कृति कभी गतिहीन नहीं होती अपितु वह निरतर गतिशील है फिर भी उसका अपना एक अस्तित्व है। नदी के प्रवाह की भॉति निरतर गतिशील होते हुए भी वह अपनी निजी विशेषताए रखती है जो उस सास्कृतिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करने वाले समाज के सस्कारो मे तथा उस सास्कृतिक भावना से अन्य राष्ट्र के साहित्य कला, दर्शन, स्मृति, शास्त्र, समाज रचना, इतिहास एव सभ्यता के विभिन्न अगो मे व्यक्त होती है। परतन्त्रता के काल मे इन सब पर प्रभाव पड जाता है तथा स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। आज स्वतत्र होने पर आवश्यक है कि हमारे प्रवाह की सम्पूर्ण बाधाये दूर हो तथा हम अपनी प्रतिभा के अनुरूप राष्ट्र के सम्पूर्ण क्षेत्रो मे विकास कर सके। राष्ट्रभक्ति की भावना को निर्माण करने तथा उसको साकार स्वरूप देने का श्रेय भी राष्ट्र की सस्कृति को ही है, तथा वही राष्ट्र की सकुचित सीमाओ को तोडकर मानव की एकात्मता को अनुभव करती है। अत उपाध्याय जी के अनुसार सस्कृति की स्वतत्रता परमावश्यक है। बिना उसके राष्ट्र की स्वतत्रता निरर्थक ही नहीं टिकाऊ भी नहीं रह सकेगी।[1]

प॰ दीनदयालजी का मत है कि राष्ट्रीय दृष्टि से तो हमे अपनी सस्कृति का विचार करना ही होगा, क्योकि वह हमारी अपनी प्रकृति है। स्वराज्य का स्वसस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यदि हम सस्कृति का विचार नहीं करेगे तो स्वराज्य की लडाई स्वार्थी और पदलोलुप लोगो की राजनीतिक लडाई मात्र रह जाएगी। स्वराज्य तभी साकार तथा सार्थक होगा जब वह अपनी सस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा। इस अभिव्यक्ति मे हमारा विकास भी होगा और हमें आनद की अनुभूति भी होगी। अत सस्कृति तत्वो का विचार राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टियो से आवश्यक हो गया है।[2]

सस्कृतिनिष्ठा को उन्होंने राष्ट्रीय जीवनदर्शन का सूत्र माना है। उनका कहना है कि भारत प्राकृतिक राष्ट्र है। अंग्रेजों के आने से पूर्व भी वह राष्ट्र था। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद केवल एक नया युग प्रारम्भ हुआ है, भारत में नए राष्ट्र का जन्म नहीं हुआ है। भारत की भूमि में रहने वाला और उसके प्रति ममत्व की भावना रखने वाला मानव–समूह एक जन है। उनकी जीवन प्रणाली, कला

---

[1] उपाध्याय दीनदयाल, राष्ट्र जीवन की दिशा लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९७९ पृष्ठ – ४०

[2] उपाध्याय, गोलवलकर मा.स दत्तोपन्त ठेंगडी, एकात्म मानवदर्शन, १९९१, पृष्ठ १७

साहित्य दर्शन सब भारतीय सस्कृति है। भिन्न–भिन्न जाति एव पथो का एकरस स्वरूप ही भारतीय राष्ट्र है। भारत की अखण्डता की भॉति उसकी सस्कृति भी सम्मिश्र न होकर एकात्म है। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का आधार यह सस्कृति है। इस सस्कृति मे निष्ठा रहे तभी भारत एकात्म रहेगा। यह सस्कृति भारत–भूमि मे राष्ट्रीय एकात्मता की नींव है। पडित जी ने अपने एकात्मवाद के आधार पर एक ऐसे विश्व की कल्पना की है जिसमे विभिन्न राष्ट्रो की सस्कृतियॉ विकसित हो।[1]

भारतीय सस्कृति की विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का, सम्पूर्ण दृष्टि से सकलित विचार करती है। अत भारतीय सस्कृति का दृष्टिकोण एकात्मवादी है। टुकडो–टुकडो मे विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। इसलिए पश्चिम की समस्या का भी मुख्य कारण यह है कि वे जीवन के सम्बन्ध मे खण्डश विचार करके फिर उनसबको थेगली लगाकर जोडने का प्रयत्न करते हैं। पडित जी का कहना है कि जीवन मे अनेकता अथवा विविधता है, किन्तु उसके मूल मे निहित एकता को खोज निकालने का इस सस्कृति ने सदैव प्रयत्न किया है।[2] यह प्रयत्न पूर्णत वैज्ञानिक है। दर्शनिक भी मूलत वैज्ञानिक है। पश्चिम के दार्शनिक द्वैत तक पहुँचे। हिगेल ने थीसिस एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस का सिद्धान्त रखा, जिसका आधार लेकर कार्लमार्क्स ने अपना इतिहास और अर्थशास्त्र का विश्लेषण प्रस्तुत किया। डार्विन ने "मत्स्यन्याय" को ही जीवन का आधार माना।

किन्तु भारतीय सस्कृति ने सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन किया। विविधता में एकता अथवा एकता मे विविध रूपों मे व्यक्तिकरण ही भारतीय सस्कृति का केन्द्रस्थ विचार है। यदि इस तथ्य को हमने हृदयगम कर लिया तो फिर विभिन्न सत्ताओ के बीच सघर्ष नहीं रहेगा। यदि सघर्ष है तो वह प्रकृति अथवा सस्कृति का द्योतक नहीं, विकृति का द्योतक है। जिस "मात्स्यन्याय" को पश्चिम के चिन्तक डार्विन ने ढूँढ़ निकाला, उसका ज्ञान हमारे दार्शनिक को था। मानव जीवन में काम, क्रोध आदि षड्विकारों को भी हमने स्वीकार किया है। किन्तु इन सब प्रवृत्तियो को अपनी सस्कृति अथवा शिष्ट व्यवहार का आधार नहीं बनाया।

सृष्टि में जैसे सघर्ष दिखता है वैसे ही सहयोग भी दृष्टिगोचर होता है। वनस्पति और प्राणी दोनों एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करते हुए ही जीवित रहते हैं। इस परस्पर–पूरकता के कारण ही ससार चल रहा है।

---

1 केलकर मालचन्द्र कृष्णा जी, विचारदर्शन खण्ड–३, राजनीतिक चिन्तन १९६० पृष्ठ – ४१

2 उपाध्याय, दत्तोपन्त ठेंगड़ी गोलवलकर, एकात्म मानव दर्शन १९१६ पृष्ठ – १८

ससार मे एकता का दर्शन कर उसके विविध रूपो के बीच परस्पर पूरकता को पहचान कर उनमे परस्परानुकूलता का विकास करना तथा उसका सस्कार करना ही सस्कृति है।[1] प्रकृति को ध्येय की सिद्धि के अनुकूल बनाना सस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। सस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती, उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती बल्कि प्रकृति मे जो भाव सृष्टि की धारणा करने वाले तथा उसको अधिक सुखमय एव हितकर बनाने वाले हैं उनको बढावा देती है।

प॰ दीनदयाल का कथन है कि राष्ट्रीय जीवन मे मातृभक्ति के अभाव के कारण अनेक विकृतियॉ आई हैं। पाकिस्तान का निर्माण उसी विकृति का उदाहरण है। इन विकृतियो को दूर करने का उपाय हिन्दू सस्कृति के पास है। हिन्दू सस्कृति का आधार भोग नहीं अपितु त्याग है। त्याग से ही अमृत्व की प्राप्ति होती है। आज राजनीतिक जीवन में जो विकृतियॉ दिखाई दे रही हैं वे आशक्ति के कारण उत्पन्न हुई हैं। जीवन के प्रति अतिशय अर्थवादी दृष्टिकोण के कारण भी अनेक विकृतियॉ उत्पन्न हुई हैं। मानवीय भावनाओं एव जीवन मूल्यों का कोई महत्व नहीं रह गया है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार उसका चरित्र नहीं, उसकी योग्यता नहीं, उसके गुण नहीं रहे। पैसा ही प्रतिष्ठा का आधार बन गया है। अत यह स्थिति विकृतिमूलक है। अस्तु जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदलना होगा। इस प्रकार पडित जी का कहना है कि दृष्टिकोण का यह परिवर्तन भारतीय सस्कृति के आदर्शों के आधार पर ही हो सकता है। इस गौरवमयी सस्कृति की पुन प्रतिष्ठापना से ही राष्ट्र जीवन मे चतुर्दिक परिव्याप्त विकृतियो का शमन एव निराकरण हो सकता है।[2]

उपाध्याय जी के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद में स्वार्थ की भावना विद्यमान नहीं है, क्योंकि हिन्दू सस्कृति त्याग के ऊपर अवलबित है। भारत ने अद्वैत के आधार पर एकात्मता का दर्शन दिया है। इस एकात्म दर्शन के कारण ही राष्ट्र भावना का एक व्यापक एव उदार जीवन दर्शन है। पश्चिमी सभ्यता में राष्ट्रीय भावना का उदय सघर्ष से हुआ है, इसलिए इसका आधार स्वार्थ है। एकात्मता का बोध सर्वप्रथम भारतीय सस्कृति ने ही किया। इसलिए यहाँ के विचार भावात्मक एव रचनात्मक है। उपाध्याय जी इसीलिए राष्ट्र को हिन्दू सस्कृति की नींव पर खड़ा करना चाहते हैं। स्वामी विवेकानन्द का भी उद्‌घोष है कि भारत एक हाथ में अपने अध्यात्म ज्ञान को दृढ़ता से थामे और साथ ही दूसरे हाथ से अभ्युदय का उत्कर्ष प्रयास करे।

---

1 उपाध्याय, दत्तोपन्त ठेंगड़ी, गोलवलकर, एकात्म मानवदर्शन, पृष्ठ – १९–२०

2 उपाध्याय, दीनदयाल, राष्ट्र जीवन की दिशा, १९७९, पृष्ठ – ७६–७७

प॰ दीनदयाल का राष्ट्रवाद सकीर्ण तथा कटटरतापूर्ण नहीं है। व कहा करते थे कि राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है। उनका यह कहना था कि चूकि भारतीय राष्ट्रवाद हिन्दू सस्कृति के ऊपर अवलबित है इसलिए राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता मे कोई भेद नहीं है, क्योकि हिन्दू सस्कृति की यह घोषणा है कि यदि हम सास्कृतिक हैं तो सबको सस्कारित करेगे उनके स्तर को ऊँचा उठायेगे। यह भावात्मक राष्ट्रवाद है जिसमे राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता मे कोई विरोध नहीं है।

८ ८ *प्रजातन्त्र*

दीनदयाल उपाध्याय ने प्रजातन्त्र अवधारणा को उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। हालाकि आजादी के तुरन्त बाद जब लोकतन्त्र की स्थापना व वयस्क मताधिकार की सवैधानिक व्यवस्था हुई, भारतीय जन की दीर्घकालिक गुलामी अशिक्षा व गरीबी के कारण, वे एकदम दिए गए वयस्क मताधिकार के बारे मे कुछ शकित थे,[1] लेकिन बहुत जल्दी वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि सहभागिता का अवसर ही शिक्षा का भी सबसे बड़ा माध्यम है, अत वे वयस्क मताधिकार के प्रबल पक्षधर बन गए थे।[2] उपाध्याय की मान्यता है कि लोकतन्त्र भारत को पश्चिम की देन नहीं है, भारत की राज्यावधारणा प्रकृतित लोकतन्त्रवादी है, वे लिखते हैं 'वैदिक सभा' और 'समिति का गठन जनतन्त्रीय आधार पर ही होता था तथा मध्यकालीन अनेक गणराज्य पूर्णत जनतन्त्रीय थे।

राजतन्त्रीय व्यवस्था मे भी हमने राजा को मर्यादाओ मे जकडकर प्रजानुरागी ही नहीं, प्रजा (जन) अनुगामी भी माना है। इन मर्यादाओ का अतिक्रमण करने वाले नृपतियों के उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं किन्तु उनके विरुद्ध जनता का विद्रोह तथा उनको आदर्श शासक न मानकर, हीनता की श्रेणी मे गिनने के प्रयत्नो से ही, हमारी मौलिक जनतन्त्रीय भावना की पुष्टि होती।[3] दीनदयाल कहते हैं "लोकतन्त्र की एक व्याख्या की गई है कि वह वाद–विवाद से चलने वाला राज्य है। 'वादे वादे जायते तत्त्व बोधा' यह हमारे यहाँ की पुरानी युक्ति है किन्तु – यदि दूसरे का दृष्टिकोण

---

1 उपाध्याय दीनदयाल 'इस सविधान का क्या करें' पुरस्कार, बहिष्कार या परिष्कार, राष्ट्र धर्म, जनवरी, फरवरी, १९५०, पृष्ठ – १२

2 बाबासाहब आपटे द्वारा लिखा गया सस्मरण "दस वर्ष पर्याप्त हैं" प॰ दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन, दीनदयाल शोध सस्थान नयी दिल्ली, पृष्ठ – १२३

3 दीनदयाल उपाध्याय "राष्ट्र चिन्तन" लोकतन्त्र का भारतीयकरण लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९८९, पृष्ठ – ७९

समझने का प्रयत्न न करते हुए अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जाए तो **'वादे वादे जायते कण्ठशोषा '** की उक्ति चरितार्थ होगी। वाल्टेयर ने जब कहा कि 'मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता। कि तु अपनी बात कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं पूरी शक्ति से लड़ूँगा तो उसने मनुष्य के केवल 'कण्ठशोषा' के अधिकार को ही स्वीकार किया। भारतीय सस्कृति इससे आगे बढकर 'वाद–विवाद को 'तत्त्व बोध के साधन के रूप मे देखती है।"[1]

उपर्युक्त दोनो ही उद्धरणो मे उपाध्याय ने भारतीय पक्ष का योग्य प्रस्तुतिकरण किया है, लेकि । वाल्टेयर के साथ न्याय नहीं हो सका। प्रथमत वाल्टेयर का प्रसिद्ध वाक्य एकदम वह नहीं है जो उपाध्याय ने सन्दर्भित किया है। द्वितीयत इस कथन का सन्दर्भ वाद–विवाद की महत्ता का प्रतिपादन नहीं वरन् "अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की लोकतान्त्रिक मानसिकता का प्रतिपादन करना है। निश्चय ही उपाध्याय वाल्टेयर से असहमत नहीं हैं, लेकिन यहाँ पश्चिम के खण्डन की प्रवृत्ति के कारण उदार विचारक वाल्टेयर के प्रति अन्याय हुआ।"

पश्चिम मे प्रजातन्त्र के उदय की प्रक्रिया, उसके पूँजीवाद के रूप मे विकृत हो जाने एव तानाशाहीपरक कार्ल मार्क्स की प्रतिक्रिया आदि का विवेचन करते हुए उपाध्याय कहते हैं

"राष्ट्रवाद के बाद – दूसरी क्रान्तिकारी कल्पना प्रजातन्त्र की है जिसका यूरोप की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। प्रारम्भ में तो जितने राष्ट्र बने, उनमे राजा ही शासनकर्ता रहा। किन्तु राजा की निरकुशता के विरुद्ध जनता मे भी धीरे–धीरे जागरण हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में एक वैश्य वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्वभावत इनका पुराने सामन्तो तथा राजाओं से सघर्ष हुआ। इस सघर्ष ने 'प्रजातन्त्र' की तात्त्विक भूमिका ग्रहण ^। यूनान के नगर राज्यो से इस विचारधारा का उद्भव ढूँढा गया। प्रत्येक नागरिक की समानता, बन्धुता और स्वतन्त्रता के आदर्श के सहारे जनसाधारण को इस तत्त्व के प्रति आकृष्ट किया गया। फ्रास मे बडी भारी राज्य क्रान्ति हुई। इगलैण्ड मे भी समय–समय पर आन्दोलन हुए। प्रजातन्त्र की जन–मन पर पकड हुई। राजवश या तो समाप्त कर दिए गए अथवा उसके अधिकार मर्यादित कर वैधानिक राजपद्धति की नींव डाली गई। आज प्रजातन्त्र यूरोप की मान्य पद्धति है। जिन्होंने प्रजातन्त्र की अवहेलना की, वे भी प्रजातन्त्र के प्रति निष्ठा व्यक्त करने मे, कमी नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन जैसे तानाशाहों ने भी प्रजातन्त्र को अमान्य नहीं किया।"[2] पश्चिम में लोकतन्त्र का

---

[1] वही, अध्याय–६ लोकमत का नियामक कौन ? पृष्ठ – ६६

[2] उपाध्याय, दीनदयाल 'एकात्ममानववाद' अध्याय–१: राष्ट्र की सही कल्पना, जागृति प्रकाशन, नोएडा १९६०, पृष्ठ – १८

विकास ९ । आदर्शवादी लोकप्रिय अवधारणा के रूप मे हुआ था लेकिन नवोदित वैश्य वर्ग एव अनुसन्धानित औद्योगिक क्रान्ति ने उसे पूँजीवादी शोषण का औजार बना दिया। अत उपाध्याय आगे विवेचित करते हैं

"प्रजातन्त्र ने यद्यपि प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार दिया, किन्तु जिन लोगो ने प्र तन्त्र का नेतृत्व किया था, शक्ति उन्हीं के हाथ में रही। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन की नई पद्धति का विकास हो गया था। स्वतन्त्र रहकर घर मे काम करने वाला श्रमिक, अब कारखाने का मालिक का नौकर बनकर काम करने लगा था। अपना गॉव छोडकर नगरो मे आ बसा था वहॉ उसके आवास की व्यवस्था बहुत अधूरी थी। कारखानो मे जिस ढग से काम होता था, उसके कोई नियम नहीं थे। मजदूर असगठित और दुर्बल था। वह शोषण, उत्पीड़न व अन्याय का शिकार हो गया था। राज्य की शक्ति जिनके हाथ मे थी, वे भी उस वर्ग मे से थे, जो उनका शोषण कर रहे थे। अत राज्य से भी कोई आशा न थी।

इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह तथा स्थिति सुधार की भावना लेकर अनेक महापुरुष खडे हुए। उन्होंने अपने आप को समाजवादी कहा। कार्ल मार्क्स भी उन समाजवादियों में से एक हैं। उन्होने विद्यमान अन्याय का विरोध करने के प्रयत्न में अर्थव्यवस्था तथा इतिहास का एक विश्लेषण प्रस्तुत किया। कार्लमार्क्स की विवेचना के बाद समाजवाद एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा हो गया। बाद मे समाजवादियो ने मार्क्स को माना हो या नहीं, किन्तु उनके विचारो पर उसकी गहरी छाप है।"[1]

दीनदयाल उपाध्याय लोकतन्त्र की तात्विक अवधारणा से सहमत होते हुए भी, पाश्चात्य निरकुश राजशाही की प्रतिक्रिया से उत्पन्न, पूँजीवाद से पोषित व सर्वसत्तावादी राज्यवाद की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले लोकतन्त्र को भारतीय–कृत करना चाहते हैं। लोकतन्त्र का भारतीयकरण करने का उन्होने आह्वान किया।

(क) लोकतन्त्र का भारतीयकरण -

पश्चिम ने लोकतन्त्र को निर्वाचन की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया प्रदान की है। सविधानवादी कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका का सृजन किया है, लेकिन यह केवल लोकतन्त्र का

---

[1] वही, पृष्ठ – १६

औपचारिक स्वरूप है। लोकतन्त्र की असली आत्मा उसके स्वरूप मे नहीं वरन् जनाकाक्षा को सही रूप मे प्रतिबिम्बित करने की भावना मे है

"जनतत्र किसी बाहरी ढाँचे पर निर्भर नहीं रहता। बालिग मताधिकार तथा निर्वाचन पद्धति यद्यपि जनतन्त्र के बहुत बड़े अग हैं किन्तु इससे ही जनतन्त्र की स्थापना नहीं हो जाती। रूस मे दोनो ही विद्यमान हैं, किन्तु राजनीति–विशारद उसे जनतन्त्र मानने को तैयार नहीं। मताधिकार तथा निर्वाचन के साथ एक भावना भी जनतन्त्र के लिए आवश्यक है। केवल बहुमत का शासन ही जनतन्त्र नहीं है। ऐसे तन्त्र मे तो जनता का एक वर्ग सदैव ऐसा रहेगा, जिसकी आवाज चाहे वह सही ही क्यो न हो, दबा दी जाएगी। जनतन्त्र का यह स्वरूप 'सर्वजनसुखाय 'सर्वजनहिताय नहीं हो सकता। अत भारतीय जनतन्त्र की कल्पना मे निर्वाचन बहुमत अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओ के स्थान पर सभी मतो के सामन्जस्य और समन्वय पर ही बल दिया गया है। विरुद्ध मत रखने वाला, एक व्यक्ति ही क्यो न हो, हमे उसके मत का आदर ही नहीं, बल्कि उसका योग्य समावेश अपनी कार्यपद्धति मे करना चाहिए। इगलैण्ड मे जहॉ आज की जनतन्त्रीय पद्धति ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है, विरोधी दल के नेता को सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है।[1] खेल के लिए जैसे दो दलो का होना आवश्यक है वैसे ही ससद मे दो दलो का होना आवश्यक समझा जाता है। शासन की नीतियो पर विरोधी दल सतत् प्रकाश डालता रहता है।"[2]

(ख) लोकमत परिष्कार एव सामान्य इच्छा -

उपाध्याय जी मानते हैं कि लोकमत का तात्कालिक निणय चाहे बहुमत से हो, लेकिन लोकमत केवल बहुमत के शासन व अल्पमतो की [illegible]चारिक स्वतन्त्रता से, अपने को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इससे दलीय कटुता व समाज मे अखण्ड कलह का निर्माण होता है, अत लोकतन्त्र

---

1 जहाँ जनतन्त्रात्मक भावना से लोग अपरिचित हैं उन्हें यह बात समझ मे नहीं आती। कहा जाता है कि एक बार पश्चिमी एशिया के एक अतिथि राजा का ब्रिटिश पार्लियामेट में विरोधी दल के नेता से परिचय कराया गया और यह बताया गया कि उसे राजकोष से वेतन मिलता है तब अतिथि राजा उलझन में पड़ गया। वह यह नहीं समझ पाया कि ऐसे व्यक्ति को जो सरकार का विरोध करता है, सरकारी कोष से कैसे वेतन दिया जाता है। उसने कहा "हम तो ऐसे व्यक्ति को गोली मार देना पसन्द करेंगे।" – दीनदयाल उपाध्याय 'पॉलिटिकल डायरी' (हिन्दी) सुरुचि प्रकाशन नयी दिल्ली १९६१, पृष्ठ – १३५

2 दीनदयाल उपाध्याय, "राष्ट्र चिन्तन" लोकतन्त्र का भारतीयकरण, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ १९८६, पृष्ठ – ८०

न ब्रहुमत का शासन है, न अल्पमत का वह जनता की 'सामान्य इच्छा'[1] का शासन है। जनता अपनी सामान्य इच्छा को औपचारिक रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। जब सामान्य इच्छा के बारे मे सामाजिक सम्भ्रम हो तो 'लोकतन्त्र भीडतन्त्र मे बदल जाता है। वाचाल लोग उसका दुरूपयोग कर सकते हैं। उपाध्याय शेक्सपियर के नाटक 'जुलियस सीजर का उदाहरण देते हुए कहते हैं "जो जनता ब्रूटस के साथ होकर जुलियस सीजर के वध पर हर्ष मना रही थी, वही थोडी देर मे एण्टोनी के भाषण के उपरान्त ब्रूटस का वध करने को उद्यत हो गई। मोबोक्रेसी और आटोक्रेसी के दोनो पाटो के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।"[2]

अत लोक–चेतना के सन्तुलित विकास की आवश्यकता रहती है। इसी को उपाध्याय प्राचीन भारत की लोकमत परिष्कार' पद्धति कहते हैं। लोकमत परिष्कार एक सास्कृतिक प्रक्रिया है। साम्यवादी तानाशाही देशो मे सत्ता द्वारा 'ब्रेन वाशिंग' अथवा 'असहमतो के नागरिक अधिकारों से वचन' की प्रक्रियाए, अमानवीय हैं, वहीं तथाकथित लोकतन्त्रों मे इस विषय मे या तो अराजकता है या सरकारी प्रचारतन्त्र को इसका माध्यम बनाया जाता है। दीनदयाल के मतानुसार "भारत ने इस समस्या का समाधान राज्य के हाथ से लोकमत निर्माण के साधन छीन कर किया है। लोकमत परिष्कार का कार्य है वीतराग द्वन्द्वातीत सन्यासियों का। लोकमत के अनुरूप चलने का काम है, राज्य का। सन्यासी सदैव धर्म तत्वो के अनुसार जनता के एहिक एव आध्यात्मिक उत्कर्ष की कामना लेकर, अपने वचनो एव निरीह आचरण से जनजीवन के ऊपर सस्कार डालते रहते हैं। उन्हे धर्म की मर्यादाओ का ज्ञान करवाते रहते हैं उनके समक्ष कोई लोभ और मोह न होने के कारण वे सत्य का उच्चारण सहज ही कर सकते हैं। शिक्षा और सस्कार से ही समाज के जीवन–मूल्य बनते और सुदृढ होते हैं। इन मूल्यों का बाँध रहने के बाद, लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण करके सकट का कारण नहीं बनेगी।"[3] उपाध्याय का 'लोकमत परिष्कार' विचार वैसा ही है, जैसा कि लोकतन्त्रात्मक जनचेतना के निर्माण के लिए कुछ लोगों ने पश्चिम में 'वी एज्यूकेट अवर मास्टर्स' का आन्दोलन चलाया था। लोकतन्त्र की सफलता के लिए जिन मनाभावों की विवेचना उपाध्याय प्रस्तुत करते हैं, उनमे मुख्य हैं (१) सहिष्णुता और सयम, (२) अनासक्त भाव तथा (३) कानून के प्रति आदर की भावना।

---

[1] वही, अध्याय–६ लोकमत का नियामक कौन ? पृष्ठ – ६५

[2] वही, पृष्ठ – ६७

[3] वही, पृष्ठ – ६८

[i] सहिष्णुता और सयम -

"जनतन्त्र की भागीरथी का आद्यस्रोत सहिष्णुता ही है। इसके अभाव में निर्वाचन तथा ससद आदि की जनतन्त्रीय व्यवस्थाए प्राणहीन शरीर की भॉति है। भारतीय सस्कृति का आधार ही सहिष्णुता है इसी से जनता जनार्दन की आत्मा का स्तर पहचानने की शक्ति प्राप्त होती है।"[1] जीवन मे सहिष्णुता को साधने के लिए सयम आवश्यक है। उपाध्याय कहते हैं "मर्यादाओ के अन्तर्गत क्रिया का नाम सयम है। भूखा मरना सयम नहीं, अपितु शरीर की आवश्यता के अनुरूप और मात्रा मे भोजन करना सयम है। बिल्कुल न बोलना यहॉ तक वि अत्याचारो के विरुद्ध आवाज भी न उठाना अथवा किसी को सत्परामर्श भी न देना सयम नहीं। वाचाल और गूँगे के बीच सयमी पुरुष आता है जो आवश्यकता पड़ने पर बोलता है और अवश्य बोलता है।"

"असयम और गैर–जिम्मेदारी साथ–साथ चलते हैं। लोकराज्य तभी सफल हो सकता है जब नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा। समाज जितना यह समझता जाएगा कि राज्य चलाने की जिम्मेदारी उसकी है, उतना ही वह सयमशील बनता चला जाएगा। जिस दल को यह लगता है कि आज नहीं तो कल मेरे कन्धो पर राज्य सिहासन का भार आ सकता है वह कभी अपने वायदों और व्यवहार में गैर–जिम्मेदार व असयत नहीं होगा। फिर जनता के ऊपर तो राज्य चलाने की जिम्मेदारी सदैव ही रहती है।"[2] अत जनता को दायित्ववान व सयमशील बनाना लोकतन्त्र की सफलता के लिए उसकी औपचारिक व्यवस्थाओ से भी अधिक जरूरी है।

[ii] अनासक्त भाव -

सत्तालोलुपतौ, जन तथा जननेताओं को 'जनता की सामान्य इच्छा' की अवहेलना के लिए प्रेरित करती है। अत समाज का वातावरण एव शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति 'लोलुप भाव' से नहीं वरन् अनासक्त भाव से 'लोकराज्य' के नियम में सहभागी हो। निर्वाचन प्रक्रिया को खिलाड़ी की भावना से संयोजित करने से, समाज में अनासक्त भाव का आनन्द विस्तारित होता है, वहीं 'लोलुपता' परस्पर वैमनस्य व कटुता का कारण बनती है। राम का उदाहरण देते हुए उपाध्याय प्रतिपादित करते हैं

---

1 वही; अध्याय–११, लोकतन्त्र का भारतीयकरण, पृष्ठ – ८१

2 वही, अध्याय–६, लोकमत का नियामक कौन ? पृष्ठ – ६८

"जनतन्त्र मे सत्ता के प्रति उच्च स्तर की निरासक्ति आवश्यक है। भगवान राम की तरह जनतन्त्र मे राजनीतिज्ञ को आह्वन मिलने पर सत्ता स्वीकार करने और क्षति की चिन्ता किए बिना उसका परित्याग कर देने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। अगर वह पराजय को गौरव के साथ शिरोर्धाय नहीं कर सकता और अपने प्रतिस्पर्धी को उसकी विजय के लिए बधाई नहीं दे सकता तो वह जनतन्त्रवादी नहीं है। यही वह भावना थी, जिसके साथ चर्चिल ने एटली को और एटली ने एडेन को सत्ता सौंप दी।"[1]

यह अनासक्त भाव भी व्यक्ति मे उत्तम सस्कारो के ही कारण आता है। केवल लोकतन्त्र की औपचारिक व्यवस्था से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को लोकेच्छा से समरस नहीं कर लेता। व्यक्ति को लोलुपता पर विजय पाने के लिए सत्सग, स्वाध्याय तथा सयम की आवश्यकता रहती है।

[iii] कानून के प्रति आदर की भावना -

'कानून का राज्य' एक राजनीतिक व्यवस्था है लेकिन कानून का समादर, नैतिक समाज की पहचान है। कानून का समादर करने वाला समाज ही 'कानून के राज्य को ठीक से वहन कर सकता है। जहॉ सामाजिक रूप से लोगो मे कानून के प्रति समादर का भाव नहीं होता, वहाँ का 'कानून व्यक्तियो के प्रति अविश्वासी बन जाता है तथा व्यक्ति कानून की अवहेलना करने वाले बन जाते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, समाज मे 'अनैतिकता' का प्रसार। हमारे देश मे बिना राजदण्ड का सहारा लिए लोगो से धर्मभाव के बल पर नैतिक नियमो का पालन करवाया जा सका, यह भारतीय अनुभव है। स्वस्थ लोकतन्त्र मे यह जरूरी है कि लोग राजदण्ड के भय से नहीं, वरन् अपने सामाजिक विवेक से कानून का पालन करे। उपाध्याय राजनीतिक दलों से यह आग्रह करते हैं कि वे समाज मे इस प्रकार के 'लोकमत के परिष्कार' का कार्य करें, स्वय के आचरण को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करे।

"जनता मे कानून के प्रति समादर की भावना पैदा करनें के लिए यह आवश्यक है कि कानून का सरक्षण करने की आकाक्षा रखने वाली पार्टियाँ इस दिशा में स्वय उदाहरण प्रस्तुत करें। स्वशासन की भावना और क्षमता जनतन्त्र का सार है। अगर पार्टियाँ स्वय अपने आपको शासित नहीं कर सकतीं तो वे समाज में स्वशासन की इच्छा उत्पन्न करने की आशा कैसे कर सकती हैं।"[2]

---

1 कांग्रेस और जनतन्त्र, सुरुचि प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९१, पृष्ठ – १४०

2 वही, जनतन्त्र और राजनीतिक पार्टियाँ पृष्ठ – १४५

समाज मे कानून के प्रति आदर के लिए जहॉ एक लोकतान्त्रिक मानसिकता की जरूरत है वहॅ कानून निर्माता जनप्रतिनिधि विद्वत्जन तथा पत्रकार जगत् समाज को कानून की तर्कसगता के बारे मे शिक्षित करे समाज मे ऐसा वातावरण व्याप्त रहना जरूरी है। उपाध्याय केवल आकादमिक विद्वान या दार्शनिक नहीं थे वरन् प्रत्यक्ष राजनीति क्षेत्र के कार्यकर्त्ता थे। निर्वाचन प्रक्रिया सत्ता स्पर्धा का हथियार नहीं वरन् सामाजिक सहभागिता का माध्यम है, उसको इसी माध्यम के नाते इस्तेमाल करने के लिए उन्होने अच्छा उम्मीदवार, अच्छा दल तथा अच्छा मतदाता कैसा होना चाहिए इस पर भी निर्वाचन काल मे ही अपने विचार प्रकट किए हैं, जो उनकी राजनेता नहीं वरन् राजनीतिज्ञ की छवि प्रस्तुत करते हैं।

(A) **अच्छा उम्मीदवार** उपाध्याय के मतानुसार "एक समुचित उम्मीदवार वह है जो विधानमण्डलो मे अपने दल के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही अपने क्षेत्र मे मतदाताओ की नब्ज पहचानता हो। एक व्यक्ति के नाते उसे मतदाताओ के प्रति वफादार होना चाहिए और एक दल का सदस्य होने के नाते, जिस दृष्टिकोण का वह प्रतिनिधित्व करता है, उस दल के अनुशासन का पालन करने के साथ उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मन मे समर्पण का भाव भी रखना चाहिए।"[1]

दल व जन के प्रति समन्वित निष्ठा अच्छे उम्मीदवार की कसौटी है, लेकिन वर्तमान भारतीय दलो द्वारा उम्मीदवार चयन की कसौटी पर अपना असन्तोष प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि उन्हे अच्छे उम्मीदवार की बजाए सदा जीतने वाले घोड़े की चिन्ता रहती है

" दुर्भाग्यवश यह कहना पडता है कि भारत मे शायद ही कोई राजनीतिक दल इन सब बातो की चिन्ता करता हो, और इस कारण उनके मस्तिष्क मे केवल यही बात चक्कर काटा करती है कि किसी भी रीति से उनका प्रत्याशी विजयी होना चाहिए वह किसी भी ऐसे उम्मीदवार को अपने टिकट से खड़ा करने का प्रयास करते हैं, जिसमें जीत के लक्षण अधिक प्रतीत होते हो।"[2] इसलिए दीनदयाल मतदाताओं को सावधान करते हैं "हमें स्मरण रखना होगा कि एक अयोग्य उम्मीदवार, इस आधार पर हमारा मत प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हैं कि उसका सम्बन्ध एक अच्छे दल से है। यह सम्भव है कि ऐसे अयोग्य व्यक्ति को अपना टिकट प्रदान करते समय उस दल

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, "मताधिकार कागज का टुकड़ा नहीं, लोकाज्ञा है", पाचजन्य, २९ जनवरी १९६२, चुनाव विशेषांक, पृष्ठ – ४०

2 वही।

ने सस्था के लाभ से प्रभावित होकर ऐसा निर्णय लिया हो या ऐसी मशा न होने के बाद भी उससे निर्णय की भूल हुई हो। अत उत्तरदायी मतदाता का यह कार्य हो जाता है कि वह अपनी जागरुकता का परिचय देकर उक्त गलती को दुरुस्त कर दे।"[1]

(B) **अच्छा दल** लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो की बहुत निर्णायक भूमिका होती है। कोई समाज कितना लोकतान्त्रिक है यह उसके दलो का चरित्र देखकर जाना जा सकता है। उपाध्याय के अनुसार श्रेष्ठ दल के लक्षण हैं "जो सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियो का झुण्ड न होकर जीवमान सगठन हो जिसका सत्ता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना अलग वैशिष्ट्य हो। ऐसे दल की दृष्टि मे सत्ता पर अधिकार करना उद्दिष्ट न होकर अप। सिद्धान्तो एव कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने का एक साधन होगा और इसलिए उस दल के सर्वोच्च पदाधिकारियो से लेकर साधारण से साधारण सदस्य मे अपने उस आदर्शवाद के प्रति एक निष्ठा होगी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्ठा ही अनुशासन और आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करती है। यदि अनुशासन ऊपर से थोपा जाता है तो वह किसी भी दल की आन्तरिक शक्तिहीनता को प्रकट करता है।"[2]

दीनदयाल उपाध्याय दुख पूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि भारत के राजनीतिक दल केवल नाम के लिए ही दल हैं। दलो की आन्तरिक शक्तिहीनता, उन्हे समाज की अवाछनीय शक्तियों का अवलम्ब ग्रहण करने को मजबूर करती है। उपाध्याय मुख्त तीन मजबूरियों का उल्लेख करते हैं (१) राजा–महाराजा (२) जातिवाद तथा (३) उद्योगपति।

B 1 राजा-महाराजा "भारत के राजनीतिक दल अभी अपनी गहरी जड़े जनता में जमा नहीं सके हैं। राजनीतिक दलो को विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रमों को एक ओर रखकर चुनाव के लिए सिद्ध होना पडता है। यही कारण है कि आज भी पुराने राजे–महाराजाओ, नवाबों और जागीरदारों को अपने–अपने दल में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस पुराने वर्ग को देश के राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय बनाना चाहिए। परन्तु उनको टिकट देने का आधार तो राजवंश में उनका जन्म न होकर उनकी योग्यता ही होना चाहिए।"[3]

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, 'क्या मतदाता समय की चुनौती का उत्तर देंगे ?', पाचजन्य, ५ फरवरी, १९६२ पृष्ठ – १९

2 वही।

3 काग्रेस और जनतन्त्र, सुरुचि प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९१, पृष्ठ – ३६

B 2 **जातिवाद** "जाति और सम्प्रदाय का विचार भी प्रत्याशियो के चयन को बुरी तरह प्रभावित करते हैं भारत मे प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी जाति का अग है। अत दूसरे दलो पर जातीयता एव सकीर्णता का आरोप लगाने से, अनजाने मे ही देश मे इस भावना को अप्रत्यक्ष रीति से और अधिक बल मिलता है। यदि परिस्थिति यहाँ तक बिगडती है कि डॉ. राम मनोहर लोहिया जैसे व्यक्ति को चुनाव मैदान से इसलिए हटना पड़े कि वह उक्त निर्वाचन क्षेत्र मे निवास करने वाले मतदाताओ की बहुसख्य जाति के नहीं हैं तो यह एक गम्भीर सी बात होगी। परन्तु इसके निराकरण का उपाय तो यही है कि दल के सगठन को दृढ बनाया जाए न कि जाति के आधार पर मतदाताओ से अपील की जाए।"[1]

B 3 **उद्योगपति** · "प्रत्याशियो का चयन करने मे प्रत्याशी की आर्थिक स्थिति और निर्वाचन मे धन व्यय करने की क्षमता, दूसरा प्रमुख आधार रहा करता है, जो इसे प्रभावित करता है। बहुत से व्यक्तियो को टिकट प्रदान करने का कारण उनके धन व्यय करने की क्षमता ही रहा करती है। वास्तव मे वे जनता और राजनीतिक दलो से उनके मत और टिकट प्राप्त करने नहीं आते वरन् उन्हें खरीदने आते हैं। ससद की सदस्यता तो उनके लिए अपनी चर्बी बढाने एव अधिक मोटा होने का साधन होने के कारण व्यापार है। काग्रेस सहित सभी दल, धनाभाव से इतने परेशान है कि वे अपनी शक्ति बढाने के लिए इनका सहयोग प्राप्त करने को आतुर रहते हैं।"[2]

(C) **अच्छा मतदाता** उपाध्याय की यह आस्था है कि मतदाता की बुद्धिमता ही इलाज है। "ये सब ऐसे तथ्य हैं कि जो देश की राजनीति को गलत दिशा मे ले जा रहे हैं। राजनीतिक दलों को, जो देश की राजनीति में प्रमुख दल के रूप में विकसित होना चाहते हैं, इन खतरों से सचेत रहकर अपने सिद्धान्त की हत्या नहीं करनी चाहिए। इसी भाँति जनता का यह कर्त्तव्य है कि वह जागरूक रहकर, बुद्धिमत्ता के साथ हस के समान अपने नीर–क्षीर विवेक का परिचय दे, जिससे देश के राजनीतिक दलों के गलत

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, "मताधिकार कागज का टुकड़ा नहीं, लोकाज्ञा है", पाचजन्य, २६ जनवरी, १९६२, चुनाव विशेषाक, पृष्ठ – ४०

2 वही, वहीं

दृष्टिकोणो को सुधारा जा सके।" इस हेतु उपाध्याय मतदाता को निम्न बाते स्मरण रखने का आग्रह करते हैं[1]

१ " अपने मताधिकार का प्रयोग पार्टी के लिए न कर सिद्धान्त के लिए व्यक्ति के लिए न कर पार्टी के लिए और धन के लिए न कर व्यक्ति के लिए करना है।"

२ " प्रचार के शिकार किसी भी व्यक्ति को केवल इस आधार पर ही अपना मत दे आते हैं कि वह विजयी होने वाला है तो चुनाव परिणाम कुछ भी हो, वह आपकी हार ही कही जाएगी।"

३ "मतदान का अधिकार आपके सद्विचार और आपके सद्विवेक की कसौटी है, अत उस ओर से उदासीन न हो, उसे बेचे नहीं और न उसे नष्ट होने दे।"

४ "मतदान का अधिकार प्रत्येक नागरिक की स्वाधीनता का प्रतीक है और इस कारण एक लोकतन्त्रवादी होने से आपको इसका उपयोग किसी के निर्देश पर न कर, स्वय के सद्विवेक एव आत्मा की पुकार पर करना चाहिए।"

५ " जनता को पुन पुन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह ही राजनीतिक दलो का निर्माता है।"

दीनदयाल उपाध्याय एक राजनीतिक दल के महामत्री थे, लेकिन उनके उपर्युक्त विचार दलवाद से ऊपर उठकर एक शुद्ध लोक्तन्त्रवादी के नाते व्यक्त किए गए विचार हैं। भारत की बहुल चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाए रख सकता है जब देश मे लोकतन्त्र रहे। उनके राष्ट्रवाद ने ही उन्हे प्रखर लोकतन्त्रवादी बनाया था।

(ग) राष्ट्रीय एकता के लिए प्रजातन्त्र आवश्यक -

उनका मत था कि "भारत की परिस्थिति में प्रजातन्त्र का राष्ट्रीय एकता से गहरा सम्बन्ध है यदि यहाँ प्रजातन्त्र समाप्त हो गया तो ए५ ।। को भी नष्ट होते देर नहीं लगेगी विघटनकारी तत्वों में से भी जो प्रजातन्त्रीय पद्धति का अनुसरण करेंगे वे शनै शनै राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते जायेंगे। चुनावों में जातिवाद व क्षेत्रवाद का सहारा लेने वाले भी, जब जीतकर आएगे तो सबको साथ लिए बिना अकेले नहीं बैठ सकेंगे। यही कारण है द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के रूप में धीरे–धीरे परिवर्तन हो रहा है। प्रजातन्त्र के रहते हुए किसी प्रान्त विशेष में किसी दल विशेष का प्रभुत्व भी आ गया तो

---

[1] वही, पृष्ठ – ४१

वह अलग नहीं हो सकता किन्तु यदि प्रजातन्त्र समाप्त हुआ तो एकता पहले समाप्त हो जाएगी। भारत की एकता के लिए प्रजातन्त्र जरूरी है।"[1]

(घ) साझे मोर्चो की अवसरवादी राजनीति -

सत्ता प्राप्ति के लिए लोकतन्त्र का अवसरवादी उपयोग हमारे प्रजातन्त्र के लिए एक बडी चुनौती है। इसके लिए सावधान करते हुए उपाध्याय कहते हैं "सयुक्त मोर्चे भी अपने देश मे बनाए जाते रहे हैं, जिन समझौतो व सयुक्त मोर्चो का आधार यही रहा करता है कि विभिन्न राजनीतिक दल पृथक–पृथक रूप से लडकर सत्तारूढ दल को पराजित न कर सकेगे और इसलिए सभी को मिलकर काग्रेस के विरुद्ध एक प्रत्याशी खडा करना चाहिए। ये समझौते और सयुक्त मोर्चे जनता मे निषेधात्मक वृति पैदा करते हैं जो कभी भी उचित नहीं है, ऐसे समझौते करने वाले तत्त्व सयुक्त मोर्चे बनाते समय सिद्धान्तो मे भी सौदेबाजी करते हैं जिससे देश मे अवसरवादी तत्त्वो को प्रश्रय मिलता है।"[2]

दीनदयाल उपाध्याय का लोकतन्त्र विचार, लोकतन्त्र की पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारम्भ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत परिष्कार की विवेचना करते हुए, भारतीय लोकतन्त्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है। उपाध्याय का चिन्तन आदर्शवादी है। वे अपने विचारो मे समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्वो से ज्यादा 'नीतिशास्त्र' से प्रभावित हैं। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है, वही 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनकी व्यवहार नीति के नाम पर , अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल उपाध्याय ने चेताया था, उसका जब भयानक दौर भारत में प्रारम्भ हुआ, उसी दौर मे उनकी हत्या हो गई। भारतीय लोकतन्त्र की यह बडी क्षति थी।

८:६ समाजवाद :

समाजवाद के विषय में उपाध्याय के विचारों का सरलरेखीय विवेचन सम्भव नहीं है। एक समय उपाध्याय 'समाजवाद' के समर्थक थे। यह समय १९५२–५३ का था। उसके बाद उनके द्वारा

---

[1] दीनदयाल उपाध्याय, 'जनतान्त्रद्रोहियों से देश की रक्षा करें', पाचजन्य १५ अगस्त १९६६, पृष्ठ – ७

[2] दीनदयाल उपाध्याय, 'क्या मतदाता समय की चुनौती का उत्तर देंगे ?' पाचजन्य, ५ फरवरी, १९६२, पृष्ठ – २२

'समाजवाद' शब्द का उपयोग किए बिना समतावादी आर्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन तथा आर्थिक क्षेत्र मे राज्याधिकार का विरोध चलता रहा। यह काल १९५४–५६ तक का है। १९५७ के जनसघ के घोषणा–पत्र मे पहली बार 'समाजवाद' की राज्य के हाथो मे शक्ति के केन्द्रीकरण के सम्बन्ध मे आलोचना की गई। १९५८ के जनसघ के सातवे बगलौर अधिवेशन मे समाजवाद तथा 'पूँजीवाद' पर तीव्र प्रहार किए गए। लेकिन उपाध्याय का सम्पूर्ण आर्थिक विवेचन समाजपरक एव समतावादी है। वे सम्पत्ति पर व्यक्ति का समाज–निरपेक्ष अधिकार स्वीकार नहीं करते। मुनाफावादी कर्म–प्रेरणा तथा यान्त्रिक उद्योगवाद के भी प्रबल विरोधी हैं, 'समाजवाद' का भी वे तीखा विरोध करते हैं। इसके मुख्यत निम्न कारण हैं

१ समाजवाद सत्ता व वित्त का राज्य मे केन्द्रीकरण करता है।

२ सर्वग्रासी राज्य का हिमायती है।

३ समाजवाद लोकतन्त्र विरोधी तानाशाही शासन का पोषक है।

४ समाजवाद वर्गसघर्षवादी, भौतिकवादी व अमानवीय दर्शन है।

५ समाजवाद भारतीयता के प्रतिकूल विदेशी विचार है।

इस विरोध के बावजूद उनके प्रतिपादन मे समाजवाद के प्रति एक भावनात्मक लगाव है। वे समाजवादी प्रकृति, समाजवादी दृष्टिकोण तथा समाजवादी आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था, इस प्रकार समाजवाद की त्रि–आयामी व्याख्या करते हैं। समाजवादी प्रवृत्ति को वे आवश्यक बताते हैं, समाजवादी दृष्टि जो समतावादी है उसे वाछनीय मानते हैं लेकिन 'समाजवादी राज्य–व्यवस्था' का प्रबल विरोध करते हैं। पूँजीवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था को मूलत समान प्रवृत्ति की घोषित करते हैं। कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक समाजवाद की वैज्ञानिक व्याख्या से असहमत हैं, मार्क्स के भावात्मक रूप से प्रशसक हैं, लेकिन तर्क मे उसका शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते।

इस सन्दर्भ में उपाध्याय जी के ये शब्द उल्लेखनीय हैं "बुभुक्षितो के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हे समान स्तर और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की इच्छा, आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है। उनकी सदइच्छा सराहनीय है। इस दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़न, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अन्तःकरण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाए बिना नहीं रह सकता। परन्तु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह दुःख पूर्ण स्थिति का अन्त चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्रित कर एक ऐसी विस्तृत विचार

सारणी प्रस्तुत की जो आगे आने वाली पीढियो को आकर्षित करने की क्षमता रखती है। मार्क्स से विचार भिन्नता रखने वाले समाजवादी भी उसके अकाटय तर्कों का खण्डन नहीं कर पाते। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविको ने उस स्वप्न को साकार करने हेतु सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार कर लिया। बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर आज तक रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रो मे अनेक सफलताओ के बावजूद इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।"[1]

दिसम्बर, १९५८ मे हुए जनसघ के सातवे अधिवेशन के बाद अपनी दलीय नीतियो के सन्दर्भ में, दीनदयाल उपाध्याय ने एक विशेष लेख लिखा, जिसमे 'समाजवाद के विरोध को एक साहसी व सुविचारित नीति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे लिखते हैं "समाजवाद हमारे देश व प्रकृति के लिए विदेशी है। कभी-कभी इसे सामाजिक कल्याण व सामाजिक न्याय का नाम दिया जाता है। वास्तव मे समाजवाद जिसका अर्थ राज्य के हाथो मे (व्यावहारिक रूप मे जिसका अर्थ सत्तारूढ दल के हाथ मे) समस्त शक्ति का केन्द्रीकरण है। काग्रेस अपने प्रस्ताव मे 'जनतान्त्रिक समाजवाद तक पहुँची है, किन्तु 'समाजवाद' और जनतन्त्र आज तक कभी साथ-साथ नहीं चले हैं। ब्रिटेन के मजदूर दल ने उन दोनों को साथ-साथ चलाने का प्रयास किया, किन्तु उसे जनतान्त्रिक परम्पराओ के पक्ष मे 'समाजवादी' सैनिकों को त्याग देना पडा।" उपाध्याय आगे लिखते हैं "दिल्ली के एक प्रतिनिधि ने इच्छा व्यक्त की कि जनसघ के प्रस्ताव से "ऐसी समाजवादी नीति जिसके कारण राज्य के हाथ मे अधिक शक्ति केन्द्रीभूत होती है, जनतान्त्रिक आदर्शों के अनुकूल नहीं है।" ये शब्द निकाल दिए जाने चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी धारणा थी कि समाजवाद का विरोध राजनीतिक पूँजी के सचय मे सहायक नहीं है, विशेष रूप से ऐसे समय मे जबकि देश के नवयुवक समाजवाद के नारे के पीछे लट्टू हैं, किन्तु ऐसे समय में जबकि सभी लोग मृगमरीचिका के पीछे अन्धे होकर दौड़ रहे हैं, कुछ लोग ऐसे चाहिए जो दोनों हाथों में साहस का सम्बल धारण कर सत्य उद्घोष कर सकें। यदि राष्ट्रीय रूप मे इसका लाभ होता है तो अन्ततोगत्वा राजनीतिक रूप से भी उसका लाभ मिलेगा ही।"

अपने इस लेख में उपाध्याय स्पष्ट करते हैं कि जनसघ समाजवाद का विरोध कर रहा है, इसका यह अर्थ नहीं कि जनसघ पूँजीवाद का समर्थक है वरन् जनसघ पूँजीवाद का भी पूरी उग्रता के साथ विरोधी है। वे लिखते हैं: "...... क्योंकि वहाँ पूँजीवाद में समस्त शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ केन्द्रित हो जाती है। यथार्थ में समाजवाद और पूँजीवाद एक ही रोग के दो रूप हैं। यूरोप में

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, 'समाजवाद लोकतन्त्र एव हिन्दुत्ववाद' लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९८६, पृष्ठ – ७२

औद्योगिक क्रान्ति ने स्वावलम्बी कर्मियो (Self Employed Workers) को ही समाप्त कर दिया। यदि औद्योगिक कार्यक्रम अपनाते समय सचेत रहे तो हम सिद्धान्तत **विकेन्द्रीकरण** स्वीकार कर भारत को पूँजीवाद व समाजवाद दोनो के दुर्गुणो से बचा सकते हैं। हमारा सिद्धान्त होना चाहिए छोटी इकाइयो द्वारा उत्पादन।"[1]

उपाध्याय सामान्यत अपने विवेचन मे 'समाजवाद' का विश्लेषण उसे 'पूँजीवाद की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न विचार के ही रूप मे करते हैं, तथा दोनो को मानव की भ्रमपूर्ण कल्पनाओ पर आधारित मानते हैं, दोनो समान रूप से अमानवीय है "पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप 'समाजवाद ने 'सामूहिक मनुष्य (Mass Man) की कल्पना की। आर्थिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने का लक्ष्य ही सामने रखा। उसके जीवन की अन्य आवश्यकताओ की पूरी उपेक्षा कर दी। इन दोनो व्यवस्थाओ मे मनुष्य का विचार नहीं।" दीनदयाल उपाध्याय 'मानव एव उसके स्वातन्त्र्य के पक्षपाती हैं लेकिन " जब टाटा और बिरला 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य या 'मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है उनकी अपनी स्वतन्त्रता, उनके कारखानो मे गुलाम बने हुए लाखो–करोडो मजदूरो की स्वतन्त्रा नहीं। हमे तो लाखो–करोडो मानवो की स्वतन्त्रता का विचार करना है। शक्ति चाह राजनीतिक हो या आर्थिक केन्द्रीकरण से व्यक्ति स्वातन्त्र्य समाप्त होता है। पूँजीवाद व समाजवाद दोनो ही केन्द्रीकरण के हामी हैं। दोनो ही व्यवस्थाओ मे मनुष्य का विचार होता है परिणात्मक (Quantitative) आधार पर, न कि गुणात्मक (Qualitative) आधार पर।"[2]

दीनदयाल उपाध्याय समाजवाद व लोकतन्त्र का सह–अस्तित्व असम्भव मानते हैं यूरोपीय समाजवादियो के नए प्रयासो ने, उस तत्त्व को जन्म दिया, जिसे आज जनतान्त्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टो से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे हैं कि "समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतन्त्रीय ढग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद तथा जनतन्त्र दोनो की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और प्रजातन्त्र एक साथ पनप भी सकते हैं ? सिद्धान्तवादी इस पर आशान्वित हैं, पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इसका हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए। चूँकि

बगलौर अधिवेशन के पश्चात् (३); दीनदयाल उपाध्याय, पाचजन्य, २३ फरवरी, १९५६, पृष्ठ – २६

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था से ही मानव – मूल्यों की रक्षा – महामत्री प. दीनदयाल उपाध्याय (१६ मार्च १९५६ को लखनऊ गगाप्रसाद स्मारक हॉल में दिया गया भाषण), पाचजन्य, ३० मार्च, १९५६, पृष्ठ – ८

समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनीतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोता के साथ ही ढलता है। अत समाजवादी व्यवस्था म राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनीतिक और अन्य क्षेत्रो मे भी पू । वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक स्थिति पैदा होगी जब उन लोगो के विरुद्ध जो शासन मे हैं, लोकतान्त्रिक अधिकारो का प्रभावपूर्ण ढग से प्रयोग करना सम्भव नहीं होगा। समाजवादी बन्दूक और गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतन्त्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतन्त्र, दोनो साथ–साथ चल नहीं सकते। शेर–बकरी का एक ही घाट पर पानी पीना असम्भव है।"[1]

उपाध्याय समाजवाद व मार्क्स प्रणीत साम्यवाद मे अन्तर नहीं करते तथा कहते हैं कि वैचारिक क्षेत्र मे आपेक्षित लचीलेपन के स्थान पर इसमे मजहबी कट्टरता है। " लोकतन्त्र मे भूलो को सुधारने तथा नवीन बातो को स्वीकारने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियो के समस्याओ के प्रति दृष्टिकोण मे इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिन्तन की प्रेरणा नहीं देती। मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्धविश्वासो पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी, नए स्वतन्त्र विचारो से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टो के शब्दकोष मे ऐसे विचारको के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं।"[2] इसी मसीहावाद के कारण इसने "एक युद्धपिपासु मानव को जन्म दिया। यह युद्ध लोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है। उसे न विचार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है न स्वय निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव जीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नही आका जाता।"[3]

उपाध्याय विचार व दर्शन के नाते 'समाजवाद' को मार्क्स प्रणीत साम्यवाद से इसलिए अलग नहीं करते क्योकि उनकी मान्यता है कि 'समाजवाद' मार्क्स के पहले कोई विचारधारा नहीं थी, वह केवल सामाजिक निष्ठा को प्रकट करने वाला एक शब्द मात्र था। मार्क्स ने उसे एक सुनिश्चित विचारधारा का रूप दिया। अत 'समाजवाद' विचार से यदि मार्क्स को निकाल दें तो वह एक अस्पष्ट व अटपटी वृत्ति बन जाता है। बहुत से लोग फैशनवश भी समाजवाद का नाम लेते रहते हैं।

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, अध्याय–१०, समाजवाद, लोकतन्त्र और हिन्दुत्ववाद, पृष्ठ – ७३

2 वही, पृष्ठ – ७४

3 वही, पृष्ठ – ७

उपाध्याय 'समाजवाद के इतने विरोधी इसलिए बन गए क्योकि 'समाजवाद' शब्द के सम्मोहन की आड मे देश मे साम्यवाद के प्रति एक सम्मान पैदा किया जा रहा था। इसके लिए वे काग्रेस व नेहरू को जिम्मेदार मानते थे।[1] वे साम्यवादी तानाशाही के सख्त खिलाफ थे। नेहरू का पाश्चात्यवादी मानस भी उनके विचारो के अनुकूल न था। अत नेहरू व कम्युनिस्ट दल जिस नारे के बल पर राजनीति कर रहे थे उसको देश मे निर्विवाद रहने देना उन्हे गलत लगता था। अत यह ज्ञात होते हुए भी कि दुनिया मे समाजवादियो की बडी सख्या गैरसाम्यवादी है उन्होने समाजवाद व साम्यवाद मे फर्क न करते हुए अपने विचारो का प्रतिपादन किया है। परन्तु सत्य तो यह है कि विचार के पटल पर साम्यवाद व समाजवाद मे अन्तर करना जरूरी है। वास्तविकता तो यह है कि साम्यवाद के अनेक प्रकार हैं, यथा रूसी साम्यवाद, चीनी साम्यवाद, युगोस्लाव साम्यवाद एव यूरो–साम्यवाद आदि।

उपाध्याय की यह मान्यता थी कि पूँजीवाद तथा समाजवाद तो पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति क 'जुडवा बेटे' हैं, अत वे कहते हैं कि समाजवादी भी मूलत पूँजीवादी ही होते हैं। "समाजवादी, फिर वह चाहे जिस रूप–रग के हो, पश्चिम की प्रौद्योगिकी मे अमिट श्रद्धा रखते हैं। उनकी लडाई मशीन से नहीं, मशीन के मालिक से है। फलत उसकी मिलकियत राज्य को सौंपकर वे समाधान मान लेते हैं।"[2] उपाध्याय पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति को ही मानवीय पूँजीवाद एव साम्राज्यवाद की उपज मानते हैं। 'मशीन को 'मानव' से बडा दर्जा देने वाला यह औद्योगिक विस्तारवाद ही मानवता के प्रति अपराध है। उत्पादन के इन केन्द्रीकृत तरीको ने 'कर्मशील' मानव के हाथ ही काट लिए, उ‹। असवेदनशील तथा असास्कृतिक बना दिया। उसे दो कृत्रिम सज्ञाओं मे बाँ दिया, 'शोषित और 'शोषक या 'शासित और 'शासक यह मानव का ाक्तिकरण है। दीनदयाल उपाध्याय का मत था "पूँजीवादी और समाजवादी, इन दोनों ही अवस्थाओं मे मानव के सही और पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक मे उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, सघर्षशील एव मात्स्य–न्याय–प्रवण प्राणी माना गया है तो दूसरी मे व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का ास, अकिन्चन एव अनास्थामय। शक्तियों का केन्द्रीकरण दोनो मे अभिप्रेत है। फलत दोनों का परिणाम "अमानवीकरण" में हो रहा है। भगवान की सर्व ेष्ठ कृति मानव, अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुन अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा,

1 'काग्रेस के नारे से ही कम्युनिस्टों के पैर जमे' – उपाध्याय जी द्वारा राजाजी के दल का स्वागत – पाचजन्य, २२ जून १९५९, पृष्ठ – २३

2 दीनदयाल उपाध्याय 'विकेन्द्रीकरण की विडम्बना', पाचजन्य उद्योग अक, दीपावली स. २ २४, ३ अक्टूबर, १९६७, पृष्ठ – १२

उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा उसकी शक्तियो को जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकान्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही सम्भव है। हमे समाजवाद पूँजीवाद नहीं, मानव का उत्कर्ष और सुख चाहिए।"[1]

उपाध्याय 'समाजवाद पर अपने विचारो को व्यक्त करते समय उसे भारतीय सन्दर्भ मे ही विवेचित करते हैं जो सेद्धान्तिक के साथ–साथ राजनीतिक था। उनके विचारो के कुल स्वर को सुनकर कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि वे विधायक रूप से 'समष्टिवादी' थे। वे 'पूँजीवाद व 'समाजवाद इन दो कठोर दायरो मे विचारधाराओ को बॉटकर, किसी एक दायरे की तरफदारी के खिलाफ थे। पूँजीवाद के खिलाफ तो वे समाजवादी ही थे, लेकिन प्रतिक्रिया मे उत्पन्न राज्यवादी 'समाजवाद के खिलाफ वे 'मानववादी' थे। उपाध्याय का यह तकनीकि आधार पर 'समाजवाद' का विरोध, लोंगो को बहुत समझ मे नहीं आया अत लोगो ने उन्हे प्रचलित 'समाजवादी खेमे के विरोधी अर्थात् 'पूँजीवादी खेमे मे धकेल दिया। आज के तकनीकि युग मे उद्योगवाद के विरोधी को आधुनिकीकरण का विरोधी भी माना जाता है। सम्भवत यही कारण था कि उपाध्याय के विचार लोग ठी।) से समझ नहीं पाए।

८ १० *लोक कल्याणकारी राज्य*

पाश्चात्य जगत् मे पूँजीवाद व समाजवाद की अतिवादी बहस का समाधान एक प्रकार से 'लोक कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा से किया गया। उपाध्याय ने इस अवधारणा के विषय में ज्यादा विवेचन नहीं किया है। जितना थोडा सन्दर्भ उनके लेखो में आया है वह 'लोक कल्याणकारी राज्य अवधारणा की प्रशसा मे ही आया है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा वास्तव मे पूँजीवादी व साम्यवादी घेराबन्दी को तोडने वाली विचार–सारणी की उपज है। उपाध्याय इस सन्दर्भ में लिखते हैं

"विगत तीस वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एव नवीन आर्थिक चिन्तन के कारण उन्होने (पाश्चात्य राष्ट्रो ने) समाजवादियों को हतप्रभ कर डाला है। आज अमेरिका या इगलैण्ड का सर्वसाधारण व्यक्ति किसान या मजदूर, जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार 'सर्वहारा' कहा जाता है, सौ वर्ष पहले की तथाकथित उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है, पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे हैं। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही देशों के बारे

---

[1] उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', अध्याय–४ 'राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना' जागृति प्रकाशन नोएडा, १९९०, पृष्ठ – ६६

मे मार्क्स की भविष्यवाणियॉ असत्य सिद्ध हुई। कल के पूँजीवादी देशो ने अपनी पद्धति मे विकास किया है और आज के भौतिक विकास मे समाजवादियो से टक्कर लेने को उद्यत हैं।"[1] इस उद्धरण मे समाजवाद के खिलाफ लोक कल्याणकारी राज्य अवधारणा को पूँजीवाद के विकास या सुधार के रूप मे प्रशसित किया गया है। इसी प्रकार अपने बम्बई के प्रसिद्ध भाषण मे वे कहते हैं "यूरोप के कुछ देशो मे समाजवाद के नाम पर राजनीतिक क्रान्तियॉ हुई। जहॉ लोगो ने समाजवाद को स्वीकार नहीं किया वहॉ भी राज्यकर्त्ताओ को श्रमिको के अधिकारो को मान्य करना पडा तथा कल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखा गया।"[2] इस उद्धरण मे वे लोक कल्याणकारी राज्य को समाजवादी मजदूर सगठनो की विजय के रूप मे प्रतिपादित करते दिखाई दे रहे हैं।

वास्तव में पाश्चात्य विचार–यात्रा की अधुनातन अवधारणाओ को, जिनमे लोक कल्याणकारी राज्य तथा 'नववाम' (New Left) की विचारधाराए प्रमुख हैं, उपाध्याय ने अपने विवेचन का विषय नहीं बनाया। यह एक सयोग भी हो सकता है तथा सुविचारित कूटनीति भी। क्योकि इन विषयो पर यदि वे ध्यान देते तो पाश्चात्य विचारो की एकागिता व अमानवीयता को इतनी प्रखरता–पूर्वक प्रताडित न कर पाते। ये विचार पाश्चात्य प्रयोगो की अन्तर्निहित अतिवादिता के विरुद्ध विकसित हुए हैं।

अपने प्रथम उद्धरण मे 'लोक कल्याणकारी राज्य' सिद्धान्त का इस्तेमाल भी उपाध्याय ने 'समाजवाद' की खिलाफत में कर दिया है। उसमें परोक्षत पूँजीवादियो की प्रशसा भी झलकती है, लेकिन शायद यह बात इस सिद्धान्त के विकास के इतिहास के साथ सगत नहीं है, क्योंकि 'लोक कल्याणकारी सिद्धान्त को प्रतिपादित व प्रतिष्ठित करने वाले विचारक पूँजीवादी नहीं वरन् गैर–साम्यवादी हैं, जो कि सामान्यत 'लोकतन्त्रात्मक समाजवाद' के पुरस्कर्ता हैं। पूँजीवादी 'आर्थिक' अराजकता तथा साम्यवादी 'राज्यवादिता' के खिलाफ इसका प्रणयन हुआ है। साम्यवादियों का आन्तरिक आत्मालोचन, उन्हें 'नववाम' की ओर उत्प्रेरित कर रहा है, जो लोकतन्त्रीय उदारवाद व मानववाद की विजय है। यदि उपाध्याय इधर ध्यान देते तो उनका 'एकात्म मानववाद' आधुनिक वश्विक विचार यात्रा में सहभागी हो जाता, काश यह होता।

ऐसा ही एक और विचार है जिसने आधुनिक राजनीतिशास्त्र को बहुत प्रभावित किया है, वह है 'सविधानवाद'। केवल 'धर्मराज्य' की विवेचना के समय उसे 'कानून के राज्य' का समानार्थी बताते हुए,

---

[1] दीनदयाल उपाध्याय, 'समाजवाद, लोकतन्त्र अथवा मानववाद', पाचजन्य, २ जनवरी, १९६१, पृष्ठ – १३

[2] उपाध्याय, दीनदयाल, 'एकात्ममानववाद', अध्याय–१: 'राष्ट्रवाद की सही कल्पना', जागृति प्रकाशन नोएडा, १९९०, पृष्ठ – १८

उपाध्याय 'सविधानवाद का सन्दर्भगत व परोक्ष समर्थन करते हैं। निरकुश राजतन्त्र की समाप्ति तथा लोकतन्त्र के विकास मे, लोकतन्त्र की अनेक सात्विक विधाओ के विश्लेषण एव निरूपण मे सविधानवाद के विचार ने एक गौरवपूर्ण भूमिका निभाई है। यदि इस विषय पर भी उपाध्याय विचार व्यक्त करते तो उन्हे पश्चिम इतना अमानवीय व 'धर्मभाव विहीन न लगता। कारण जो भी रहे हो लेकिन इन विचारो की यात्रा को अनदेखा करने से उपाध्याय के विवेचन मे उस पूर्णता का अभाव रह गया, जबकि ये विचार उनके 'पूर्णतावाद के लिए अधिक सगत व रजक सिद्ध होते। 'लोक कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा तथा 'सविधानवाद' उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित भारतीयता के अधिष्ठान वाले 'एकात्म मानव दर्शन की धर्मराज्य' कल्पना के बहुत अनुकूल हैं। इनसे जुडकर 'एकात्म मानव दर्शन' निश्चय ही भारत के प्रतिनिधि के नाते विश्व–विचार मे अपना योग दे सकता है।

८ ११ *लोकतन्त्र, रामराज्य एव धर्मराज्य*

उपाध्याय जी के अनुसार वर्तमान युग लोकतत्र का युग है। प्रत्येक शासक चाहे वह किसी भी रीति से सत्तारूढ़ हुआ हो अपना शासन जनता के नाम पर ही चलाता है। जिन देशो मे राजतन्त्र है वहॉ भी अब राजा को ईश्वर का अवतार न मानकर जनता की सामूहिक सत्ता का प्रतीक मानते हैं। रूस आदि देशो के अधिनायक भी अपने को जनतन्त्र या लोकतन्त्र का हामी घोषित करते हैं और अपने शासन के प्रति किसी न किसी प्रकार जनता की अनुकूलता व्यक्त कराते रहते हैं।[1]

महात्मा गॉधी के अनुसार लोकतन्त्र का सार यह है कि उसमें हरेक व्यक्ति उन विविध स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है जिनसे राष्ट्र बनता है। गॉधीजी का कहना है कि "प्रजातन्त्र का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि इस तन्त्र मे नीचे से नीचे आदमी और ऊँचे से ऊॅचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलना चाहिए लेकिन अहिंसा के बिना ऐसा कभी नहीं हो सकता।"[2]

जन्मजात लोकतत्रवादी वह होता है जो जन्म से ही अनुशासन का पालन करने वाला हो। उन्हीं के मत मे लोकतत्र स्वाभाविक रूप में उसी को प्राप्त होता है, जो साधारण रूप में अपने को मानवी और दैवी सभी नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने का अभ्यस्त बना ले। लोकतन्त्रवादी को निःस्वार्थ तो होना ही चाहिए। उसे अपनी या दल की दृष्टि से नहीं, बल्कि एकमात्र लोकतन्त्र की ही

---

1 भारत चिति, भारत चिति सस्थान, लखनऊ, १९७६, पृष्ठ – ६५

2 भारत चिति, भारत चिति सस्थान लखनऊ, १९७६, पृष्ठ – ८२

दृष्टि से सबकुछ सोचना चाहिए। स्वर्गीय श्री मोरारजी देसाई का कथन भी ऐसा ही था कि नौकरशाही मे सरकार का यह कर्त्तव्य होता है कि वह वदी को रोके और नेकी को बढावा दे, ताकि मानव समाज सच्चे अर्थ मे एक ऐसी व्यवस्था की ओर बढ सके, जिसमे मानव के गुण फले–फूले और अवगुण मिट जाए। लोकतत्र के इतिहास इस बात के उदाहरणो से भरे पडे हैं कि गलत काम करने पर जनमत ने बडे से बडे नेता को सत्ता से हटा दिया या हटने पर मजबूर किया। इसका उदाहरण अमेरिका मे तब मिला जब श्री निक्सन को प्रेसीडेण्ट का पद त्यागना पडा।

पण्डित जी का कहना है कि लोकतत्र तभी सफल हो सकता है जब एक–एक नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा। समाज जितना यह समझता जायेगा कि राज्य को चलाने की जिम्मेदारी उसकी है, उतना ही वह सयमशील बनता जाएगा। जिस दल को लगता है कि आज नहीं, कल हमारे कन्धो पर राज्य–सचालन का भार आ सकता है, वह कभी अपने वादो मे और व्यवहार मे गैर जिम्मेदारी और असयत नहीं होगा फिर जनता के तो ऊपर राज्य चलाने की जिम्मेदारी सदैव ही रहती है।[1]

अत सबसे महत्व है जनता को सुसस्कृत करने का। जबतक इस काम को करने वाले राज्य के मोह से दूर, भय से मुक्त, महापुरूष एव सघटक रहेंगे, लोकमत अपनी सही दिशा में ही चलता जाएगा।

उपाध्याय जी ऐसे जनतत्र को स्थापित करना चाहते हैं, जिसके द्वारा समाज के सभी व्यक्तियो को विकसित होने का अवसर सुलभ हो सके। वे ऐसे जनतत्र को धर्म की भित्ति पर खडा करते हैं। प्रजातन्त्र की व्याख्या मे जनता का शासन पर्याप्त नहीं, यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए। जनता के हित का निर्णय तो धर्म ही कर सकता है। अत सच्चा प्रजातन्त्र वहीं हो सकता है जहाँ स्वतन्त्रता और धर्म दोनों हो।[2]

यह धारणा काण्ट की नैतिक स्वतन्त्रेच्छा की भाँति है। अरस्तु के अनुसार प्रजातन्त्र बहुसख्यक गरीब जनता, स्वतन्त्रता तथा समानता का समुच्चय है। उपाध्याय जी के अनुसार धर्म राज्य ही वास्तविक जनराज्य है। इसी राज्य के द्वारा व्यक्तियों की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। यदि हम धर्म विहीन राज्य को महत्व देते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि हम सारे वस्तु को छोड़कर

---

1 उपाध्याय, राष्ट्र जीवन की दिशा, पृष्ठ – ८४

2 उपाध्याय, दीनदयालः एकात्म मानववाद, जागृति प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९६० पृष्ठ – ६४

छाया के पीछे दौड रहे है। गॉधीजी भी कहते हैं कि समाज से धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता और यदि वह कभी सफल हो जाता है तो उससे समाज का विनाश हो जाएगा। उपाध्याय जी के धर्मराज्य मे ही परोपकार, सहनशीलता न्याय, भाईचारा, सामजस्य शाति तथा सर्वव्यापी प्रेम सभव है।

उपाध्याय जी का धर्मराज्य सन्त आगस्टाइन का दैवी राज्य नहीं है जिसका प्रतिनिधित्व ईसाई चर्च करता है। उनके धर्मराज्य का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या मजहब से नहीं है। थ्योक्रेटिक स्टेट मे किसी एक पथ के लोगो का अधिकार होता है। अन्य पथावलम्बी या तो रह नहीं सकते या द्वितीय श्रेणी के नागरिक बनकर रहते हैं। इस स्टेट मे एक पथ को स्वतन्त्रता और अन्य पथो का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बधन रहता है।

उपाध्याय जी का धर्मराज्य हेगेल का भी राज्य नहीं है। हेगेल के राज्य की परिणति निरकुश राज्य मे होती है। उपाध्याय जी की धर्मराज्य की धारणा प्लेटो, मूर आदि के स्वप्नलोकी आदर्शवाद धारणा भी नहीं है। यह तो विशुद्ध रूप से भारतीय सस्कृति पर आधारित नैतिक एव व्यावहारिक धारणा है।

उपाध्याय जी के धर्मराज्य की तुलना गॉधीजी के परम राज्य से की जा सकती है। दोनो ही विचारको के अनुसार धर्म का सम्बन्ध किसी मजहब या सम्प्रदाय से नहीं है। उपाध्याय जी कहते हैं "राज्य को सम्प्रदाय निरपेक्ष होना चाहिए, धर्मनिरपेक्ष नहीं। धर्मनिरपेक्षता वैसे ही निरर्थक है, जैसे तापहीन अग्नि।"[1] धर्मनिरपेक्ष राज्य नियमहीन राज्य होता है। धर्मनिरपेक्षता और राज्य दोनो एक दूसरे के विरोधी हैं। राज्य धर्मराज्य ही हो सकता है। इस राज्य में प्रत्येक को अपनी मजहब की स्वतन्त्रता है, परन्तु यह स्वतन्त्रता वहीं तक है, जहॉ तक दूसरे की स्वतन्त्रता का व्यवधान न हो।

काण्ट और स्पेन्सर को भी इस धारणा मे विश्वास है कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी तक कर सकता है, जब तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसी राज्य में सभी सम्प्रदाय सुरक्षित हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता को इस राज्य में कोई स्थान नहीं है। इसी राज्य के द्वारा सामाजिक परिमार्जन हो सकता है।

उपाध्याय जी धर्म को सार्वभौम मानते हैं। सभी सस्थायें, सत्तायें और ईकाइयाँ उसी से शक्तिग्रहण करती हैं। प्राचीन भारतीय परम्पराओं मे राजा धर्म की रक्षा के लिए हुआ करते थे। वे

[1] उपाध्याय एकात्ममानववाद पृष्ठ – ६०

पाश्चात्य देशो के राजाओ की तरह धर्म से भी श्रेष्ठ नहीं माने जाते थे। पाश्चात्य देशो के राजाओ के सम्बन्ध मे तो यह कहा जाता था कि राजा कभी कोई असत कार्य कर नहीं सकता। किन्तु प्राचीन भारत मे राजा का जब अभिषेक होता था तो वह खडा होकर कहता था "अदण्डयोऽस्मि अदण्डयोऽस्मि, अदण्डयोऽस्मि।" राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ मे पलाश का दण्ड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था नहीं "धर्मदण्डयोऽस्ति"। अर्थात् तेरे ऊपर धर्म का दण्ड है तुम अदण्डय नहीं हो। यह इसलिए किया जाता था कि राजा को ज्ञान हो जाए कि वह सर्वप्रसभुत्तासम्पन्न नहीं है, धर्म ही सर्वप्रभुसत्ता सम्पन्न है, ईश्वर भी धर्म का ही अनुसरण करता है। गॉधीजी के अनुसार भी धर्मविहीन राजनीति वस्तुत मौत का एक फन्दा है।[1]

उपाध्याय जी धर्म को बहुमत से बडा मानते थे। धर्म विरुद्ध आचरण बहुमत भी नहीं कर सकता। बहुमत द्वारा यह नहीं सिद्ध होता कि समाज मे न्याय का वितरण कैसे हो ? राष्ट्रीय एकता हमारा धर्म है इसका निर्णय जनमत सग्रह से नहीं हो सकता। बहुमत द्वारा शासन का निर्धारण होता है। बहुमत का आदेश कभी–कभी राष्ट्रघाती भी हो जाता है। इसलिए उपाध्याय जी कहा करते थे कि धर्म से नियन्त्रित बहुमत वाली सरकार द्वारा ही न्यायपूर्ण आचरण सभव है।[2] यदि हम धार्मिक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करेंगे तो हम जो कार्य करेंगे, उसमे दायित्व नहीं होगा। धर्म मे ही इस बात की चेतनता है कि व्यक्ति, समाज एव राष्ट्र के भविष्य के लिए मनुष्य का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण है। धर्म समग्र मनुष्य की भावना के प्रति प्रतिक्रिया है। धर्म के द्वारा ही सभी विद्यमान वस्तु मे एकता का दर्शन होता है।

अन्त मे हम यह कह सकते हैं कि उपाध्याय जी के अनुसार धर्म द्वारा नियन्त्रित लोकतत्र ही एक आदर्श–दर्शन है। ऐसे ही लोकतत्र में व्यक्तित्व तथा मानवता का पूर्ण विकास होता है। लिकन प्रजातत्र को "जनता का, जनता द्वारा जनता के लिए" शासन कहा है। यहॉ "का" स्वतत्रता का, "द्वारा" प्रजातत्र का और "के लिए" धर्म का द्योतक है। इस प्रकार दीनदयालजी के अनुसार धर्म–राज्य ही वास्तविक जन–राज्य है।

८'१२ अखण्ड भारत :

भारतीय राष्ट्रवाद मूलत एक जन, एक देश तथा एक सस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद होने के कारण बहुसख्यक–अल्पसख्यक के साम्यवादी सिद्धान्त पर पराभूत नेतृत्व द्वारा किए गए भारत के

---

1 राधाकृष्णन्, एस. (सम्पादक): महात्मा गॉधी एसेस एण्ड रिफलेक्शन पृष्ठ – १४

2 उपाध्याय, एकात्ममानववाद, पृष्ठ – ६२–६३

वि॰ जन को पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने कभी स्वीकार नहीं किया। उपाध्याय के अनुसार "अखण्ड भारत देश की भौगोलिक एकता का ही परिचायक नहीं अपितु जीवन के भारतीय दृष्टिकोण का द्योतक है जो अनेकता मे एकता का दर्शन करता है। अत हमारे लिए अखण्ड भारत कोई राजनीतिक नारा नहीं है – बल्कि यह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन दर्शन का मूलाधार है।"[1]

इस दृष्टि से १९५३ के १५ अगस्त को भारतीय प्रतिनिधि–सभा ने अखण्ड भारत पर जनसघ की श्रद्धा को प्रकट करने वाला प्रस्ताव पारित किया था। इस प्रस्ताव मे कहा गया था–"भारत का विभाजन् उसकी अपनी मूल सस्कृति के विरुद्ध था। विभाजन के कारण समस्याओ का समाधान होने के बजाए अन्य भीषण समस्याए उत्पन्न हो गई हैं। एक देश, एक राष्ट्र तथा एक सस्कृति के सिद्धान्त पर जनसघ का विश्वास है और यही उसकी आस्था है कि उन्हीं के आधार पर हमारी उन्नति हो सकेगी। अत इसी आदर्श को सम्मुख रखते हुए अखण्ड भारत के लिए जनसघ प्रयत्नशील रहा है।"[2]

राष्ट्रीयता के साथ समझौता न करने की अपनी मानसिकता को वे एक अन्य लेख मे इस प्रकार अभिव्यक्त करते हे "यदि हम एकता चाहते हैं तो भारतीय राष्ट्रीयता जो कि हिन्दू राष्ट्रीयता है तथा भारतीय सस्कृति, जो कि हिन्दू सस्कृति है, उसका दर्शन करे, उसे मानदण्ड मानकर चले। भागीरथी की इसी पुण्यधारा मे सभी प्रवाहो का सगम होने दे। यमुना भी मिलेगी और अपनी सभी कालिमा खोकर गगा की धवल धारा मे एक रूप हो जाएगी।"[3]

उपाध्याय भारत की समस्त समस्याओ का समाधान अखण्ड भारत के पुन निर्माण मे ही देखते थे। उनकी दृढ धारणा थी कि एक ही राष्ट्र के यह दो भाग पुन एक होगे। उनकी इस धारणा का प्रकटीकरण उनके राजनीतिक दल के कार्यक्रमो से समय–समय पर परिलक्षित होता रहा है। यथा, १५ अगस्त १९६५ को पारित एक प्रस्ताव में जनसघ की प्रतिनिधि सभा ने अखण्ड भारत एव हिन्दू–मुस्लिम एकता पर अपनी श्रद्धा को तत्सम्बन्धी अपनी भूमिका के साथ पुन स्पष्ट किया था। प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध तुष्टीकरण के नहीं होने चाहिए। मुस्लिम समस्या की जड़ काग्रेस की तुष्टीकरण की नीति में है, इसे स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव

---

1. दीनदयाल उपाध्याय, अध्याय–६, "अखण्ड भारत: साध्य और साधन" लोकतन्त्र का भारतीयकरण, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९८६, पृष्ठ – ३३
2. केलकर भालचन्द्र कृष्णा, प. दीनदयाल उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–३ (राजनीतिक चिन्तन), सुरुचि प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९८६, पृष्ठ – १०२
3. दीनदयाल उपाध्याय, "राष्ट्र चिन्तन", लोकतन्त्र का भारतीयकरण, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९८६, पृष्ठ – ३६

ा कहा गया था – "विभाजन के बने रहते भारत और पाकिस्तान मे शान्ति स्थापित नहीं होगी। पाकिस्तान की गुण्डागर्दी के सामने झुकने या उसका तुष्टीकरण करने की नीति के कारण ही दोनो मे दूरिया बढ़ रही हैं। भारत के अनेक मुसलमान भावनात्मक दृष्टि से पाकिस्तान से जुड़े हैं। इस परिस्थिति को बदलने के लिए दोहरे उपाय करने होगे। एक तो यह कि पाकिस्तान के साथ 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त पर व्यवहार रखा जाए। जिस दिन पाकिस्तान यह अनुभव करेगा कि सम्पूर्ण भारत को जीतने का उसका स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता पाकिस्तान अन्तर्मुख बनेगा और विभाजन की भूल उसकी समझ मे आ जाएगी। किन्तु इसके लिए 'शठे शाठ्यम' वाली नीति पर चलना ही उपाय है। दूसरा उपाय है भारत के मुसलमानो को खुश रखने के लिए कभी–भी उनके साथ राजनीतिक सौदेबाजी न करना। भारत के असाम्प्रदायिक राज्य मे उनके सभी अधिकार सुरक्षित हैं। किन्तु मुसलमानो मे पाकिस्तानी प्रवृत्ति प्रकट करने वाली बातो को कभी सहन न करते हुए उनके दृष्टिकोण का भारतीयकरण करना होगा।"[1] जनसघ की यह भूमिका थी। आगे चलकर डॉ. लोहिया तथा दीनदयाल ने भारत तथा पाकिस्तान महासघ की कल्पना प्रस्तुत की। उस सम्बन्ध मे अप्रैल, १९६४ मे निकाली गई एक सयुक्त विज्ञप्ति मे स्पष्टीकरण हो गया है।

"हमारा स्पष्ट मत है कि हिन्द तथा पाक का यह विभाजन पूर्णत कृत्रिम है। एक दूसरे से सम्बन्धित प्रश्नों का अधूरा समाधान ढूँढने तथा एक–एक प्रश्न का अलग–अलग करने की दोनो की सरकारो की नीति के कारण ही आज दोनो राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध बिगड़े हैं। इस प्रणाली को त्यागकर सभी समस्याओं का सम्यक् दृष्टि तथा खुले हृदय से विचार करना चाहिए। ऐसा करने से भारत और पाकिस्तान के बीच आज पाई जाने वाली विवादपूर्ण समस्याओं का निराकरण होगा और वर्षानुवर्ष दोनो में चली आ रही सद्भावना का फिर से निर्माण होगा। उसी मे से किसी न किसी स्वरूप का हिन्द पाक महासघ राज्य स्थापित होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी।"[2]

अखण्ड भारत की जिस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि मे जनसघ का जन्म हुआ था उसके कारण जनसघ की आवाज पहले दिन से ही राष्ट्रीय अखण्डता एव पाकिस्तान – विरोध के मुद्दों को मुखरित करने वाली सिद्ध हुई। आन्तरिक मुद्दों में भी जितनी भावात्मकता के साथ जनसघ ने प्रान्तीय, जातीय व भाषिक पृथकतावादों का प्रतिकार किया है उतना अन्य किसी ने नहीं। कोई भी

---

1 दीनदयाल उपाध्याय, अध्याय–६, "अखण्ड भारत साध्य और साधन" लोकतन्त्र का भारतीयकरण, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १९८६ पृष्ठ – १०३

2 वही, वहीं

पृथकतावाद किसी समाज की आन्तरिक परिस्थितियो मे से ही पैदा होता है। इन परिस्थितियो से जनसघ ने उन सभी समुदायो को अपना विरोधी बनाया जो भारतीय परिस्थिति मे अपने को किसी न किसी कारण से आहत महसूस करते थे अथवा राष्ट्रीयता के अलावा अपनी सामुदायिक पहचान के प्रति आग्रही थे। जनसघ के इस राष्ट्रवादी आग्रह का पुरोधा दीनदयाल उपाध्याय ही थे। उन्होने एक ऐसा राजनीतिक दल विकसित किया जो सामुदायिक व भौतिक स्वार्थो के आधार पर सगठित अन्य राजनीतिक दलो की तुलना मे राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के मुद्दो को न केवल आन्दोलन के विषय बना सका वरन् लोगो को इन मुद्दो पर सगठित कर बलिदान के लिए भी तैयार कर सका।

राजनीति को जहॉ लोकनीति का अधिष्ठान होना चाहिए वहॉ उसे राष्ट्रनिष्ठ भी होना चाहिए। राष्ट्रनीति राजनीति का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। १९६२ तथा १९६५ मे भारत–चीन तथा भारत–पाक मे हुए युद्धो के समय जनसघ ने सरकार को जो सहयोग दिया वह उसकी दलगत राजनीति से ऊपर उठी राष्ट्रभक्ति का उत्तम उदाहरण था। राष्ट्रहित को दल के हितो की अपेक्षा सदैव श्रेष्ठ मानने का नियम दीनदयाल ने स्वय अपने आचरण द्वारा ही डाला था। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने हितो के लिए राष्ट्र के हित की बलि नहीं देनी चाहिए, उसी प्रकार दल को भी व्यवहार करना चाहिए। अत दीनदयाल की राजनीति का केन्द्र–बिन्दु राष्ट्र था। स्वराज्य की कोई भी नीति राष्ट्रहित का ध्यान मे रखकर बनाई जाए, यह दीनदयाल उपाध्याय का मार्गदर्शक सिद्धान्त था। इसलिए उनके सभी विचारो को राष्ट्रनीति का अधिष्ठान प्राप्त है।

दीनदयाल उपाध्याय ने अपने राजनीतिक विचारो के प्रतिपादन मे विभिन्न राज्य शास्त्रीय विषयो का सन्दर्भगत विश्लेषण किया है, क्रमबद्ध विवेचन नहीं। मूलत दार्शनिक वृत्ति के होते हुए भी उपाध्याय एक राजनीतिक दल के व्यवहारिक सगठनकर्त्ता थे। अत क्रमबद्ध विवेचन कभी उनकी प्राथमिकता नहीं बन पाया। समय–समय पर उपस्थित प्रसगों के प्रकाश मे ही वे अपने विचार प्रस्तुत करते थे। प्रासगिक विवेचना क्रमश एक क्रमबद्धता को प्राप्त करती जा रही थी, लेकिन नियति ने उन्हे अधिक समय नहीं दिया। बम्बई की ऐतिहासिक व्याख्यानमाला प्रथम व अन्तिम सिद्ध हुई। इसे विधि की विडम्बना के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

८:१३ *हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान* ·

स्वतन्त्रता मिलने के बाद सबसे जटिल, बहुत पुरानी होते हुए भी नित्य नए रूप धारण करने वाली समस्या थी मुसलमानों की। मुसलमानों की यह समस्या बारह सौ वर्ष पुरानी थी। इस समस्या

ने इस देश के सारे जनजीवन को व्याप्त कर रखा था। इसी सदर्भ मे उपाध्याय जी ने कहा है कि दो समाज जब सदियो से एक ही भूमि मे रहते आए हो, तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया से उनमे मानवता के नाते एक प्रकार के अपनत्व के सम्बन्ध निर्मित हो ही जाती है। किन्तु मुसलमानो के बारे मे यह प्रक्रिया यहाँ नहीं हुई। यह नहीं कि यह बात केवल हमारे ही देश मे हुई। अन्य देशो मे भी इन लोगो का यही हाल रहा। जहाँ–जहाँ मुसलमान आक्रान्ता के नाते गए वहाँ–वहाँ उन्होने अपने पृथक अस्तित्व का निर्माण किया और उस देश की जनता को बलात् इस्लाम की दीक्षा देने की चेष्टा की।"[1] पण्डित जी के हिन्दू होने के कारण उनका इस्लामी उपासना पद्धतियो के साथ कोई विरोध नहीं था। मोहम्मद पैगम्बर जैसे सम्प्रदाय सस्थापका की उन्होने कभी आलोचना नहीं की। उनका स्पष्ट मत था कि मुसलमानों का प्रश्न कहलाने वाली समस्या वस्तुत "धार्मिक" है ही नहीं। किस प्रकार से ईश्वर की उपासना करे या किस ईश्वर को भजे, हरेक का अपना स्वतत्र व्यक्तिगत विषय है। कोई कारण नहीं कि एक व्यक्ति उपासना–पद्धति को लेकर दूसरे को हीन समझे। यही सर्वधर्मसमभाव की उनकी भूमिका थी। मोहम्मद पैगम्बर के उपदेशानुसार उपासना करने का राष्ट्रीयत्व के साथ कोई सम्बन्ध होता ही नहीं। हिन्दुस्तान के हिन्दू लोग तो ३३ करोड देवताओ को मानने के लिए भी तैयार हैं। भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा है –

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।

– गीता ९ २३

इसमे यच्चयावत सभी देवताओ का समावेश हो चुका है। कोई इनमे मुसलमानो के "अल्लाह" का भी समावेश कर दे, तो कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। विश्व का नियमन करने वाली शक्ति को किसी भी नाम से सबोधित करें, तो भी अन्त मे उसका स्वरूप **"त्रैलोक्यनाथो हरि."** ही होता है। अत सामजस्य हिन्दुओं के रक्त में घुला हुआ है। प. दीनदयालजी को यही व्यापकता स्वीकार थी। अत मुस्लिम समस्या के नाम से जानी जाने वाली समस्या मूलत मनुष्य और भगवान के बीच सम्बन्ध क्या हो – इस स्वरूप की है ही नहीं। उन्हें उस स्वरूप की मानकर उनका समाधान करने अर्थात् हिन्दू–मुसलमानों में सौहार्द निर्माण के प्रयत्न सफल नहीं हुए।[2] दीनदयालजी का कहना है कि जब कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति की भलमनसाहत या बुराई के साथ

---

1 जोग बलवत नारायण, उपाध्याय विचारदर्शन, खण्ड–६, १९९१, पृष्ठ – ७१

2 उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–५, १९९१, पृष्ठ – १२३

नहीं हुआ करता। भले–बुरे सुष्ट–दुष्ट, व्यक्ति तो प्रत्येक समाज मे होते ही हैं। अत झगडा उपासना पथो से नहीं। अथवा थोडे से अच्छे लोगो का उदाहरण देकर भी समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। प॰ दीनदयालजी ने स्पष्ट कहा था कि इन लोगो के मार्गो पर चलने से आजतक कोई लाभ नहीं हुआ है। न ही इसके आगे भी होने की सभावना है।

मुसलमानों की समस्या के विषय मे हिन्दू नेताओ की दृष्टि एव प्रवृत्ति व्यावहारिक थी। इस प्रश्न की ओर केवल इस भावना से देखा जा रहा था कि स्वातन्त्रय प्राप्त करने के लिए हिन्दू–मुस्लिम एकता आवश्यक है। इसलिए जब मुसलमानो के "अबे" का उत्तर लोकमान्य तिलक ने "क्यो बे" दिया और मुसलमानो द्वारा हिन्दुओ के विरुद्ध किए गए दगो मे वे दृढतापूर्वक हिन्दुओ के पक्ष मे रहे तो उनकी इस न्यायोचित भूमिका का न्यायमूर्ति महादेव रानडे, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता आदि मध्यमपथी नेताओ ने उस समय भी इसी भावना से विरोध किया कि हिन्दू–मुस्लिम एकता मे बाधा नहीं पडनी चाहिए। तिलक ने विरोध की चिन्ता किए बिना हिन्दुओ को मुसलमानो के अत्याचारो के विरुद्ध खडा करने के पूरे प्रयास किए। हिन्दुओ मे नवचेतना और सामर्थ्यबोध जागा देखकर तिलक ने कहा – "आज कई वर्षो से अलविदा कहते–कहते भ्रष्ट हुई जिह्वा श्री मगलमूर्ति के नाम के नामाच्चारण से फिर पवित्र होती जा रही है और **"स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह."** गीता के उपदेश का लौकिक अर्थ सभी लोगो के मन पर भलिभाँति अकित हो गया है।"[1] किन्तु लोकमान्य तिलक की राजनीति उनके माण्डले जेल से मुक्त होकर आने के बाद कुछ बदल गई। गाँधीजी ने मुस्लिम समस्या अर्थात् हिन्दू और मुसलमानो के प्रश्न को सर्वाधिक महत्व दिया। काग्रेस इसमे से जिस राजनीतिक मार्ग पर चली, उसी के परिणामस्वरूप अपरिहार्यत देश का विभाजन हो गया। उपाध्याय जी का ऐसा मानना है कि मुस्लिम समस्या की जड़ काग्रेस की तुष्टिकरण नीति में है, इसे स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव में कहा गया था – "विभाजन के बने रहने भारत और पाकिस्तान में शान्ति स्थापित नहीं होगी। पाकिस्तान की गुण्डागर्दी के सामने झुकने के कारण ही दोनो में दूरिया बढ़ रही हैं। भारत के अनेक मुसलमान भावनात्मक दृष्टि से पाकिस्तान से जुड़े हैं। इस परिस्थिति को बदलने के लिए दोहरे उपाय करने होगें। एक तो यह कि पाकिस्तान के साथ "जैसे को तैसा" सिद्धान्त पर आधारित सम्बन्ध रखा जाए। दूसरा उपाय है भारत के मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए कभी भी उनके साथ राजनीतिक सौदेबाजी न करना। भारत के असाम्प्रदायिक

---

1 उपाध्याय विचारदर्शन, खण्ड–६, १९९१, पृष्ठ – ७३–७४

राज्य मे उनके सभी अधिकार सुरक्षित हैं। किन्तु मुसलमानो मे पाकिस्तानी प्रवृत्ति प्रकट करने वाली बातो को कभी सहन नहीं करते हुए उनके दृष्टिकोण का भारतीयकरण करना होगा।"[1]

डॉ. लोहिया तथा दीनदयालजी ने भारत तथा पाकिस्तान महासघ के सम्बन्ध मे अप्रैल १९६६ मे निकाली गई एक सयुक्त विज्ञप्ति मे कहा है कि "हमारा स्पष्ट मत है कि हिन्द तथा पाक यह विभाजन पूर्णत कृत्रिम है। एक दूसरे से सबधित प्रश्नो का अधूरा समाधान ढूँढने तथा एक-एक प्रश्न का अलग-अलग विचार करने की दोनों देशो की सरकारो की नीति के कारण ही आज दोनो राष्ट्रो के आपसी सम्बन्ध बिगड़े हैं। इस प्रणाली को त्यागकर सभी समस्याओ का सम्यक् दृष्टि तथा खुले ह्रदय से विचार करना चाहिए। ऐसा करने से भारत और पाकिस्तान के बीच आज पाई जाने वाली विवादपूर्ण समस्याओ का निराकरण होगा और वर्षानुवर्ष दोनों मे चली आ रही सद्भावना का फिर से निर्माण होगा।"

उन्हीं के शब्दो मे "हमारा स्पष्ट मत है कि हिन्दुस्तान के मुसलमानो के जान माल की रक्षा अन्य नागरिको की भाँति ही की जानी चाहिए। वह राज्य जो अपने नागरिको को और वह नागरिक जो अपने पडोसियों को जीने का अधिकार भी नहीं दे सकते वे जगली हैं।"[2]

भारत मे हर मुसलमान नागरिक को हम इस बारे मे आश्वस्त करना चाहते हैं। प्रत्येक हिन्दू परिवार मे यह सन्देश पहुँचाना और प्रत्येक का आचरण इस सदेश के अनुसार रहे, इसकी सावधानी बरतना हमारा बिल्कुल प्राथमिक एव राष्ट्रीय कर्त्तव्य है और यह भावना सर्वत्र फैले, यही हमारी इच्छा है।[3]

इससे स्पष्ट होता है कि दीनदयालजी के विचारों में कहीं भी कोई सदिग्धता नहीं थी। देशहित के सम्बन्ध मे मुसलमानों का इतिहास वे भली भाँती जानते थे। किन्तु उतने मात्र से वे भविष्य के प्रति निराश नहीं थे। कारण, उन्हें विश्वास था कि इस देश के हिन्दू समर्थक बनेंगे, आज की पाक परस्त सरकार कल बदल जाएगी और पाकिस्तान को युद्धभूमि मे हारना पड़ेगा।[4] उस दृष्टि से भारत के मुसलमानों का राजनीति में तथा पाकिस्तान का समर भूमि में पराभाव करना ही मुसलमानों की समस्या का सर्वोत्तम हल है।

---

1 भारतीय जनसघ – घोषणा व प्रस्ताव, पृष्ठ – ७५–७६

2 उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–६, पृष्ठ – १०३–१०४

3 सदर्भ – भारत विभाजन के अपराधी, डॉ. राम मनोहर लोहिया, पेस्टीज प्रकाशन पृष्ठ – १३५–४३६

4 १९६६ के युद्ध में पाकिस्तानी लोगों को हार खानी भी पड़ी। पं. जी की भविष्वाणी सही हुई।

उपाध्याय जी के अनुसार मुस्लिम समस्या मूलत एक राजनीतिक समस्या है। उन लोगो को जो हिन्दुओ को सहिष्णुता का और बीती बिसार देने का उपदेश दिया करते हैं यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह प्रश्न हिन्दुओ द्वारा अपने इतिहास को बिसारने या न बिसारने का नहीं है। वास्तव मे प्रश्न मुसलमान समाज के मानस मे गहरे पैठी इस भावना को समाप्त करने का है कि हिन्दुओ पर उन्होने आधिपत्य चलाया है और हिन्दुओ को फिर से इस्लामी सत्ता के अधीन बनाने एव हिन्दुस्तान का इस्लामीकरण करने का उर्वरित कार्य पूरा करने की आकाक्षा रखना कतई गलत नहीं है। यह जिस रीति से हो पायेगा, वही हिन्दू–मुस्लिम एकता का सच्चा मार्ग है।[1] राजनीतिक सत्ता के बिना मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगो को बड़ी अशक्ति अनुभव होती है। उन्होने राजनीतिक और सम्प्रदाय–प्रसाद को सदैव अभिन्न माना है। उनके इस स्वभाव को ध्यान मे रखकर ही मुस्लिम समस्या का समाधान करना होगा।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प॰ जी के मन में इस देश मे रहने वाले विभिन्न सम्प्रदायो की उचित सामाजिक तथा राजनीतिक हितो की वृद्धि के खिलाफ कोई दुर्भाव नहीं था। परन्तु मत था कि जो सम्प्रदाय मजहब के साथ राजनीतिक आकाक्षा रखकर प्रभुत्ता स्थापित करना चाहते हैं उनसे मेरा मतभेद है। उनकी सोच थी कि मुसलमान राष्ट्र के साथ एकरूप नहीं हो पा रहे हैं।[3] ये इस प्रवृत्ति को राष्ट्रघाती मानते थे। उनका कथन था कि **राष्ट्र मे कोई अल्पसख्यक नहीं होता। जैसे शरीर मे एक नाक और दो आँखे होती हैं, परन्तु कोई नहीं कहता कि नाक अल्पसख्यक है, और आँखे बहुसख्यक हैं। वे दोनों ही शरीर के अवयव होते हैं।**[4]

उपाध्याय जी की यह धारणा है कि मुसलमानों मे देशभक्ति की धारणा तभी उत्पन्न होगी, जब वे जायसी, रसखान को अपना आदर्श मानेंगे। वे कहते हैं कि मुसलमानों से हमारा सघर्ष धार्मिक नहीं राजनीतिक है। वे राजनीतिक लाभ के लिए तुष्टीकरण की नीति को अनुचित नहीं मानते। उनका मत है कि सबके साथ न्याय हो।[5]

---

1 भिषिकर, चन्द्रशेखर परमानद, उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–५, १६६१, पृष्ठ – १२८

2 भिषिकर, चन्द्रशेखर परमानद, उपाध्याय, विचारदर्शन, खण्ड–५, १६६१, पृष्ठ – १३०

3 उपाध्याय, विचारदर्शन, १६६१, पृष्ठ – ६०–६१

4 उपाध्याय, विचारदर्शन, १६६१, मई १६५२ में दीनदयालजी द्वारा प्रस्तुत जनसघ का त्रिमुख सिद्धान्त पृष्ठ – ७६–८०

5 महात्मा गाँधी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को "विरोध दिशा" कहा था, यग इण्डिया, १३ जनवरी, १६२२

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने १६२२–२३ मे हिन्दू–मुस्लिम समस्या के सदर्भ मे कहा था कि "हिन्दू नेता अपने समाज का सगठन करे और मुसलमान नेता कोरी खिलाफत पर जोर न देकर स्वराज्य की प्राप्ति को अधिक महत्व दे।[1]"

८ १४ राष्ट्रीयता एव अन्तर्राष्ट्रीयता

आज ससार अनेक स्वतत्र राष्ट्रो मे विभाजित है वे वाह्य तथा आन्तरिक दोनो दृष्टियो से प्रभुतासपन्न हैं। दीनदयालजी का कथन है कि ससार परस्पर–पूरकता के सिद्धान्त पर आधारित है, दो राष्ट्रो के बीच परस्पर सहमति द्वारा जो आदान–प्रदान होता है उसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहा जाता है। उनका कथन है कि राष्ट्रीयता एव अन्तर्राष्ट्रीयता मे कोई विरोध नहीं है। कुछ विचारको का कथन है कि राष्ट्रीयता मूलत भावनात्मक होती है इसलिए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बीच सघर्ष हो जाता है। इसलिए ऐसे चिन्तक राष्ट्रीय भावना को ही आवाछनीय मानकर समाप्त कर देना चाहते हैं। दीनदयालजी राष्ट्रीय भावना को दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध स्थापित करने मे बाधक न मानकर साधम मानते हैं। उनका कथन है कि भारतीय सस्कृति एकात्मता के सिद्धान्त पर आधारित है इसलिए यह किसी दूसरे राष्ट्र के विकास मे बाधक नहीं हो सकता।[2] हिन्दू सस्कृति का मूल मत्र सहिष्णुता है। इसका कथन है कि "हमारे सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे मनुष्य हैं।" अपनी इसी सस्कृति के कारण इसने किसी अन्य राष्ट्र पर स्वय.आक्रमण नहीं किया है। अपनी रक्षा के लिए इसने बचाव अवश्य किया है।

प. दीनदयालजी का कथन है कि यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर असयमित और अनियत्रित रूप से अपनी सभ्यता को थोपना चाहे तो उसे मानव जाति का उपकारी न मानकर समस्त मानवता का शत्रु समझना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रूचि और स्वभाव के अनुसार अपनी सभ्यता के विकास और उसकी रक्षा करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। किसी भी दूसरे राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के आर्थिक शोषण का उसकी सप्रभुता को भग करने का अधिकार नहीं है। यदि किसी कारण दो राष्ट्रों के बीच सघर्ष हो जाए तो उसे युद्ध द्वारा नहीं अपितु समझौता वार्ता द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

1 स्वामी श्रद्धानन्द इन साइड काग्रेस, पृष्ठ – १४

2 उपाध्याय, राष्ट्र चिन्तन, पृष्ठ – १२६–१२७

उपाध्याय जी का कथन है कि यह जगत् सघर्षात्मक नहीं सृजनात्मक है।[1] जीवन का उद्देश्य किसी का विनाश नहीं बल्कि दूसरे के लिए अपने को समर्पित कर देना है। सपूर्ण सृष्टि एक दूसरे को सहयोग देती हुई चल रही है। इसका आधार सघर्ष नहीं, सहयोग है, भारत की राष्ट्रीयता दूसरो से सघर्ष और उनके साथ प्रतियोगिता पर जीवित नहीं रही।[2] अत अन्य राष्ट्रो से इसका कोई दुराव नहीं है।

हिन्दू राष्ट्र का अन्य राष्ट्रो के बीच किसी भी प्रकार का सघर्ष नहीं है क्योकि हिन्दू सस्कृति ने मानवता के उच्चतर लक्ष्यो की सिद्धि का मार्ग एकात्मता को बताया है। शान्ति और स्वतत्रता वहीं सुलभ है जहॉ उनके योग और क्षेम का प्रयत्न किया जाता है। उपाध्याय जी के अनुसार एकात्म मानववादी चिन्तन के द्वारा ही जगत् के समस्त झझावतो से सुरक्षा हो सकती है। विभ्रान्ति के चौराहे पर खडे विश्व के लिए भी यह मार्गदर्शक का काम कर सकता है।

---

1 विनोबा भावे ने कहा है "ब्रह्म सत्य जगत् स्फूर्ति जीवन सत्य शोधनम्।"

2 उपाध्याय, राष्ट्र–चिन्तन, पृष्ठ – १२६

उपसंहार

उपसंहार

साम्प्रदायिकता, जातिवाद, नस्लभेद रगभेद, अस्पृश्यता, स्त्रियो की दयनीय स्थिति असमानता, विदेशी ऋणो के भार से दम तोडती अर्थ–व्यवस्था, बड़े–बडे उद्योगो से मसले गये परपरागत कुटीर एव लघु उद्योग करोड़ों बेरोजगार, गरीबी, आसमान छूती मँहगाई से त्रस्त उपभोक्ता, जहरीले खाद्यान्न एव हवा–पानी, पारिस्थितिकी का असन्तुलन प्रदूषण, उजडते लोग विखरता समाज, फैलती अपसस्कृतियॉ मूल्यहीनता, विदेशी शक्तियो के निर्देश पर लिए जाने वाले राजनैतिक एव आर्थिक निर्णय, उदार आर्थिक नीति के तहत अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियो के हाथो मे बिकी सरकारे, अपाहिज लोकतत्र तानाशाही, युद्ध, हिंसा, विद्रोह यह रूप केवल भारत का ही नही अपितु अधिकतर अविकसित एव विकासशील देशो का है परन्तु भारत उपर्युक्त समस्याओ मे से अधिकतर समस्याओ से ग्रसित है। आज विश्व मे सर्वमान्य प्रमुख समाज व्यवस्थाये चाहे वह पूँजीवादी लोकतत्रवाद हो या समाजवादी अथवा जनवादी लोकतत्रवाद, इन उपर्युक्त समस्याओ से छुटकारा दिलाने मे असमर्थ है। लेकिन इस दिशा मे गॉधी, लोहिया और प दीनदयाल जी के प्रयास बहुत हद तक सार्थक हो सकते हैं क्योकि इन लोगो के समाज दर्शन मे उपर्युक्त सभी समस्याओं के समाधान हेतु गभीरता से विचार किया गया है। गाँधीजी, लोहिया जी और दीनदयाल जी ने जो कुछ कहा और किया वह किसी विशेष काल या केवल भारत की जनता के लिए नहीं था, अपितु उन लोगो के विचारो एव सदेशों का महत्व प्रत्येक युग और सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है। हमे इसी परिप्रेक्ष्य में गॉधी लोहिया और दीनदयाल जी का मूल्याकन करता है।

२ अक्टूबर सन् १८६६ को पोरबन्दर मे जब गाँधीजी का जन्म हुआ उस समय भारत एक शोषित और गुलाम देश था। भारतीय दुर्बल जी हुजूरी करने वाले बुजदिल और अन्धविश्वासी थे। भारतीय समाज बुरी तरह उच्च और निम्न, स्पृश्य एव अस्पृश्य, वर्गो एव वर्णो में विभाजित सकीर्ण दृष्टिवाला समाज था, जिसमें राष्ट्रीयता की भावना का नितान्त अभाव था। गाँधीजी के ब्रिटेन जाने के समय देश में विश्वविद्यालयी शिक्षा का प्रसार हो रहा था, सामाजिक सुधार आन्दोलन लोकप्रिय होने लगे थे। ब्रिटेन में शिक्षा एव दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के हितों की रक्षा के पश्चात् जब गॉधीजी १६१५ में भारत आये तो यहाँ पर्याप्त राजनीतिक जागृति पायी, लेकिन इस राजनीतिक जागृति के बावजूद सामान्य भारतीय जनता का लगभग वही रूप था। जैसा ब्रिटेन जाते समय उन्होंने देखा था। भारतीय समाज उसी तरह वर्णो एव वर्गों में विभाजित, अन्धविश्वासी, गरीब एव शोषित था और

गाव उसी तरह उपेक्षित और वीरान थे। गॉधीजी ने महसूस किया भारत की समस्या केवल राजनैतिक या आर्थिक नहीं बल्कि बहुमुखी है। जनता मे शताब्दियो पुरानी दासता के फलस्वरूप उत्पन्न दास मनोवृत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए इनमे साहस और आत्म सम्मान की भावना का विकास करना आवश्यक है। उन्होने यह भी महसूस किया कि यदि इन परिस्थितियो को बदलना है तो देश की शिक्षा व्यवस्था, सामाजिक सुधार, आर्थिक एव राजनैतिक विकास की सभी योजनाएँ देश की सहज प्रतिभा के अनुकूल बनानी होगी। गॉधीजी ने इसके लिए प्रयास भी किया और अपने समाज दर्शन मे पूर्वोक्त समस्याओं को ध्यान मे रखते हुए एक आदश समाज व्यवस्था (सर्वोदय समाज) की रूपरेखा प्रस्तुत की।

गॉधीजी के आदर्श समाजवादी व्यवस्था का समसामयिक मूल्याकन मुख्य रूप से दो पक्षो मे बाटकर किया गया है – (१) राजनैतिक पक्ष (२) आर्थिक पक्ष

गॉधीजी के प्रमुख राजनैतिक आदर्श थे – स्वतत्रता, समानता, भ्रातृत्व, न्याय, विकेन्द्रीकरण इत्यादि। इन आदर्शो से युक्त राज्य व्यवस्था को ही वे आदर्श राज्य व्यवस्था कहते थे। उनके आदर्श "राजनैतिक स्वतत्रता" का ही प्रतिफल उनका राज्य विहीन प्रजातत्र या अराजक राज्य की अवधारणा थी। गॉधीजी के लिए व्यक्ति ही परम मूल्य है, वही राजसत्ता और मूल्य का पैमाना है। व्यक्ति के लिए ही राज्य और राजसत्ता है। इसीलिए राज्य या सत्ता का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसमे व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतत्रता का अनुभव कर सके और उनका समग्र विकास हो सके। इसी कारण वे राज्य को न्यूनतम शक्ति देने के पक्षपाती थे। वे राज्य का नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि कारणो के आधार पर विरोध करते थे। उनका कहना था – नैतिक दृष्टि से कोई भी कार्य, जब तक स्वेच्छा से नहीं किया जाय वह नैतिक नहीं हो सकता। किन्तु राज्य दण्ड शक्ति एव हिंसा शक्ति का सगठित स्वरूप है। जहाँ हिंसा है, वही दण्ड विधान है, वहाँ स्वतत्र इच्छा का प्रश्न ही नहीं और जहॉ स्वतत्रता नहीं वहाँ नैतिकता भी नहीं । इसी दृष्टि से राज्य की नैतिक सत्ता नहीं है और उसका अन्त होना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से राज्य शोषण का यत्र है। हिंसा का एक अर्थ शोषण भी है। राज्य गरीबो का शोषण करता है। मार्क्स भी राज्य को शोषण का यत्र मानकर उसके विलोप के लिए कहता है। गाँधीजी ने भी यही कहा था" ऊपर से भले लगे कि राज्य शोषण को कम करके हमें लाभ पहुँचा रहा है, पर वह व्यक्तित्व का, जो सम्पूर्ण प्रगति का आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य समाज को अधिकतम हानि पहुँचाता है।" फिर राज्य के पास सम्पत्ति एव सभी उद्योगों के रहने से ही उत्पादन नहीं बढ जाता। राज्य के पास केन्द्रीय उद्योग आदि रहने से केन्द्रित भ्रष्टाचार होता है। इन आर्थिक कारणो से भी राज्य की आवश्यकता नहीं।

राजनैतिक दृष्टि से वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो कम से कम शासन करती है, जैसा कि डेविड थोरो का विचार हैं – इसीलिए गॉधीजी राज्य का विरोध करते हैं क्योकि वह अनेक बुराइयो की जड हैं और इसीलिए वह भारत के लिए स्वराज्य स्वशासन चाहते थे। गॉधीजी का स्वराज्य वस्तुत **ग्राम स्वराज्य** ' हैं

सामाजिक दृष्टि से आदर्श समाज तो वही हो सकता है जो स्वय सचालित बन जाय जहॉ प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक हो। इसी को गॉधी ने "**जाग्रत अराजकता** कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं वर्तमान या निवर्तमान जितनी भी शासन प्रणालिया हैं वे पूर्वोक्त दोषो से मुक्त नहीं हैं, इसमे भी जो सर्वप्रमुख शासन प्रणाली मानी गयी अर्थात् ससदीय शासन प्रणाली जिसे लोक कल्याणकारी राज्य का स्वरूप माना गया है, वह भी इन दोषो से मुक्त नहीं है और इसी लिए गॉधीजी ने उसका भी खण्डन किया है।

गॉधीजी ससदीय लोकतत्र का विरोध करते हुए कहते हैं कि यह दलगत आधार पर प्रतिनिध्यात्मक ढग से सगठित तथा सचालित होते हैं और इसमे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बनी रहती हे। दलीय सगठन केन्द्रीकृत होते हैं। और उनके केन्द्रीय सगठन ससदो के प्रत्याशियो का चयन करते है। जनता को अपने निर्वाचन क्षेत्रो से चुने जाने वाले प्रत्याशियो के चयन मे कोई अवसर नहीं मिलता। जनता के दलो द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रत्याशियो मे से किसी एक के समर्थन मे मतदान करने का अधिकार प्राप्त करने के अतिरिक्त शासन सचालन मे किसी अन्य कार्य मे भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। बहुसख्यक मतदाताओ का समर्थन पाने वाला प्रत्याशी समस्त जनता का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं रह सकता। ससद मे जिस राजनैतिक दल के प्रत्याशी बहुसख्यक हो जाते हैं उसी दल के हाथ मे राजनीतिक सत्ता आ जाती है। यह वास्तविक लोकतत्र नहीं है।

जयप्रकाश भी इसे अनुचित मानते हैं। उनका मानना है "भारत मे ही नहीं, पश्चिम के देशो मे भी लोकतत्र का अर्थ निर्वाचित अल्पतत्र का शासन बनकर रह गया है। ऐसा शासन जिसमे सामान्य नागरिक की भागीदारी मतदान तक सीमित रह जाती है। लोकतत्र की छीजती हुई प्रतिक्रिया को रोकने के लिए जरूरी है कि नागरिक की अपने सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक जीवन के सचालन में महत्वपूर्ण भूमिका हो।[1] गॉधीजी के मत में लोकतंत्र का सही अर्थ स्वराज्य है, जिसका अभिप्राय है स्वशासन। ससदीय लोकतंत्र स्वशासन की धारणा की सही अभिव्यक्ति नहीं है। उनमे बहुसख्यक दल अल्पसख्यक के ऊपर स्वेच्छाचारी शासन करता है।

गणेश मत्री – मार्क्स गाधी और समसामयिक सदर्भ, पृष्ठ – १४७–४८

गॉधीजी के आदर्श लोकतत्र की अवधारणा ''स्वराज्य' या रामराज्य है। यह ग्रामीण गणतत्रो की सघात्मक व्यवस्था है जिसमे निम्नतर स्तर पर प्रत्येक ग्रामीण जनसमूह एक स्वायत्त शासी ईकाई का निर्माण करेगा, यह विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था है। गॉधोजी के ग्रामीण गणराज्य की कल्पना उनके राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का ही अनिवार्य परिणाम है। उसके अनुसार शासन उत्पादन और वितरण सभी की मूल ईकाई ग्राम होनी चाहिए। वास्तव मे देखा जाय तो गॉधी द्वारा प्रतिपादित राज्य स्वावलम्बी व्यक्तियो और गावो का सघ है।

आज भारत सरकार द्वारा पचायती राज से सम्बन्धित ७२वॉ सवैधानिक सशोधन विधेयक गॉधीजी के ग्रामीण गणराज्य के सपनो को साकार करने की दिशा मे एक सकारात्मक प्रयास है। विधेयक की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं[1] –

- ग्राम सभा एक ऐसी सस्था होगी जिसमे पचायत क्षेत्र के अन्तर्गत सभी वयस्क व्यक्ति शामिल होगे।
- पचायत प्रणाली तीन स्तर वाली होगी–ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर तथा जिला स्तर । बीस लाख से कम जनसख्या वाले राज्यो को मध्यवर्ती स्तर की पचायते गठित करने या न करने के बारे मे खुद फैसला करने की छूट होगी।
- तीनो स्तरो की पचायती सस्थाओ की सीटे प्रत्यक्ष चुनाव से भरी जायेगी। ग्राम पचायतो के सरपच मध्यवर्ती स्तर की पचायतो के सदस्य बन सकेगे। इसी तरह मध्यवर्ती पचायतो के सदस्य भी जिला स्तर की सस्थाओ के सदस्य बन सकेगे।
- सभी पचायतो मे अनुसूचित जातियो और जनजातियों के लिए उनकी जनसख्या के अनुपात मे स्थान आरक्षित होगे। कुल सीटों की एक तिहाई सीटें महिलाओ के लिए आरक्षित होगी।
- प्रत्येक राज्य मे सभी स्तर की पचायती सस्थाओं के अध्यक्ष के पद अनुसूचित जातियो एव जनजातियो की सख्या के अनुपात मे इन वर्गो के लोगों के लिए आरक्षित होंगे उसी प्रकार सभी स्तरो पर अध्यक्षों के एक तिहाई पद महिलाओं के लिए भी आरक्षित होंगे।
- राज्यो के विधान–मण्डल, पचायत सस्थाओं के तीनो स्तरों पर सदस्यो और अध्यक्ष पदों पर पिछड़े वर्गो के लोगो के लिए आरक्षण की व्यवस्था कर सकते हैं।
- आम तौर पर पचायतों का कार्यकाल पाच वर्ष का होगा और कार्यकाल पूरा होने से पहले ही नयी पचायत के लिए चुनाव करा लिये जायेंगे। पचायत भग किये जाने की स्थिति में छ महीने के भीतर चुनाव कराना आवश्यक होगा। इस तरह पुनर्गठित पचायत अपने कार्यकाल की शेष अवधि पूरी होने तक कार्य करती रहेगी।

[1] कुरूक्षेत्र, मई १९९३, पृष्ठ – ७

- ऐसा व्यक्ति जिसे किसी कानून के तहत राज्य विधान मण्डल के चुनाव से अयोग्य करार दिया गया होगा पचायत का सदस्य नहीं बन पायेगा।
- पचायतो के लिए मतदाता सूचिया बनाने और चुनाव प्रक्रिया की देख–रेख इसके दिशा निर्देशन तथा नियत्रण के लिए स्वतत्र निर्वाचन आयोग गठित किया जायेगा।
- पचायती राजअधिनियम की ग्यारहवीं अनुसूची मे निर्देशित निम्न विषयो (कृषि भूमि सुधार, मुद्रा सरक्षण, लघु सिचाई, जल प्रबन्ध और जल–आच्छादन विकास/पशुपालन, दुग्ध उद्योग और कुक्कुट पालन/मत्स्य उद्योग/सामाजिक वनोद्योग और फार्म वनोद्योग/लघुवन उत्पाद/लघु उद्योग जिसके अन्तर्गत खाद्य प्रसस्करण उद्योग भी हैं। खादी ग्राम और कुटीर उद्योग/ग्रामीण आवासन/पेयजल/ईंधन और चारा/सडके, पुलिया, पुल, नौका घाट, जल मार्ग तथा सचार के अन्य साधन/ग्रामीण विद्युतीकरण, जिसके अन्तर्गत विद्युत का वितरण भी है, गैर पारपरिक ऊर्जा स्रोत/गरीबी उपशमन कार्यक्रम/ शिक्षा जिसके अन्तर्गत प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय भी हैं/तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा/प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा/पुस्तकालय सास्कृतिक क्रिया कलाप/बाजार और मेले/ स्वास्थ्य और स्वच्छता/परिवार कल्याण, स्त्री और बाल विकास, समाज कल्याण, जिसके अन्तर्गत विकलागों और मानसिक रूप से अविकसित व्यक्तियो का कल्याण भी है/ जनता के कमजोर वर्गों का और विशेष रूप से अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण/लोक वितरण प्रणाली/सामुदायिक अस्तियो का अनुरक्षण) के मामलो के अन्तर्गत आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की योजनाएँ बनाने में पचायतो को विशेष जिम्मेदारी सौंपी जायेगी। विकास योजनाओ को लागू करना पचायतो का मुख्य दायित्व होगा।

पचायती राज अधिनियम की इन विशेषताओं के द्वारा लोगो को शोषण से बचाया जा सकेगा। यह अधिनियम देश में समानता और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने मे काफी मददगार साबित होगा। ग्राम सभा की नयी अवधारणा लोगों को एकजुट करेगी। इससे दुर्बल वर्ग को शोषण से बचाने मे भी मदद मिलेगी। इस अधिनियम में महिलाओं, अनुसूचित जातियो एव जनजातियों को भी अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए पक्की व्यवस्था की गयी है, अब ये लोग निर्णय लेने की प्रक्रिया में समान रूप से भागीदार बन सकेंगे। ग्राम स्तर पर राजनैतिक प्रक्रिया के स्वस्थ विकास से राष्ट्रीय स्तर पर स्वच्छ और ईमानदारी पर आधारित राजनैतिक व्यवस्था की बुनियाद तैयार होगी। इससे देश में समाज के सबसे निचले स्तर से लेकर राज्य और राष्ट्रीय स्तर तक लोकतान्त्रिक व्यवस्था को काफी बढ़ावा मिलेगा। गाँधीजी का भी यही आदर्श था, यही सपना था। उन्होंने कहा भी था– "मुझे ताना दिया जा सकता है कि मेरे विचार एक ख्याली तस्वीर हैं और इसलिए जरा भी विचारणीय नहीं हैं, फिर भी यदि युक्लिड की परिभाषा वाले बिन्दु का किसी भी व्यक्ति द्वारा चित्रित न किये जा सकने पर भी यदि अविनाशी मूल्य रहा है, तो मेरा चित्र भी मानव जाति के जीवन रहने के लिए अपना मूल्य

रखता है। यह चित्र तो पूरी तरह कभी सिद्ध नहीं होगा, फिर भी हिन्दुस्तान को इस सच्चे चित्र के लिए जीना चाहिए। हमे क्या चाहिए इसका हमारे पास ठीक चित्र होना चाहिए तभी हम उससे मिलती जुलती कोई वस्तु प्राप्त कर सकते हैं।"

आज राज्य और राजनीति की स्थिति यह है कि 'पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी जो लोकतत्र का मुख्य स्वरूप माना जाता है, वास्तविक लोकतत्र का वाहक बनने मे असमर्थ सिद्ध हो रही है। पार्टियॉ केवल किसी न किसी प्रकार सत्ता हथियाने की माध्यम रह गयी हैं। नाम से अलग होते हुये भी सभी पार्टियो का चरित्र लगभग एक जैसा ही है। इस प्रकार नाम लोकशाही का होते हुए भी आज का लोकतत्र अल्पतत्र बनकर रह गया है। जहॉ तक भारत का प्रश्न हैं कहने को यह दुनिया का सबसे बडा लोकतत्र है पर सत्ता का केन्द्रीकरण यहॉ अत्यधिक है। लोगों की प्रभुसत्ता यहॉ केवल सविधान की पक्तियो मे सुरक्षित है। भारत को अभी नक इसे अपनाने का अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त ससद न्यायपालिका, प्रेस आदि ऐसी सस्थाए हैं जिनका मजबूत होना और स्वतत्र रहना लोकतत्र को कायम रखने के लिए आवश्यक है। लेकिन पिछले कई वर्षो से इनकी स्वतत्रता को समाप्त करने की कोशिशे योजना पूर्वक चल रही हैं।

ऐसे मे सच्चे लोकतत्र या आदर्श राज्य–व्यवस्था की स्थापना अतिआवश्यक है। आज आवश्यकता है गॉधीजी के उन उच्च राजनैतिक आदर्शों स्वतत्रता, समानता, न्याय एव विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होने की। इस दिशा में ७२वा सविधान सशोधन (पचायती राज अधिनियम) एक सकारात्मक पहल है। जिससे गाँधी के राजनैतिक विचारों की प्रासगिकता भी समक्ष मे आती है।

गॉधीजी मूलत अर्थशास्त्री नहीं थे, अत परम्परागत अर्थशास्त्रियो की भाति अर्थशास्त्र के नियमों के प्रतिपादन मे उनकी कोई रूचि नहीं थी। परन्तु सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदर्श के विषय मे समय–समय पर जो कुछ विचार उन्होंने अभिव्यक्त किया वही भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के सदर्भ मे उनके आर्थिक दर्शन के स्पष्ट दिशा निर्देशक आदर्श बन गये। यहाँ उनके उन्हीं आदर्शो का वर्तमान सामाजार्थिक समस्याओ के परिप्रेक्ष्य में मूल्याकन करने का प्रयास किया गया है।

आज की प्रमुख समाजार्थिक समस्याये गरीबी, बेकारी, बेरोजगारी, शोषण, प्रदूषण, महगाई, असमानता इत्यादि है। गाँधीजी इन सभी समस्याओं का मूल कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एव भारी मशीनो की तकनीक और उस पर आधारित व्यवस्था को मानते थे। यत्रवाद ही पूजी के केन्द्रीकरण का मूल कारण है और इसी ने बड़े–बड़े पूजीपतियों एव उद्योगपतियों को जन्म दिया है। लेकिन गॉधीजी शोषण, बेकारी, केन्द्रीकरण इत्यादि समस्याओं को समाप्त करने के लिए व्यक्तिगत स्वामित्व

को समाप्त कर राज्य के हाथ मे स्वामित्व नहीं देना चाहते थे। उनका मानना था कि राज्य के स्वामित्व मे भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति होगी और इसमे पूजीपतियो का स्थान राज्य की नौकरशाही ले लेगी जिससे व्यक्ति की स्वतत्रता एव गरिमा समाप्त हो जायेगी। गॉधीजी का कहना था कि 'मशीन उसी समय तक अच्छी है, जिस समय तक मनुष्य की सेवा करती है। जब वह मनुष्य को गुलाम बनाने का प्रयास करती है तब अच्छी नहीं रह जाती। यही कारण था कि जिन तीसरी दुनिया के अधिकतर राष्ट्रवादी नेता स्वतत्रता का अर्थ ब्रितानी साम्राज्य से राजनैतिक मुक्ति और पश्चिमी देशो की तर्क पर अपने-अपने देशो के तेजी से औद्योगीकरण तक सीमित मानते थे। तब गॉधी ने कहीं अधिक व्यापक सदर्भ मे स्वतत्रता की परिकल्पना की थी। उनके लिए स्वराज्य का अर्थ पश्चिम की तर्ज पर देश का तेजी से औद्योगीकरण नहीं था। दरअसल उन्होने इस तरह के औद्योगीकरण के खतरो को न सिर्फ पहचाना बल्कि उनके विरूद्ध चेतावनी भी दी। इसीलिए गॉधी को औद्योगीकरण का विरोधी भी कहा गया। यह भी आरोप लगाया गया कि ये प्रगति के विरोधी हैं। लेकिन गॉधी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। आर्थिक, राजनैतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के लिए अलग तरह की प्रौद्योगिकी विकसित करनी होगी इस बात को सर्वप्रथम गॉधी ने समझा था। सच तो यह है कि गॉधी के मशीन सम्बन्धी विचारो को लेकर काफी गलतफहमी रही है, हकीकत मे उनका विरोध एक खास सदर्भ मे था व्यापक बेरोजगारी और फालतू मेहनत के रहते हुए मशीनीकरण के दीवानेपन के विरूद्ध, बाद मे उन्होने कहा "मशीन मनुष्य का स्थान न ले। वे उसे बेरोजगार न बनाये उसकी स्वतत्रता स्वायत्तता का अपहरण न करे। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण मे सहायक न बने।"

आज जब बडे उद्योगों के चलते जहॉ एक तरफ केन्द्रीकरण, बेरोजगारी आदि की समस्याये बढ रही हैं वहीं दूसरी तरफ पर्यावरण प्रदूषण, पारिस्थितिकीय असन्तुलन एव ससाधन रिक्तता आदि नयी समस्यायें भी उभर कर सामने आयी हैं।

गॉधीजी की दृष्टि कितनी सही थी और आज वह कितनी प्रासगिक है, यह तो १९९२ मे सम्पन्न हुए दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से ही सिद्ध होता है। पहला सम्मेलन पर्यावरण विषयक "रियो" का दूसरा "एड्स" विषय "एम्स्टर्डम" का । पहला सम्मेलन इस औद्योगिक विकास की सहारकता को उजागर करता है तो दूसरा इस पर आधारित सभ्यता के निरन्तर विषाणुयुक्त होते जाने को।[1]

गॉधीजी औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याओं का समाधान विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से देते हैं। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था यानि ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमे उत्पादन और उपभोग में सामीप्य हो।

---

[1] गाधी विचार (जुलाई-दिसम्बर), अक २, १९९२, पृष्ठ – २३

वे इस दिशा मे कुटीर उद्योगो के हिमायती थे और उनका विकास कर वे भारतीयो को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे। उनका कहना था उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए तथा जहॉ तक सभव हो उत्पादन मनुष्यो के हस्तकौशल तथा पशुओ के श्रम द्वारा सचालित कुटीर उद्योगो एव रचनात्मक कार्यक्रमो के माध्यम से होना चाहिए। इस दिशा मे गॉधी का चर्खा एव खादी आन्दोलन प्रमुख रहे आज विशेष कर भारत के सदर्भ मे जिस देश की जनसख्या १०० करोड है और जहॉ लोगो को आजीविका का कोई साधन उपलब्ध नहीं है, लघु एव कुटीर उद्योग काफी सार्थक सिद्ध हो सकते है जिससे कम से कम उनकी बुनियादी आवश्यकता रोटी, कपडा और मकान की पूर्ति तो होगी।

कुटीर एव लघु उद्योग जहॉ एक तरफ भारत जैसे देश की मूल आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे समर्थ हैं वहीं दूसरी तरफ इस के अन्य भी दूरगामी अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं, जैसे आर्थिक समानता आर्थिक विकेन्द्रीकरण, शोषण की समस्याओ मे कमी, प्रदूषण मे कमी साथ ही साथ इन उद्योगो का महत्व सुरक्षा की दृष्टि से भी है। यदि हमारे औद्योगिक प्रतिष्ठान कुछ ही शहरो तक सीमित होगे तो शत्रु राष्ट्र हमे कभी भी भारी नुकसान पहुँचा सकता है। लेकिन यदि छोटे उद्योगो के रूप मे यह शक्ति सम्पूर्ण देश मे फैली हो जो हम आसानी से औद्योगिक दृष्टि से कमजोर नहीं हो सकते। लघु एव कुटीर उद्योगो के प्रोत्साहन से अनेक समस्याओ से बचा जा सकता है। बडे पैमाने के उद्योगो से औद्योगिक क्षेत्रो में तालाबन्दी, हडताल, आवास की समस्या, गदी बस्तियॉ, परमाणु कचरे जैसी अनेक समस्यायें पैदा होती है, लेकिन छोटे पैमाने के उद्योग की स्थापना से ये समस्याये या तो पैदा नहीं होती और अगर पैदा होती भी हैं तो गभीर रूप धारण नहीं कर पाती।

रोजगार की दृष्टि से भी कुटीर एव ग्रामोद्योग बहुत अधिक उपयोगी हैं। छोटे–छोटे उद्योग की स्थापना से कम पूजी के विनियोग से अधिक से अधिक श्रम को लगाना सभव होता है। देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे ऐसे छोटे–छोटे उद्योगों की स्थापना करने से स्त्री–पुरुष–श्रम का सदुपयोग सभव हो सकेगा।

तुलनात्मक आकड़ो से पता चलता है कि "एक लाख रुपये के विनियोग से बनी इकाई में केवल चार व्यक्तियों को, लघु इकाई में २० से २५ व्यक्तियों को तथा ग्रामीण उद्योगों में ७० व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जहाँ बडे उद्योगों में तेजी मदी का दौर आने पर व्यापक रूप से बेरोजगारी फैलने की संभावना अधिक रहती है, वहीं लघु एव कुटीर उद्योगों में इस तरह के दौर नहीं आते।"[1]

कुरुक्षेत्र, जून १९९३, पृष्ठ – ३५–३६

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन एव वर्तमान अनेक समाजार्थिक समस्याओ का समाधान गॉधी के कुटीर एव ग्रामोद्योग सम्बन्धी आर्थिक चिन्तन मे मौजूद है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि गॉधीजी बडे उद्योगो को पूर्णत नकार दिये थे। उन्होने कहा था सार्वजनिक उपयोग का जो कार्य मनुष्य के श्रम से नहीं हो सकता उसके लिए जरूर ही भारी मशीनो का अपना स्थान रहेगा। किन्तु इन सब का स्वामित्व राज्य के हाथो मे रहेगा, इसको पूरी तरह लोकहित मे प्रयुक्त किया जायेगा।[1]

स्वाभाविक है कि गॉधीजी की अर्थनीति मे यत्रा एव उद्योगो का स्थान साध्य के रूप मे नहीं समाज के व्यापक मानवीय आदर्शो की प्राप्ति के साधन क रूप मे मर्यादित रहा । गॉधी ने मनुष्य को मशीन तत्र की निरकुश शक्ति से बधे हुए उसके चारो ओर चक्कर काटने को बाध्य जड नक्षत्र नहीं माना। उन्होने मशीन पर मनुष्य को हावी रखने का प्रयत्न किया।

आज एक नयी समस्या भारतीय आर्थिक उदारीकरण नीति के चलते उपस्थित होने लगी है और वह है भारतीय अर्थव्यवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियो का लगातार बढता हुआ प्रभाव। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके पीछे ब्रितानी हुकूमत ने भारत को उपनिवेश बनाने के लिए जो कुछ किया आज वही सब कुछ नये रूप मे किन्तु बडे पैमाने पर घटित हो रहा है। तकनीक के मामले मे सबसे बडा प्रश्न उसकी उपयुक्तता का है। कोई आवश्यक नहीं है कि विदेशो के विकास के लिए उपयुक्त तकनीक हमारी परिस्थितियो मे भी उपयुक्त हो। विकास की प्रचलित शब्दावली और सामान्य सरकारी नीतियो मे अक्सर उल्लेख किया जाता है कि बहुराष्ट्रीय निगमे हमारी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता को पूरा कर रही है, जब कि वास्तविकता यह है कि ज्यादातर बहुराष्ट्रीय निगमे ऐसे क्षेत्रो मे काम कर रही है जहाँ अधुनातन तकनीक की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जहॉ आसानी से स्थानीय स्तर पर उपलब्ध हो सकने वाली तकनीक के जरिये अच्छा उत्पादन हो सकता है। इससे साफ जाहिर है कि इन विदेशी कपनियो का बस एक ही मकसद है, वह है यहॉ के परम्परागत उद्योग धन्धों को चौपट करना तथा दूसरे इन देशों की पूजी के शोषण के साथ–साथ अपना बाजार बनाना। लेकिन दुनिया के आज तक का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने देशी उद्योगों के सवर्धन के लिए विदेशी मालों पर प्रतिबन्ध लगाने की नितान्त आवश्यकता होती है, तभी आन्तरिक और देशी उद्योगों के फलने फूलने की सभावना प्रकट होती है। कभी इग्लैण्ड ने इस रास्ते पर चलकर भारतीय मालों पर प्रतिबन्ध लगाकर अपनी अर्थव्यवस्था और उद्योगो को सुदृढ

[1] महादेव देसाई – "इन डिफेंस आफ मशीनरी", यग इण्डिया २२ जून १६४५

किया था। अमरीका जो विश्व का सबसे ताकतवर और तथाकथित समृद्धशाली देश है वह अपनी मुक्त व्यापार नीति से हट गया है और भारत जैसे अनेक देशो के मालो को रोकने के लिए सुपर ३०१ कानून के तहत प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास कर रहा है। ऐसे मे भारत द्वारा उसी के मालो और तकनीक को निर्बाध रूप से देश के कोने–कोने मे पहुँचाने की छूट देना कहाँ तक उचित है।

गॉधीजी द्वारा स्वतत्रता आदोलन के दौरान चलाया गया स्वदेशी आन्दोलन इसी तरह की समस्याओ से उबरने का प्रयास था और आज जब देश लगभग फिर उसी तरह की समस्याओ की भॅवर मे जा फसा है, स्वदेशी आदोलन के अतिरिक्त कोई गति भी नहीं है। इसके लिए देश मे जो देशज प्रौद्योगिकी का ढाचा है उसके और सवर्धन की आवश्यकता है यह दो अन्य दृष्टियो से भी आवश्यक है –

- एक तो देश मे जो करोडो लोग बेकार एव अर्धबेरोजगार हैं, उन हाथो को काम देना।
- दूसरे प्रौद्योगिकी मे आत्मनिर्भरता प्राप्त कर हमे अपना स्वदेशी प्रौद्योगिकी का ढाचा अपने मानव शक्ति और पूजी दोनो के अनुरूप खडा और विकसित करना और उस तकनीक की ओर बढना जो देश की विशाल जनसख्या को उनके घरो मे, उनकी झोपडियो मे उनकी आवश्यकता की पूर्ति हेतु बिना स्पर्धा के उत्पादन का ढॉचा खडा करने मे सहायक हो। अगर इस तरह से उत्पादन प्रौद्योगिकी और आर्थिक तत्र का ढॉचा खडा होगा तो विदेशी मुद्रा और ऋण की आवश्यकता सीमित हो जायेगा और देश पर आये अनेक सकटो का समाधान अपने आप हो जायेगा।

गॉधीजी की आर्थिक क्षेत्र मे समता स्थापित करने हेतु एक प्रमुख देन उनकी ट्रस्टीशिप की अवधारणा भी है। वर्तमान समय मे आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो विचारधाराए हैं – पूजीवादी एव समाजवादी। व्यक्तिगत पूजीवादी विचार उत्पादन के व्यक्तिगत मालकियत का समर्थन करता है, जिसमें व्यक्ति को अपनी क्षमता भर धनोपार्जन करने की पूर्ण स्वतत्रता है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार, माग और पूर्ति का नियम है। इस अर्थव्यवस्था के दुष्परिणाम हैं, प्रतिस्पर्धा, उपनिवेशवाद, धनी और निर्धन के बीच असमानता, शोषण और स्वार्थपरता। लेकिन इसकी एक विशेषता यह है कि व्यक्ति को अपने सामर्थ्य के अनुसार उत्पादन करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार की आर्थिक योजना अमरीका, ब्रिटेन, फ्रास, जापान आदि देशों की है।

दूसरी तरफ समाजवादी व्यवस्था है जो व्यक्तिगत पूजीवादी व्यवस्था का प्रबल विरोधी है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व को ही शोषण का मुख्य कारण मानता है तथा पूजीवादी व्यवस्था का अन्त करने के लिए हिंसा का भी सहारा लेना उपयुक्त समझता है तथा उत्पादन एव वितरण आदि कार्यो को

राज्य को सौंप देता है। ऐसी व्यवस्था मे व्यक्ति के स्वाभाविक उत्पादन की प्रेरणा का अन्त हो जाता है और वह अपनी सपूर्ण स्वतत्रता खोकर मशीन की भाति जीवन व्यतीत करता है। परन्तु इस प्रणाली की एक विशेषता यह है कि यह अर्थ का वितरण व्यापक रूप से पूरे समाज मे करना चाहता है। इस विचार के समर्थक निवर्तमान सोवियत सघ, चीन आदि देश है। गॉधीजी का आदर्श भी समाज मे समता स्थापित करना एव समान वितरण है। लेकिन उनका मानना है कि यह हो पाना सभव नहीं। इसीलिए उन्होने न्यायसगत वितरण की बात की, लेकिन इसके लिए 'समाप्त करने' या व्यक्तिगत पूजी को जबर्दस्ती हडपने की आवश्यकता नहीं इसी के लिए उन्होने ट्रस्टीशिप की अवधारणा दी। गॉधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूजीवाद एव समाजवाद से भिन्न होते हुए भी एक व्यवहारवादी सिद्धान्त है जिसमे दोनो की अच्छाइयो को अपनाया गया है। जहॉ पूजीवादी व्यवस्था के व्यक्तिगत स्वामित्व एव पूजी उत्पन्न करने के व्यक्ति के नैसर्गिक गुण को स्वीकार किया गया है तो दूसरी तरफ समाजवादी व्यवस्था के समाज एव परलोकवादियो का त्यागमय जीवन भी इसमे आ जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूजीपति पूजी कमाए यदि उनमे योग्यता और क्षमता है तो उसका प्रयोग धन कमाने में करे और उसको अपने पास रखे किन्तु इस धन का प्रयोग वे समाज के कल्याण के लिए करें। उसके द्वारा कमाया गया धन उसके पास ट्रस्ट के रूप मे रहना चाहिए। उन्हे उसमे से केवल अपने आवश्यक प्रयोग के लिए ही सीमित धन लेना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन लेना गॉधी के अनुसार चोरी है। उनके अनुसार पूजी और श्रम में किसी प्रकार के सघर्ष की आवश्यकता नहीं है, दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित है। असली बात यह है कि पूँजीपति श्रमिकों का शोषण न करें। इस प्रकार गाँधीजी ने पूँजीवाद और समाजवाद के बीच अद्भुत सामजस्य स्थापित कर सामाजिक और आर्थिक चिन्तन को बहुत बडी देन दी। वैसे इस ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को केवल सम्पत्ति पर लागू न कर बुद्धि, श्रम, सत्ता सस्कृति जो एक तरह का धन या सम्पत्ति ही है समाज की थाती समझकर सामाजिक हित में प्रयोग करना चाहिए। बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि का, श्रमिको को अपनी श्रमशक्ति का, सत्ताधारियों को अपनी सत्ता का, सस्कृति वालों को अपनी सस्कृति का उपयोग केवल अपने निजी कल्याण के लिए या दूसरे के शोषण के लिए ही नहीं करना चाहिए जैसा कि आज विकसित देश "बौद्धिक सम्पदा" (ट्रिप्स)[1] कानून के तहत अविकसित एव विकासशील देशों

---

[1] गाँधी विचार – जुलाई–दिसम्बर (१९९२), अंक–२ पृष्ठ ६५–६६
TRIPS - Trade related intellectual property rights.
(बौद्धिक सपत्ति सम्बन्धी व्यापार के अधिकार)
"इस नियम के अनुसार बुद्धि या बौद्धिकता को अन्य सपत्तियों की तरह एक सपत्ति मानना। दूसरे अन्य संपत्तियों की भांति ही उसे खरीदने बेचने अर्थात् व्यापार करने योग्य बनाना।"

को नया नया कानन बनाकर बौद्धिक शोषण कर रहे हैं बल्कि उसे समझना चाहिए कि सामाजिक स्थिति के परिणामस्वरूप ही वह थाती उनके पास जमा हो पायी है। उसका अपने को स्वामी न मानकर समाज कल्याण हेतु उसका विनियोग करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं गॉधीजी द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ करने के सदर्भ मे लगभग पाच छ दशक पूर्व जो विचार व्यक्त किये गये थे निसदेह वे आज भी दयनीय अवस्था से गुजर रही भारतीय अर्थ व्यवस्था को सुदृढ करने हेतु अपनी उद्देश्यपरक प्रासगिकता को सकारात्मक रूप से चरितार्थ करते हैं। उनके ट्रस्टीशिप, स्वदेशी, कुटीर उद्योग, यत्रीकरण एव उद्योगीकरण से सम्बन्धित विचारो मे वर्तमान समाजार्थिक समस्याओ से मुक्ति का मत्र समाहित है।

डॉ राम मनोहर लोहिया सामाजिक चिन्तक, राजनीतिक विचारक तथा भविष्य द्रष्टा थे, लेकिन उनका चिन्तन राजनीति तक कभी सीमित नहीं रहा। सस्कृति, दर्शन, साहित्य इतिहास भाषा आदि के सम्बन्ध मे भी उनके मौलिक विचार थे। व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता, समन्वय और सतुलन उनकी चिन्तन धारा की विशेषता थी। उनकी विचारधारा देश काल की परिधि से बधी नहीं थी। विश्व की रचना और विकास के सम्बन्ध मे उनकी अनोखी व अद्वितीय दृष्टि थी।

डॉ लोहिया के चिन्तन में अनेकता के दर्शन होते हैं। एक ओर उनका दर्शन ध्वसात्मक है तो दूसरी ओर रचनात्मक भी। एक ओर यदि वे गृह–व्यवस्था से लेकर विश्व–व्यवस्था तक के प्रति विद्रोह कर उसे ध्वस्त करते हुए प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर प्रत्येक स्तर की व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने में भी नहीं चूकते। वे कुरूप त्रस्त, दलित, भूखे और नगे वर्तमान को इसीलिए ध्वस्त करना चाहते हैं कि उसका स्थान एक सुन्दर सुखी और सम्पन्न भविष्य ले सके। लोहिया के दर्शन का ध्वसात्मक पहलू उनके सृजनात्मक पहलू का एक अभिन्न अग है। इस सदर्भ में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके द्वारा प्रतिपादित राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि व्यवस्थाओ के मानचित्र इसके ज्वलत प्रमाण हैं। लेकिन उनकी कुछ आदर्श योजनाएँ कुछ लोगों को अव्यवहारिक और असम्भव सी प्रतीत हो सकती है जैसे विश्व–सरकार, सयुक्त राष्ट्र–संघ का पुनर्गठन, विश्व–समाजवाद का नवदर्शन, भूमि का पुनर्वितरण, अन्तर्राष्ट्रीय जमींदारी उन्मूलन, अन्तर्राष्ट्रीय जाति–प्रथा उन्मूलन सम्बन्धी उनकी आदर्श कल्पनाएँ।

उनकी कुछ विचारधाराएँ कुछ लोगों को विरोधाभास से भी परिपूर्ण प्रतीत हो सकती है। क्योकि एक ओर वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का प्रतिपादन करते हैं तो दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतत्रता का भी। एक ओर खर्च पर सीमा लगाकर वे जीवन को सरल बनाना चाहते हैं तो दूसरी

ओर वे सम्पन्नता और आनन्द को भी आवश्यक मानते हैं। एक जगह वह यह कहते हैं कि अधिकार की भावना के आए बिना कर्त्तव्य की भावना नहीं आ सकती। इसी प्रकार उनका मत था कि **सिद्धान्त दीर्घकालीन कार्यक्रम है और कार्यक्रम अल्पकालीन सिद्धान्त, धर्म दीर्घ कालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म**। रूसो के समान उनकी ऐसी कई उक्तियाँ विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती हैं। उन्हे समझने के लिए गहन दृष्टि की आवश्यकता है। डॉ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन की यह विशेषता थी कि वे वर्तमान की राजनीति को सुदूर से और सुदूर की राजनीति को वर्तमान से जोडते थे।

डॉ लोहिया बहुमुखी क्रान्तिकारी दर्शन के जनक थे। अन्याय का तीव्रतम प्रतिकार उनके कर्मो व सिद्धान्तो की बुनियाद रही है। ससदीय राजनीति मे तो वे क्रान्तिकारी थे ही, किन्तु ससद के बाहर की राजनीति को वे उससे भी अधिक तीव्र करना चाहते थे। वे जानते थे कि क्रान्ति के एक पहलू को पकडना क्रान्ति का विरोध करना है। उनके कठोर कर्म, व्यावहारिक राजनीति और तेज आन्दोलनो से क्रमश यह प्रतिपादित हुआ है कि उनमे न केवल देश की जटिल समस्याओ को समझने की अपूर्व क्षमता थी, वरन देश को सही नेतृत्व देने वाला उनका समर्थ व्यक्तित्व भी था।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की उनमे गहरी समझ थी और उनके बारे मे उन्होने मौलिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए हैं, वस्तुत देश के समाजवादी चिन्तन में उनका मौलिक योगदान स्वीकार किया जायेगा। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि डॉ लोहिया ने देश के युगो से जकडे जनसमाज और निष्क्रिय तथा निष्फल राजनीति को अपने चिन्तन और कर्म से गति और दिशा प्रदान करने का अथक प्रयत्न किया है। उन्होने देश के सामने, भाषा, जाति–धर्म, दल, ससदीय पद्धति, जनान्दोलन, मिली–जुली सरकार तथा चिन्तन सत्याग्रह आदि ऐसे मौलिक तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त रखे हैं, जिनके बारे मे पहले शका और सन्देह का वातावरण रहा, पर बाद मे सिद्ध हुआ कि उनकी दृष्टि देश के सन्दर्भ में कितनी पैनी है और उनका कर्म कितना प्रखर है। डॉ लोहिया ने वर्तमान व्यवस्था पर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सास्कृतिक, धार्मिक आदि सभी पहलुओं से प्रहार किया।

राष्ट्रीय जीवन के उत्थान के लिए डॉ लोहिया ने साम्प्रदायिकता, जाति–प्रथा, नर–नारी असमानता, अस्पृश्यता, रग–भेद नीति तथा इसी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों पर गहरा प्रहार किया। डॉ लोहिया की सामाजिक साधना ने राष्ट्रीय जीवन के मस्तिष्क और आत्मा का विकास किया है। उन्होंने जिस सामाजिक समता का प्रतिपादन किया है वह जनस्पर्शी और क्रान्तिकारी है। यह डॉ. लोहिया ही थे जिन्होने ७००–८०० वर्ष पुरानी दासता को इन सामाजिक विषमताओं की उपज बताया।

उनका मत था कि भारतीय समाज को जब तक सामाजिक समता प्राप्त नहीं होती, तब तक आर्थिक समता कोई अर्थ नहीं रखती। उनकी दृष्टि मे भारतीय समाजवाद का सामाजिक समता से घनिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आर्थिक समता की ओर उन्होने कम ध्यान दिया।

डॉ लोहिया ने आर्थिक क्षेत्र मे देश के समक्ष ठोस सुझाव प्रस्तुत किये। भारत मे व्याप्त आय–विषमता, मूल्य–वृद्धि, भ्रष्टाचार वर्ग–व्यवस्था, जमींदारी आर्थिक केन्द्रीकरण और विलासिता को वे जड से उखाड फेकना चाहते थे। अन्न एव भू–सेना तथा छोटे यत्रो की योजना एक ओर उनकी मौलिक प्रतिभा की परिचायक है और दूसरी ओर उनकी आत्म स्वावलम्बन की भावना को भी व्यक्त करती है। कुछ विचारको को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि आय की सीमा बाधना, मूल्य को निश्चित करना अथवा व्यय पर प्रतिबन्ध आदि की उनकी नीतिया अव्यवहारिक हैं। किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इन नीतियो के कार्यान्वयन मे कठिनाइयॉ अधिक आयेगी।

डॉ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन मे चौखम्भा–योजना का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने चौखम्भा योजना प्रस्तुत करके राजनैतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जो व्यक्ति की राजनैतिक स्वतत्रता का परिचायक है। डॉ लोहिया समाजवाद को प्रजातत्र के बिना अधूरा और अपर्याप्त मानते थे। दो खम्भो–केन्द्र एव प्रान्त वाली सघात्मक व्यवस्था को अपर्याप्त माना और इसीलिए उन्होने अपनी चौखम्भा योजना के अन्तर्गत ग्राम, मण्डल, प्रान्त और केन्द्र इन चार समान प्रतिभा और सम्मान वाले खम्भे में शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया। इस प्रकार लोहिया का विश्वास था कि देश मे राजनीतिक एव आर्थिक विकेन्द्रीकरण द्वारा ही नागरिको का अपने स्थानीय शासन और ससाधन जुटाने से ही देश का उत्थान किया जा सकता है। विकेन्द्रीकरण से ही सभी नागरिक अपने भाग्य के निर्माता बन सकते हैं। चौखम्भा राज्य में ही सभी नागरिकों की प्रजातात्रिक भागीदारी सभव हो सकेगी।

डॉ लोहिया के दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसमें सतुलन और सम्मिलन का समावेश है। डॉ. लोहिया को भारतीय सस्कृति से न केवल अगाध प्रेम था, बल्कि उसकी आत्मा को उन्होंने हृदयगम किया था। उन्होंने 'अद्वैतवाद', 'ब्रह्मज्ञान' की जिस तरह सही व्याख्या की है, उसी तरह राम, कृष्ण, और शिव की भी क्रमश सीमित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व के प्रतीक के रूप में आराधना की है। उन्होंने अपनी सस्कृति को एकता और समता का मूल बतलाया है। उनका विश्वास था कि पश्चिमी विज्ञान और भारतीय अध्यात्म का सच्चा मिलन तभी हो सकता है जब दोनो

को इस प्रकार सशोधित किया जाय कि वे एक दूसरे के पूरक बनने मे समर्थ हो सके। वे उस समाजवाद को एकागी और अपर्याप्त समझते थे जो अध्यात्मवाद और भौतिकवाद मे से किसी एक का पुछल्ला मात्र बनकर रह जाता है। डॉ लोहिया मे भारत की आध्यात्मिकता और पश्चिम की कार्य क्षमता का सम्मिश्रण है। उनका विश्वास था कि "सत्य, शिवम् सुन्दरम् के प्राचीन आदर्श और आधुनिक विश्व के "समाजवाद स्वातत्र्य और अहिंसा" के त्रिसूत्रीय आदर्श को इस रूप मे रखना होगा कि वे एक दूसरे का स्थान ले सके। वहीं मानव जीवन का सुन्दर सत्य होगा और उस सत्य को जीवन मे प्रतिष्ठित करने के लिए मर्यादा–अमर्यादा का, सीमा असीमा का बहुत ध्यान रखना होगा।

डॉ लोहिया के मतानुसार वही व्यक्ति समाज को सही दिशा दे सकता है जिसको भूत की अनुभूति हो, वर्तमान का ज्ञान हो और भविष्य का सपना हो। डॉ लोहिया मे ये तीनो बाते चरमावस्था मे विद्यमान थीं। वह युगद्रष्टा थे, कर्मयोगी थे **"निरन्तर सघर्ष उनका बाना था"। "मानेगे नहीं पर मारेगे नही"** उनका नारा था। जब तक पृथ्वी पर अन्याय रहेगा तब तक उस अन्याय से लडने की प्रेरणा डॉ लोहिया ने दी है। अन्याय के मामने झुकना अन्याय को बढ़ाना है। इसलिए अन्याय का मुकाबला करना ही मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है–यह सीख लोहिया जी बराबर देते रहे।

डॉ लोहिया की चिन्तन धारा देश–काल की परिधि मे कभी भी नहीं बधी। जिस कार्य को उन्होने एक राष्ट्र मे करना चाहा था। वही कार्य वे सम्पूर्ण विश्व मे करना चाहते थे। एक स्थान विशेष की राजनीति को वे सदैव सम्पूर्ण विश्व की राजनीति से जोडते थे। भारत की जाति व्यवस्था के यदि वे विरोधी थे तो वे अन्तर्राष्ट्रीय जाति–प्रथा को भी विनष्ट करना चाहते थे। जमींदारी को यदि वे भारत से समाप्त करना चाहते थे तो वे विश्व से भी जमींदारी प्रथा को समाप्त करना चाहते थे। उनके विचार में यह एक अन्तर्राष्ट्रीय जमींदारी ही है जिसके अनुसार साइबेरिया या आस्ट्रेलिया या केनेडा के बहुत बड़े हिस्से मे एक वर्गमील पर प्राय एक, केलिफोर्निया में एक वर्गमील पर ७ या ८ व्यक्ति और भारत में लगभग ३५० व्यक्ति रहते हैं। इसके लिए राष्ट्रों के बीच भूमि के पुनर्वितरण की उन्होंने चर्चा की । भले ही उनका यह विचार आज की परिस्थितियों मे एक कल्पना मात्र हो, किन्तु मानव को क्या ऐसे महान आदर्श के लिए आशान्वित न होना चाहिए।

डॉ लोहिया का दर्शन विश्व–शान्ति का सच्चा प्रतीक है। नि शस्त्रीकरण, विश्व–विकास समिति, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद सयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन और विश्व सरकार की उनकी योजनाएँ उन्हें विश्व नागरिक और उनके दर्शन को विश्व–दर्शन सिद्ध करती हैं। डॉ लोहिया के मत में साम्यवाद और

पूँजीवाद दोनो मे राजनैतिक और आर्थिक केन्द्रीकरण है और दोनो मे जन सस्कृति स्थूल और रूढिग्रस्त होती जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था सस्कृति की और साम्यवादी व्यवस्था 'रोटी की झूठी प्रतीक है। विश्व के वास्तविक प्रश्न हल करने की शक्ति किसी मे नहीं है। "सारे मानवो को पेट भर अन्न मन की आजादी की प्यास और 'युद्ध बन्दी की तीन प्रमुख समस्याओ का हल न रूसी गुट के पास हैं और न अमेरिकी। अत पूँजीवाद और साम्यवाद दोनो एक दूसरे के विरोधी होकर भी दोनो एकागी और हेय हैं। आधुनिक प्रजातत्रो और साम्यवाद की इस अपर्याप्तता के कारण ही उन्होने एक तृतीय सभ्यता की योजना प्रस्तुत की।

भारत की समग्र राजनीति के अन्तिम पाँच व्यापक लक्ष्यो—समता, अहिंसा विकेन्द्रीकरण, लोकतत्र और समाजवाद को साकार (ठोस) रूप प्रदान करने का श्रेय डॉ लोहिया को है। आय का निश्चित अनुपात १ १० रखकर उन्होने समता को साकार रूप दिया। इसी प्रकार छोटे यत्र और चौखम्भा—योजना प्रस्तुत कर विकेन्द्रीकरण को ठोस रूप दिया है। चौखम्भा राज्य, सविनय अवज्ञा वाणी—स्वतत्रता और कर्म—नियत्रण के सिद्धान्त प्रतिपादित कर उन्होने जन—इच्छा को महत्व दिया है और लोकतत्र के व्यापक आदर्श को साकार रूप प्रदान किया है। वर्ण और वर्ग की व्यापक एव यथार्थवादी व्याख्या द्वारा उन्होने वर्णहीन और वर्गहीन समाजवादी व्यवस्था का साकार रूप प्रस्तुत किया है। जीवन का कोई भी पहलू शायद बचा हो, जिसे डॉ लोहिया ने अपनी मौलिका—प्रतिभा से स्पर्श न किया हो। मानव—विकास के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी विचारधारा सबसे भिन्न और मौलिक रही है।

डॉ लोहिया के विचारों को हम पर्याप्त रूप मे व्यावहारिक स्तर पर अवतरित होते देख रहे हैं। भले ही इस अवतरण की पृष्ठ—भूमि मे गाँधीवाद, सविधान और सामाजिक चेतना की शक्ति हो, किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि डॉ लोहिया के लड़ाकू समाजवादी आन्दोलन ने जन—मानस पर गहरा प्रभाव डाला है। देश में सामाजिक न्याय का जो आन्दोलन चलाया जा रहा है और पिछड़ी जातियों एव महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में आरक्षण दिया जा रहा है उसके प्रेरणा स्रोत डॉ लोहिया ही रहे हैं। शरणार्थियों का आवागमन और बगलादेश का अभ्युदय तो उनकी दूर—दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है। संविद सरकारों का अभ्युदय और पतन भी डॉ लोहिया की यादगार है।

प. दीनदयाल उपाध्याय का समाजवादी—दर्शन पश्चिम के सभी समाजवादी दर्शनों से श्रेष्ठ है क्योंकि यह एक पूर्ण समाज—दर्शन है। वे अपने को एकात्म—मानववाद के नाम से अभिहित करते हैं क्योकि यह समग्र जीवन का अध्ययन करता है। एकात्म मानववाद जीवन के किसी भी पक्ष की

अवहेलना नहीं करता । यह एक ही साथ शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र विश्व तथा धर्म अर्थ, काम एव मोक्ष का अध्ययन करता है। उनका कथन है कि हिन्दू सस्कृति परस्पर–पूरकता के सिद्धान्त पर आधारित हैं इसलिए यह सस्कृति जीवन–सघर्ष को अनिवार्य नहीं मानती। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी शरीर के विभिन्न अगों मे विभिन्नता होते हुए भी परस्पर सहयोग पाया जाता है उसी प्रकार व्यक्ति एव समाज के विभिन्न अगो मे विभिन्नता होते हुए भी लक्ष्य मे एकता पाई जाती हैं। एकात्म–मानववाद का उद्देश्य इस लोक मे मानव जीवन को उसकी समग्रता मे समृद्ध करना है।

उपाध्याय जी धर्म का अर्थ रिलिजन मजहब या पथ नहीं मानते। वे धर्म परिभाषित करते हुए कहते हैं कि धर्म वह है जो समाज को आपस मे बाधता है। जिस व्यवस्था के कारण कोई वस्तु टिके वह धर्म है। धर्म भेदकारी अथवा दमनकारी नहीं होता। यह समाज मे व्याप्त द्वेष घृणा, विभेद तथा सघर्ष की स्थिति को रोकता है। यह समाज मे सामन्जस्य स्थापित करता है। इसलिए उपाध्याय जी कहते हैं कि व्यक्ति और समाज, राज्य और व्यक्ति, तथा राष्ट्र–राष्ट्र के बीच सामन्जस्य स्थापित करने का आधार धर्म प्रस्तुत करता है।

उपाध्याय जी का कथन है कि राज्य सम्प्रदाय या मजहब से निरपेक्ष हो सकता है परन्तु धर्म से निरपेक्ष कदापि नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जो धर्म समाज एव सृष्टि का आधार है, उससे निरपेक्ष होने की बात करना आत्मघात करने के समान है। धर्म निरपेक्षता वैसे ही निरर्थक है, जैसे तापविहीन अग्नि। उनका कथन है कि हिन्दू चिन्तकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरूषार्थ चतुष्टय से समुचित समग्र जीवन का दर्शन प्रस्तुत किया है जिसमें सभी दृष्टियो से न केवल मनुष्य की सन्तुष्टि का प्रावधान है अपितु सपूर्ण मानवीय सबधों का आधार भी है। इन चार प्रकार के पुरूषार्थो से युक्त पूर्ण मानव ही एकात्म मानव दर्शन का केन्द्र–बिन्दु है। उपाध्याय जी व्यक्ति के समान समाज के विकास के लिए भी चारों पुरूषार्थो की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समष्टि के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष होते हैं।

उपाध्याय जी राष्ट्र को एक आध्यात्मिक वस्तु मानते थे। उनका कथन था कि राष्ट्र का निर्माण देश, सकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्चय से होता है। जिस प्रकार व्यक्ति की आत्मा होती है उसी प्रकार राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है। उपाध्याय जी इसे "चिति" नाम से अभिहित करते हैं। 'चिति" ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। "चिति" के प्रकाश से ही राष्ट्र का विकास होता है। "चिति" जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति में मातृभूमि के प्रति परमसुख की भावना के रूप में रहती है, जब तक

चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र का अभ्युदय होता रहता है। इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र सगठित होता है। राष्ट्र को चेतना प्रदान करने वाली शक्ति एव ऊर्जा उसका "विराट है। किसी राष्ट्र के जीवन मे विराट का वही स्थान है, जो शरीर मे प्राण का। दीनदयाल जी कहते थे कि किसी राष्ट्र में शक्तिशाली विराट् के रहने से ही लोकतत्र सफल हो सकता है तथा विभिन्नता के द्वारा पारस्परिक सघर्ष उत्पन्न नहीं होता अपितु राष्ट्र के लोग एक दूसरे से सहयोग करते हैं।

दीनदयाल जी की राज्य की कल्पना आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य से कहीं उच्चतर कल्पना थी। स्वतत्रता के बाद के युग मे वे ही पहले राजनैतिक नेता थे, जिन्होने यह स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि मानव को सर्वाधिक आवश्यकता है धर्म राज्य की, न कि बहुमत के शासन की। राज्य को धर्म के अधीन रहना चाहिए क्योकि सार्वभौमिकता धर्म की ही है। धर्म ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। धर्म ही राज्य का प्राण है। लिकन ने लोकतत्र को "जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन' कहा है। यहाँ "का" स्वतत्रता का बोधक है, "द्वारा" लोकतत्र का तथा "के लिए' धर्म का। दीनदयाल जी का कथन है कि बहुमत के द्वारा यह निर्णय हो सकता है कि कौन सरकार बनाएगा, परन्तु बहुमत द्वारा सच्चाई का निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए वे कहते हैं कि राज्य को जनराज्य होने के साथ–साथ उसे धर्म–राज्य भी होना चाहिए। धर्म–राज्य ही वास्तविक जनराज्य है। धर्म–राज्य की तुलना गाँधीजी के रामराज्य से हो सकता है। गॉधी का राम–राज्य आदर्श जनतत्रीय राज्य–व्यवस्था है। यह साम्यवादी शासन नहीं है। इसमे जन–जन का कल्याण होता है। उपाध्याय जी कहा करते थे कि धर्म–राज्य के द्वारा ही लोकतत्र को एक नया जीवन मिल सकता है।

दीनदयाल जी ने हिन्दू एव मुस्लिम समस्याओं का समाधान करते हुए कहा कि जिस दिन भारतीय मुसलमान राष्ट्रीयता के साथ अपने को एक रूप कर लेंगे उसी दिन इस समस्या का समाधान हो जाएगा। वे उस समस्या का कारण धार्मिक नहीं, राजनैतिक मानते हैं। उनका कथन है कि राष्ट्र में कोई अल्पमत नहीं होता, इसलिए अल्पसख्यक भी नहीं हो सकता। शरीर मे एक नाक दो आखे होती हैं, किन्तु नाक अल्पसख्यक और आखे बहुसख्यक हैं। ऐसा हम नहीं कहते। वे दोनो एक ही शरीर के अवयव होते हैं। उपाध्याय जी एक ही सस्कृति के पक्षधर हैं। उनका कथन है कि मुसलमानों के सामने कबीर, जायसी, रसखान के आदर्श हैं। उनके लिए इन कवियों का जीवन अनुकरणीय है। उनके लिए राष्ट्र–भक्ति का केन्द्र भारत ही होना चाहिए। यही उनके लिए बदनीय है। इसी मार्ग पर चलने से हिन्दू एव मुसलमान की समस्या का समाधान सभव है।

उपाध्याय जी ने कहा है कि हिन्दू संस्कृति ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष की कभी भी उपेक्षा

नहीं की है इसलिए जीवन मे अर्थ का विशेष महत्व है। वे अर्थनीति मे स्वदेशी भावना को गॉधी की तरह महत्व देते थे। उनका कथन था कि पश्चिम के आर्थिक दृष्टिकोण एकागी हैं। पूजीवाद का बल केवल उत्पादन पर है। समाजवाद या साम्यवाद केवल वितरण की प्रणाली है उत्पादन की नहीं। इसलिए पूजीवाद एव साम्यवाद दोनो एकागी हैं। दोनो प्रणालियॉ उपभोग को ही मानव–जीवन का लक्ष्य मानती हैं। उपाध्याय जी इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था को अमर्यादित एव अप्राकृतिक मानते हैं। उनके अनुसार आर्थिक नीति का आधार शोषण नहीं दोहन होना चाहिए। वे सयमित उपभोग के पक्षधर थे। गॉधीजी भी इच्छाओ के परिसीमन मे विश्वास करते थे।

दीनदयाल जी का कथन था कि पूजीवाद और समाजवाद दोनो अर्थ और काम को ही जीवन का एक मात्र पुरूषार्थ मानते हैं। दोनो व्यवस्थाओ मे एकागी दृष्टि से विचार हुआ है। इन व्यवस्थाओ मे मनुष्य का अमानवीकरण किया गया है। मनुष्य के समग्र रूप का विचार किसी भी व्यवस्था मे नहीं किया है। इसलिए उपाध्याय जी कहा करते थे कि दोनो व्यवस्थाओ ने मानवता के साथ घोर अपराध किया है। इन दोनों ने मनुष्य को यत्र की तरह माना है। अत वे दोनो व्यवस्थाओ का खण्डन करते हैं तथा एकात्म मानववाद का प्रतिपादन करते हैं। यह व्यवस्था सपूर्ण मानव को इकाई मानकर चलती है। इस व्यवस्था में धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष का विशेष महत्व है।

उपाध्याय जी राजनीतिक लोकतत्र के साथ–साथ आर्थिक लोकतत्र को भी आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार विकेन्द्रीकरण लोकतत्र का प्राण है। वे पूजीवादी एव साम्यवादी अर्थव्यवस्था को लोकतत्र–विरोधी मानते थे क्योकि दोनो मे अर्थ का केन्द्रीकरण हो जाता है। लोकतत्र वहीं सफल हो सकता है जहाँ सत्ता और अर्थ का विकेन्द्रीकरण हो। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था आर्थिक लोकतत्र का अनिवार्य परिणाम है। वे कहते थे कि साम्यवादी व्यवस्था मे शोषको का प्राचीन वर्ग तो समाप्त हो जाता है किन्तु नौकरशाही का एक नया शोषक–वर्ग उसके स्थान पर उत्पन्न हो जाता है। इसलिए दीनदयाल जी कहा करते थे कि मानव की गरिमा विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

उपाध्याय जी मशीन को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। मशीन मानव की सहायिका है। यह उसका स्थान नहीं ले सकती। उनका कथन था कि यदि मशीन मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिनकी सिद्धि के लिए यत्र का आविष्कार हुआ। यही गाँधीजी का भी मत है। दीनदयाल जी गॉधीजी की तरह लघु एव कुटीर उद्योगों के विकास के पक्षपाती थे। उनका कथन था कि लघु उद्योगों के विकास से बेकारी की समस्या का समाधान होगा

एव स्वदेशी की भावना मजबूत होगी। वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे श्रमिको के राष्ट्रीयकरण उद्योगो के श्रमीकरण एव देश के औद्योगिकरण के पक्षपाती थे। वे पूजी औ॰ श्रम मे कोई आत्यान्तिक भेद नहीं मानते थे।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि महात्मा गॉधी डॉ लोहिया और प दीनदयाल ने पाश्चात्य सिद्धान्त समाजवाद एव पूँजीवाद के विकल्प के रूप मे आध्यात्मिक समाजवाद (रामराज्य), लडाकू समाजवाद (साकल्पिक राज्य) तथा सास्कृतिक समाजवाद (धर्मराज्य) को प्रस्तुत किया है। इन तीनो का सम्मिलित रूप ही भारत का लोकतत्री समाजवाद है जो समस्त विश्व के झझावातो से भारत की सभृद्धि और सुरक्षा कर सकता है तथा विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी मार्गदर्शक का काम कर सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

सदर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) गाधी जी की निजी रचनाएँ-सग्रह आदि

गॉधी, एम.के.

अहिंसा और सत्य (स श्रीराम नाथ सुमन) उत्तर प्रदेश गॉधी स्मारक निधि सेवापुरी वाराणसी–१९६५

आत्मसयम अनीति की राह पर सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नयी दिल्ली १९५१

अहिसक समाजवाद की ओर (स भारतन् कुमारप्पा) नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद, १९५९

द रिमूवल ऑफ अनटचेब्लिटी नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद–१९५९

दि सलक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गॉधी, (स श्रीमन्नारायण) नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद–१९६८

धर्म नीति, सस्ता साहित्य मण्डल नयी दिल्ली–१९५१

नान वायलेन्स इन पीस एण्ड वा, नव जीवन अहमदाबाद १९४४

नीतिधर्म दर्शन (स श्रीरामनाथ सुमन) उत्तर प्रदेश गॉधी स्मारक निधि सेवापुरी, वाराणसी–१९६८

पचायत राज (स आर के प्रभु) नवजीवन, अहमदाबाद १९६१

ब्रह्मचर्य भाग–१ सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नयी दिल्ली–१९६२

माई रिलीजन नवजीवन, अहमदाबाद १९५५

महात्मा गाँधीज स्पीचेज एण्ड रायटिंग्स एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९३४

सत्य ही ईश्वर है (स आर के प्रभु) नवजीवन, अहमदाबाद, १९५७

सत्याग्रह (स रामनाथ सुमन), उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारक निधि, सेवापुरी, वाराणसी, १९६७ एव नवजीवन, १९५१

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नयी दिल्ली, १९८४

समाज सुधार समस्या और समाधान, (स श्रीराम सुमन), गॉधी साहित्य प्रकाशन–इलाहाबाद– १९६६

		सोशलिज्म ऑफ माई कन्सेप्शन भारतीय विद्याभवन बम्बई–१९५७
		सरक्षकता का सिद्धान्त (स रवीन्द्र केल्लेकर) नवजीवन अहमदाबाद–१९६०
		हिन्दू धर्म, नवजीवन, अहमदाबाद–१९५०
		हिन्द स्वराज्य आ॒र इण्डि ,न होम रूल, नवजीवन अहमदाबाद १९६२

(ख) गाधी जी द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ

गॉधी, एम के०		इण्डियन ओपिनियन, नेटाल साउथ अफ्रीका, १९०३–१९१४
		मगल प्रभात (सकलन) नवजीवन, अहमदाबाद १९५८
		यग इण्डिया (गॉधीजी का साप्ताहिक अग्रेजी विचार पत्र) १९१९–१९३२, नवजीवन, अहमदाबाद
		हरिजन सेवक, (गॉधीजी का अग्रेजी साप्ताहिक विचार पत्र)
		हिन्दी नवजीवन (हिन्दी साप्ताहिक विचार पत्र), नवजीवन अहमदाबाद–१९१९
		हरिजन (अग्रेजी साप्ताहिक विचार पत्र) नवजीवन, अहमदाबाद एव पूना–१९३३–१९४९

(ग) गाधी जी पर लिखित अन्य साहित्य व सहायक साहित्य

अग्रवाल, ए.एन		गॉधीयन कान्स्टीट्यूशन फार फ्री इण्डिया, इलाहाबाद, १८४६
ओमप्रकाश		प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, लेख–वाइला ईस्टर्न लिमिटेड असारी रोड, दरियागज, नयी दिल्ली–१९८६
उपाध्याय, पं बलदेव	.	वैदिक साहित्य और सस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१
कप्पन मर्सी (सं)	:	गॉधी एण्ड सोश्यल एक्शन टुडे स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ग्रीन पार्क, एक्सटेन्सन, नयी दिल्ली, १९९०
कृ॰नानी, जे बी.	.	गाँधीयन थाट, गाँधी स्मारक निधि, नयी दिल्ली, १९६१
	.	गाँधी हिज लाइफ एण्ड थाट, नयी दिल्ली पब्लिकेशन्स डिवीजन गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, १९७०
धर्माधिकारी दादा	.	सर्वोदय दर्शन, सर्वसेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, (सातवा सस्करण) १९८३

दत्त, धीरेन्द्र मोहन — महात्मा गाँधी का दर्शन, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना बिहार १९७३

नारायण जयप्रकाश — ए प्ली फार रिकन्सट्रक्शन आफ इण्डियन पौलिटी, अखिल भारतीय सर्वसेवा सघ प्रकाशन, वाराणसी १९५९

पाठक, दिवाकर — भारतीय नीतिशास्त्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना १९८२

पाण्डेय(मेजर) जनार्दन — सर्वोदय का राजनीति दर्शन, जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ पटना, बिहार १९८६

पाठक, पी डी — राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अरूण प्रकाशन, ग्वालियर, म प्र १९८२

पाण्डेय, सगम लाल — गॉधी का दर्शन दर्शनपीठ इलाहाबाद १९८५

समाजदर्शन की एक प्रणाली, एशिया प्रकाशन ६, पी सी बनर्जी रोड इलाहाबाद–२, प्रथम सस्करण–१९७१

प्रसाद ईश्वरी — प्राचीन भारतीय सस्कृति कला राजनीति धर्म दर्शन मीनू पब्लिकेशन्स म्योर रोड, इलाहाबाद

बन्दोपाध्याय, जे — सोश्यल एण्ड पोलिटिकल थाट आफ गॉधी, नयी दिल्ली एलाइड पब्लिशर्स १९६९

बोस, एस एन — स्टडी इन गॉधीज्म इडियन एसोशियेटेड पब्लिशिग कम्पनी लि, कलकत्ता १९४७

बोस, सुभाषचन्द्र — मार्डन नेशन विल्डर, पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली, १९७५

भावे, विनोबा — क्रान्ति दर्शन, सर्वसेवा सघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी–१९६७

सर्वोदय और साम्यवाद, सर्वसेवा सघ प्रकाशन, वाराणसी–१९६८

मेकेन्जी, जे एस हिन्दी
सिन्हा, अजितकुमार (अनु.), — समाज दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६२

मशरूवाला, कि.घ — गाँधी और साम्यवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर (अहमदाबाद) १९६६

भावी भारत की एक तस्वीर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद १९५६

महादेव प्रसाद अनुवादक,
शास्त्री विष्णुकान्त — महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी चण्डीगढ़, तृतीय सस्करण, १९८३

देसाई महादेव	महादेव भाई की डायरी, अनु॰ चौधरी रामनारायण सर्व सेवा सघ प्रकाशन वाराणसी १९६८
मैत्रा सुशील कुमार	दि एथिक्स ऑफ दि हिन्दू (तृतीय सस्करण) यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता १९६३
मिश्रा, जयशकर	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास बिहारी ग्रन्थ अकादमी पटना चतुर्थ सस्करण, १९८६
राधाकृष्णन एस	रिलीजन एण्ड सोसायटी लन्दन १९४७
रसेल बी	इडिविडुवल एण्ड एथारिटी, लन्दन १९४७
लाल, बी के	कनटमप्रेरी इण्डियन फिलासफी, सुन्दर लाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना
लोहिया, राममनोहर	मार्क्स गॉधी एण्ड सोशलिज्म, नवहिन्द पब्लिकेशन्स हैदराबाद १९६३
वर्मा, वेदप्रकाश	महात्मा गॉधी का नैतिक दर्शन, इन्दू प्रकाशन ८१३ रूपनगर दिल्ली १९७९
वर्मा, वी पी	पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गॉधी, सर्वोदय लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, एजुकेशनल पब्लिशर्स, आगरा १९६५
श्रीवास्तव, जगदीश सहाय	समाज दर्शन की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी १९८३
सीतारमैय्या, बी पट्टाभि (हिन्दी अनु) वेदालंकार वेदराज	गाँधी और गाँधीवाद एक अध्ययन (द्वितीय भाग), शिवलाल एण्ड अग्रवाल कम्पनी, प्रा लि आगरा, १९५९
सूद, ज्योति प्रसाद	: आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, (चतुर्थ भाग), केदारनाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ
सिह, रामजी	: गाँधी दर्शन मीमासा, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना (सम्मेलन भवन) बिहार, प्रथम सस्करण– १९७३
	: समाजदर्शन के मूल तत्व राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८३
त्रिपाठी कमलापति	बापू और मानवता, सरस्वती प्रकाशन, जतनबर, वाराणसी, १९४८

(घ) गाधी जी पर लिखित व अन्य पत्र-पत्रिकाए

- 'गॉधी ज्योति , गॉधी विचार पत्रिका, गॉधी विचार विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर बिहार
- गॉधी विचार', गॉधी विद्या सस्थान वाराणसी, अर्द्धवार्षिक, १९९२
- गॉधी मार्ग , गॉधी शान्ति प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली
- "सस्थाकुल', गॉधी स्मारक निधि (हिन्दी मासिक), नयी दि ल्ली
- दैनिक जागरण , वाराणसी
- 'माया'
- योजना" प्रकाशन विभाग सूचना एव प्रसारण मत्रालय, नयी दिल्ली,
- 'रोजगार समाचार', प्रकाशन विभाग, सूचना एव प्रसारण मत्रालय नई दिल्ली

(ड) प्राचीन ग्रन्थ

अथर्ववेद	भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, रामलीला मैदान, दिल्ली
	जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर
अथर्ववेद	सायण, तृतीय भाग, विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९६०
अष्टाध्यायी	पाणिनि, सम्पादक श्रीषचन्दवश, वा प्रथम एव द्वितीय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, रीप्रिन्ट १९९२
ऋग्वेद	भाष्य, सायण, एस आर सर देसाई, वैदिक सशोधन मण्डल, तिलक स्मारक मन्दिर, पूणा, १९२८
	स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
	जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर
ऐतरेय ब्राह्मण	सायण भाष्य, विनायक गणेश आप्टे, आनन्द आश्रम मुद्राणालय, १९३१ सम्पादक – अनुवादक सुधाकर मालवीय तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, १९८०
बाल्मीकीय रामायण	सम्पादक पण्डित शिवराम शर्मा वशिष्ठ, चौखम्बा, वाराणसी, १९७७
	अनु जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रकाशक गोविन्दराम हसानन्द दिल्ली, १९८३

अनु खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशक–श्री वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई

मनुस्मृति — मनु मेधातिथि रचित स ·गा·ाथ झा परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली खण्ड १ एव २

महाभारत — सम्पादक दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड १९६६

अनु रामनारायण दत्त, गीताप्रेस, गोरखपुर स २०२४

शतपथ ब्राह्मण — सपा पण्डित रामनाथ दीक्षित चौखम्बा सस्कृत सस्थान द्वितीय सस्करण, वाराणसी स २०४०

श्रीमद् भगवतगीता — गीताप्रेस गोरखपुर

डॉ राम मनोहर लोहिया द्वारा लिखित पुस्तको, भाषणो, लेखो एव पत्रो की सूची

लोहिया राम मनोहर — Marx, Gandhı and Socialısm - Nav Hınd Prakashan, Hyderabad, 1963

Fragments of a worlk Mınd - Maıtrayanı, 10- C Calcutta, 1952

Guılty Men of Indıa's Partıtıon- Kıtabıstan, Allahabad, 1960

Indıa, Chına and Northern Frontıers - Nav Hınd Prakashan, Hyderabad, 1963

The Mystery of Sır Staffard Crıpps, Padma Publıcatıon, Bombay, 1942

Wheel of Hıstory, Nav Hınd Publıcatıon, Second Edıtıon, Hyderabad, 1963

Will to Power-Nav Hınd Prakashan, Hyderabad, 1956

Note and Comments, Vol I and II, Ram Manohar Lohıa Samta Vidhyalaya Nyas, Hyderabad, 1975

Aspects of Socıalıst Polıcy - Socıalıst Party Publıcatıon, Bombay, 1952

Foreıgn Policy - Vishwavidayalaya Press, Mahatma Gandhı Marg, Allahabad, 1963

The Struggle for Civil Liberties - Allahabad Law Journal Press, 1936

India's Stnd, Allahabad Law Journal Press 1936

Whither Communism Director of Socialist Education, Socialist Party Gorakhpur, 1956

Twentieth Russian Congress and Indian Communists, Himmat Jhaveri, 204 New Charni Road, Bombay, 1956

Constituent Assembly Published by Lal Bahadur Shastri, Secretary, U P C C Lucknow, 1936

मर्यान्ति, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९६२

जर्मन सोशलिस्ट पार्टी– समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, १९६२

नरम और गरम पथ – समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९६६

सिविल नाफरमानी सिद्धान्त और अमल, सोशलिस्ट पार्टी, हिमायतनगर हेदराबाद, १९५६

समाजवादी आन्दोलन का इतिहास समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९६६

देश विदेश नीति कुछ पहलू समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १९७०

जाति प्रथा नव हिन्द प्रकाशन, बेगम बाजार, हैदराबाद १९६४

समाजवादी एकता – समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद, १९५६

भारत मे समाजवाद समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६८

. खर्च पर सीमा प्रस्ताव और बहस २१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–७, १९६७

. काचन मुक्ति नव हिन्द पब्लिकेशन्स, बेगम बाजार हैदराबाद, १९५६

ससदीय आचरण काशी विश्वविद्यालय, समाजवादी प्रकाशन हैदराबाद १९५८

: राम, कृष्ण और शिव समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, १९६६

: राग, जिम्मेदारी की भावना अनुपात की समझ समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७१

आजाद हिन्दुस्तान मे नये रूझहान नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद १६६८

समाजवादी अर्थनीति नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद १६६८

समाजवाद की राजनीति नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १६६८

देश गरमाओ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७०

हिन्दू और मुसलमान नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद दिसम्बर १६६३

भाषा नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १६६४

इतिहास चक्र अनुवादक ओकार शरद लोक भारती प्रकाशन महात्मा गॉधी मार्ग, इलाहाबाद, १६६८

२,५०० वीं बुद्ध जयन्ती और हिन्दुस्तान के पढ़े लिखे – समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद, जनवरी १६६०

हिन्द–पाक युद्ध और एका – समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७०

सुधरो अथवा टूटो – समता पिद्यालय न्यास हैदराबाद १६७१

पाकिस्तान मे पलटनी शासन समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद १६६६

निराशा के कर्त्तव्य समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७१

वशिष्ठ और बाल्मीकि – नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १६५६

समाजवादी चिन्तन – नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद, १६५६

सात क्रान्तियाँ – नव हिन्द, प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम सस्करण, १६६६

भारत विभाजन के अपराधी – समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७०

धर्म पर एक दृष्टि नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम मुद्रण, १६६६

प्रधानमत्री मि. नेहरू पर प्रतिदिन पच्चीस हजार रूपये – कौटिल्य प्रकाशन दरभगा, सितम्बर, १८६३

स्वर्गीय समाजवादी नेता डॉ. राम मनोहर लोहिया का रॉची – भाषण, प्रकाशक, अखिल भारतीय जाति–तोड़ो सम्मेलन, समताघर, पटना, १६६८

लोकसभा मे लोहिया भाग–१ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७१

लोकसभा मे लोहिया भाग –२ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७२

लोकसभा में लोहिया भाग–३ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७२

लोकसभा मे लोहिया भाग–४ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७३

लोकसभा मे लोहिया भाग–५ समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद १६७३

लोकमभा म लोहिया भाग–६ समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७४

लोकसभा मे लोहिया भाग–७ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७४

लोकसभा मे लोहिया भाग–८ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७४

लोकसभा में लोहिया भाग–६ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६७५

लोकसभा में लोहिया भाग–१० समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६७५

लोकसभा मे लोहिया भाग–११ समता विद्यालय न्यास हैदराबाद १६८५

लोकसभा में लोहिया भाग–१२ समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १६८६

लोकतंत्र सविधाम और सरकार बनाम एकतंत्र जुल्म और हिटलरशाही, सयुक्त सोशलिस्ट पार्टी उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित, लखनऊ १६६७

सोशलिस्ट पार्टी का मौजूदा कार्यक्रम, डॉ राम मनोहर लोहिया द्वारा दिये गये भाषण से जनमुख – प्रकाशन, ८ इण्डियन मिरर स्ट्रीट कलकत्ता–३, १६५६

	गॉधीजी का दोष – जन गॉधी स्मृति अक अक्टूबर १९६७
	मार्क्सवाद और समाजवाद – जन अक जून और जुलाई १९७०
	समाजवाद और लोकतत्र – जनवाणी काशी विद्यापीठ वाराणसी जुलाई १९५०
	भारत माता पृथ्वी माता, काशी बनाम हिन्दू – जन फरवरी, १९६६
केलकर इन्दूमति	लोहिया सिद्धान्त और कर्म, नव हिन्द प्रकाशन हैदराबाद १९६३
,मधुलिमये	स्वतत्रता आन्दोलन की विचारधारा, पल्लवन प्रकाशन, क्यू २२ नवीन शाहदरा, १९८३
	चौखम्भा राज्य, एक रूप रेखा, समता प्रकाशन कलकत्ता १९७३
	लोहिया के बगैर भारत, रविवार मार्च, १९८५
	लोकसभा लोहिया के बिना – जन दिसम्बर १९६७
दीपक ओम प्रकश	लोहिया असमाप्त जीवनी, समता अध्ययन न्यास जय प्रकाश नगर गोरे गॉव पूर्व बम्बई, १९७८
	"नई सभ्यता का सपना' लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, लोहिया स्मारिका समिति, सी–२ पार्क रोड, लखनऊ, १९८४
आचार्य नरेन्द्र देव	राष्ट्रीयता और समाजवाद, ज्ञान मण्डल लिमिटेड बनारस, बसत पचमी, सवत् २००६
ठाकुर कृष्ण नन्दन	डॉ राम मनोहर लोहिया के आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक विचार, एस चन्द एण्ड कम्पनी लि रामनगर, नई दिल्ली, १९७६
शरद ओकार	"लोहिया" – रजना प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७
	"लोहिया के विचार" – लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६
वर्मा र[illegible]ीकान्त	"लोहिया" – रश्मि प्रकाशन, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद १९६८
कृष्णनाथ	"सत्याग्रह" – लोहियावादी साहित्य विभाग, श्री विष्णु आर्ट प्रेस, चक, इलाहाबाद–३, १९६६
वर्मा वी पी	आधु भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, प्रथम सस्करण जुलाई–१९७१

डॉ राम मनोहर लोहिया पर अन्य विद्वानो एव राजनेताओ के लेख

वर्मा श्रीकान्त	लोहिया के बगैर भारत, रविवार मार्च १६८५, आनन्द बाजार प्रकाशन ६ तथा ६ प्रफुल्ल सरकार स्ट्रीट कलकत्ता।
रेड्डी नीलम सजीव	'राम मनोहर लोहिया' जन अक, मार्च १६६६
मिश्र रामानन्द	"लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व लोहिया स्मारिका समिति, पार्क रोड लखनऊ
बाहरी डॉ हरदेव	डॉ लोहिया का नारा "अग्रेजी हटाओ जन, डॉ लोहिया विशेषाक २४ मार्च, १६७८, प्रताप भवन ५, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली

पत्रिकाऐ

१ हरिजन २ जनता, ३ सघर्ष, ४. चौखम्भा, ५ जन,
६ मैनकाइण्ड ७ दिनमान, ८ धर्म युग ६ रविवार १० लिक,
११ वीकेन्ड रिव्यू

उपाध्याय दीनदयाल

उपाध्याय दीनदयाल	अखण्ड भारत और मुस्लिम समस्या जागृति प्रकाशन, नोएडा गाजियाबाद उ प्र, १६६२
	जगदगुरू श्री शकराचार्य लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
	दो भागों मे पूना – १६३५–३६
	भारत चिति आर्थिक लोकतत्र विशेषाक लखनऊ, १६७६
	भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १६८०
	राष्ट्र जीवन की दिशा लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, १६७६
	राष्ट्र चिन्तन राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ स २०२६
	सम्राट चन्द्रगुप्त लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
	हिन्दू सस्कृति की विशेषता लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
डॉ सम्पूर्णानन्द	अधूरी क्रान्ति – लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

: अथर्ववेद सपादक – आर रौथ और डब्ल्यू डी ह्विटने, बर्लिन, १८५६, सपादक – श्री याद शर्मा, औधनगर, १६३८

डॉ शोभाशकर — आधुनिक भारतीय समाजवादी चिन्तन साहित्य भवन (प्र) लिमिटेड, इलाहाबाद, १६८०

शर्मा महादेव प्रसाद — आधुनिक राजनीति के विभिन्नवाद चैतन्य पब्लिशर्स हाउस इलाहाबाद १६६५

सिन्हा रमेश (स) — आधुनिक पूजीवाद इण्डिया पब्लिशर्स, लखनऊ, १६५२

शास्त्री चिन्नस्वामी (स) — आपस्तभ धर्मसूत्र बनारस, १६३२

आर्गनाइजर जनसघ विशेषाक १६५६

उपनिषद उपनिषद निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गीता प्रेस गोरखपुर। वृहदारण्यक उपनिषद, छान्दोग्य उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद

कुलकर्णी श्री शरद अनन्त — एकात्म अर्थनीति सुरूचि प्रकाशन, केशव कुज झडेवाला नई दिल्ली १६६१

एकात्म मानववाद दीनदयाल उपाध्याय, जागृति प्रकाशन, नोएडा गाजियाबाद, उ प्र १६६१

प दीनदयाल उपाध्याय विचार– दर्शन, खण्ड ४, एकात्म अर्थनीति सुरूचि प्रकाशन, केशव कुन्ज झडेवाला, नई दिल्ली, १६६१

ठेंगड़ी श्री दत्तोपन्त — एकात्म मानव दर्शन श्री मा स गोलवलकर, प दीनदयाल उपाध्याय, सुरूची प्रकाशन, नई दिल्ली, १६६१

आप्टे हरिनारायण, (स) — कौटिल्य अर्थशास्त्र आनन्दाश्रय मुद्रणालय, बम्बई, १६१०

उपाध्याय हरिभाऊ, (स) — गाँधीवादी – समाजवाद हिन्दी प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद, १६५३

नेने विनायक वासुदेव — प दीनदयाल उपाध्याय विचार– दर्शन, खण्ड–२, एकात्म मानव दर्शन सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली।

केलकर मालचन्द्र कृष्णा जी — प दीनदयाल उपाध्याय विचार–दर्शन खण्ड–३, राजनीतिक चिन्तन, सुरूचि प्रकाशन नई दिल्ली १६६०

प मिशीकर . प दीनदयाल उपाध्याय विचार–दर्शन, खण्ड ५, राष्ट्र की अवधारणा सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली

जोग बलवत नारायण • प दीनदयाल उपाध्या विचार दर्शन, खण्ड ६, राजनीति राष्ट्र के लिए सुरूचि प्रकाशन, १६६१

देवधर विश्वनाथ नारायण — प दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड ७, व्यक्ति दर्शन सुरुचि प्रकाशन १९९१

डॉ देवराज — भारतीय सस्कृति एन के प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९६१

वीर सावरकर — भारतीय इतिहास के छ स्वर्णिम पृष्ठ, भाग १ २ ३ एव हिन्दुत्व लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

हिन्दुत्व

ठाकुर श्री रविन्द्र नाथ — भारतीय समाज जीवन और आदर्श लोकहित प्रकाशन लखनऊ

तिलक बाल गगाधर — भगवद्गीता रहस्य पूना, (हिन्दी सस्करण) १९५०

आप्टे बाबा साहब — भारतीय समाज चिन्तन जागृति प्रकाशन गाजियाबाद

हमारे राष्ट्र जीवन की परम्परा जागृति प्रकाशन, गाजियाबाद

दिनकर रामधारी सिह — सस्कृति के चार अध्याय दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स १९५६

स्वदेश चिन्तन पु ग सहस्त्रबुद्धे लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

सघ दर्शन मा स गोलवलकर, जागृति प्रकाशन नोएडा गाजियाबाद उ प्र

सुक्तिया एव सुभाषित स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण आश्रम नागपुर १९७२

हिन्दू राज्य—बलराज मधोक, वैचारिक विकल्प प्रकाशन, नई दिल्ली १९८३

हिन्दुत्व बालगगाधर तिलक, (चितमय जगत) में जनवरी १९५१ मे प्रकाशित लेख

Economic Policy resolutions of B J S Published by B J S, Bombay, April, 1964

: Elements of Sociology F J Wright

Easteran Religions and westerns Thaught, 5, Radhakrishan, Oxford University Press, London, 1940

Gandhi, Lohia, Deen Dayan Edited by P Parameshwarm, Deen Dyal Research Institute New Delhi, 1978.

. On India and here problem · Swami Vivekanand Advaita Ashram Almoda.

The complete works of Swamı Vıvekananda 8 Vol (Advaıta Ashram, Almoda)

The lıfe and phılosophy of Tılak VP Verma, Agra LN Agrawal, 1978

The problem of Freedom M N Rama

१ दीनदयाल उपाध्याय के बौद्धिक वर्गों की पञ्जिका दीनदयाल शोध सस्थान नयी दिल्ली

२ दीनदयाल उपाध्याय के बौद्धिक वर्ग की पञ्जिका, श्री चमनलाल केशव कुज झण्डेवाला नयी दिल्ली।

३ पाञ्चजन्य साप्ताहिक की पञ्जिकाए, तत्कालीन सम्पादक श्री तरूण विजय से प्राप्त, नयी दिल्ली।

४ दीनदयाल शोध सस्थान मे सुरक्षित उपाध्याय की स्वहस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ।

पत्र पत्रिकाए

१ राष्ट्र धर्म, मासिक, लखनऊ।

२ तरूण भारत, लखनऊ।

३ पाञ्चजन्य, साप्ताहिक, दिल्ली।

४ आर्गेनाइजर अग्रेजी दिल्ली।

५ वन्देमातरम्।

६ कल्याण।

७ हिन्दुस्तान टाइम्स ।

८ स्वदेश, लखनऊ।

९ प्रज्ञा, हीरक जयन्ती विशेषाक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका।

१० सन्देश (उत्तर प्रदेश सरकार), दीनदयाल उपाध्याय विशेषाक वर्ष १ सितम्बर १९९१